शोध पत्रिका

वर्ष २४

अङ्क १

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

शोध पत्रिका के बारे में—

१ पत्रिका का प्रकाशन वर्ष में चार बार होता है—[क] जनवरी–मार्च [ख] अप्रेल–जून [ग] जुलाई–सितम्बर [घ] अक्तूबर–दिसम्बर।

२ लेख की पांडुलिपि कागज के एक ओर टंकित या सुपाठ्य लिखी होनी चाहिए।

३ लेख प्राप्ति, स्वीकृति, अस्वीकृति की सूचना एक माह के भीतर दे दी जाती है।

४ लेख प्रकाशित होने पर लेखक को पत्रिका के सम्बन्धित अङ्क की एक प्रति और लेख के बीस अनुमुद्रण दिये जाते हैं।

५ पत्रिका में समीक्षा के लिये पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है।

अतिरिक्त संचालक, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा, राजस्थान, बीकानेर के परिपत्र[क्रमांक–ई डी बी/स० शि०/साधा०/डी/जी/ १/ विशेष /६५–६६, [दिनांक २२-३-६६ द्वारा] उच्च, उच्चत्तर व बुनियादी शिक्षण–प्रशिक्षण विद्यालयों तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

शोध पत्रिका

वर्ष २४, अंक १
जनवरी–मार्च १९७३

सम्पादक
डॉ० शान्ति भारद्वाज 'राकेश'
देव कोठारी

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, भाषा,
दर्शन, कला व संस्कृति की त्रैमासिक अनुसंधानिका

एक अंक का मूल्य : तीन रुपया

वार्षिक | देश में— दस रुपया
विदेश में— पन्द्रह रुपया

साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ,
उदयपुर

विषयानुक्रम

लेख	पृष्ठ	लेखक
अनुसन्धान का क्षेत्र (संपादकीय)	१–४	डॉ० शान्ति भारद्वाज 'राकेश'
भारतीय मंदिरों का स्रोत एवं उनका विकास क्रम	५–१५	डॉ० रामन नायर
काव्यशास्त्र की परम्परा और सूरति मिश्र का चिन्तन क्षेत्र	१६–२३	डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
प्राचीन भारत में पुरोहित	२४–३१	डॉ० भगवतीलाल राजपुरोहित
मेवाती बोली का प्रामाणिक व्याकरण	३२–४८	डॉ० महावीर प्रसाद शर्मा
हुरड़ा में पूर्व राजपूत राजनीति एवं सम्मेलन	४९–५५	श्री जमनेशकुमार ओझा
रसिक सम्प्रदाय के प्रमुख कवि और उनकी अज्ञात रचनाएं	५६–६७	डॉ० गजानन मिश्र
शोध सामग्री : सर्वेक्षण		
देवर्षि कृष्ण भट्ट रचित श्रृंगार रस-माधुरी	६८–८२	डॉ० कृष्णकुमार शर्मा
खान कवि कृत मोहन मोहिनी री वार्ता–एक खोज	८३–९२	श्री कुन्दनलाल जैन
अन्य		
डिंगल गीतों की अनुक्रमणिका	२२१–२३२	क्रमशः

अनुसन्धान का क्षेत्र

अनुसन्धान और शोध का क्षेत्र भी अब अनुकरण की ही राह पर बढ़ने लगा है। जब हम, स्वयं अपने स्तर पर, दिशाभ्रम या लक्ष्यहीनता के शिकार होते हैं तो समाधान खोजने के नाम पर हम पड़ोसियों द्वारा अर्जित सिद्धियों का ही अन्धानुकरण करने लगते हैं। अनेक विदेशी ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों तथा प्रक्रियाओं को अपना कर ही जैसे हम नया कुछ दे पाने में समर्थ हो सकते हैं। हमारी यही मूलभूत दुर्बलता कुछ प्राप्त कर सकने की सम्भावनाओं को प्रारम्भ में ही समाप्त कर देती है।

ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी हम इस अन्धानुकरण के बुरी तरह शिकार रहे हैं और फलस्वरूप अनेक शास्त्रों के वास्तविक स्वरूप को भी काफी दूर तक विकृत कर चुके हैं, लेकिन जब शोध और अनुसन्धान के क्षेत्र में भी नये प्रयोगों के संकटों से घबराकर हम उसी राह पर चलने लगें, तो पुनरुत्थान की हर संभावना के नष्ट हो जाने की स्थिति प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो जाती है।

यही कारण है कि अनुसन्धान और शोध का क्षेत्र भी अब रूढ़ हो गया है। हमारी संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व और लोक साहित्य से सम्बन्धित शोध कार्य की प्रक्रिया में भी हमारा ध्यान अपनी भूमि के वैभव पर कम, विदेशी

विशेषज्ञों के भारी भरकम ग्रन्थों पर अधिक जाता है। कई बार उनकी पृष्ठभूमि और परिस्थितियां हम से सर्वथा भिन्न होती है। इसीलिये उनके निष्कर्ष भी हमारे लिये मार्ग दर्शक तत्त्वों का काम नहीं दे पाते। अतः शोध और अनुसन्धान का क्षेत्र आज नई प्रेरणाएं जगाने के दायित्त्व से पिछड़ता जा रहा है। विश्वविद्यालयीय स्तर पर भी नपे-तुले रास्ते स्वीकार कर लिये गये हैं और अधिक से अधिक संदर्भ जुटा लेने को ही शोध कार्य की उपलब्धि गिना जा रहा है।

नये तथ्यों की खोज नये मार्गों पर ही होती है। शोधार्थी का पथ स्वयंनिर्मित ही होना चाहिये, लेकिन न नये शोध कर्मी ही इस दिशा में उत्साहशील दिखाई देते हैं, न उनके पथदर्शकों द्वारा ही ऐसी प्रेरणाएं जगाई जाती हैं।

देश और मानवता की अनेक समस्याओं के समाधान तथा अनेक अपेक्षित सिद्धियों के वरण के लिये हमें स्वयं अपने परिवेश के अन्तर्जगत को टटोलना होगा। जीवन से सीधा साक्षात्कार करके ही हम अपने अतीत और अपने वर्तमान के सही सम्बन्ध-सूत्रों का उद्घाटन कर सकेंगे। तब हम जो कुछ प्राप्त करेंगे, वही हमारी वास्तविक उपलब्धि होगी। वही अभियान हमारे भावी कार्यक्रम की सबल प्रेरणा बनेगा और उसी मार्ग पर चलने से हमारे अनेक शास्त्रों को विकास के नये क्षितिज सुलभ हो सकेंगे।

डॉ० शान्ति भारद्वाज 'राकेश'

डॉ० रामन नायर

भारतीय मंदिरों का स्रोत एवं उनका विकास क्रम

सहस्राब्दियों के परिवर्तन तथा परिवर्द्धन के पश्चात् पुरातन रेखाओं का सीमा निर्धारण और नवीन अन्वेषण असंभव नहीं तो भी कठिन अवश्य है। देवालयों के उद्‌भव और विकास का इतिहास भी काल के प्रवाह में पड़कर जब धुंधला सा दृष्टिगत होता है तो उनका स्रोत ढूंढ़ निकालना कितना दुष्कर कार्य होगा, यह अनुमाननीय है। किसी भी देश में अनेक जाति तथा वर्ग के लोग जब घुल-मिल जाते हैं तो सांस्कृतिक एवं सामाजिक योग-दान संभव होता है। भारतवर्ष में हजारों वर्षों से कई धर्म, जाति, वर्ग, रंग और संस्कार के लोग आये और उनके मिलने-जुलने से पारस्परिक आदान-प्रदान का कार्य सपन्न हुआ। जहाँ तक इतिहास-ज्ञान की सीमा है आर्येतर जन ही यहाँ की प्रथम संस्कृत चित जनता सिद्ध होते हैं। उनके यहाँ मूर्ति-पूजा की प्राचीन प्रथा थी। अनुमानतः ईसा से चार हज़ार वर्ष पूर्व भारत में देवमंदिर थे और मूर्तिपूजा का विधान भी प्रस्तुत था, इसका उल्लेख मिलता है। सगुण और निर्गुण भक्ति का आन्दोलन भी आर्येतर जनता का उपादेय सिद्ध हुआ है। "भक्ति दक्षिण उपजी" वाला कथन अब सर्वसम्मत हो गया हैं। संस्कृत के पुराणकाल से बहुत पहले दक्षिण में भक्ति-संप्रदाय की परंपरा प्रचलित थी। दक्षिणी शैव-भक्ति तथा वैष्णव-भक्ति की परंपरा अवश्य संस्कृत भक्ति-परंपरा से प्राचीन तथा संस्कृत-भक्ति-परंपरा के लिए सहायक रही है। नायनार और आलवार भक्त इस पूर्व परंपरा की शृंखलायें हैं। प्रकृति की अनेक शक्तियों की आराधना का क्रम भी आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ परि-लक्षित होता है। प्राचीन द्राविडों ने भौगोलिक परिस्थिति की विशेषता को लक्ष्य बनाकर देश को कुरिंचि (पार्वत्य देश) मुल्ले (पर्वत और तराई के बीच का भाग) मरुतं (नदी-मुख का समतल) नेय्तल (समुद्र तीर) और पाले (मरुभूमि) नामक पांच भागों में विभक्त किया है। इन देशों के देवता हैं क्रमशः मुरुकन (शेयोन), मायोन, इन्द्र, वरुण एवं कोट्रवै है।[1] वे प्राकृतिक देवता थे और आज उनको आर्य-देवताओं का पर्याय माना जाता है। शेयोन या मुरुकन ही सुब्रह्मण्य है, मायोन विष्णु है तथा कोट्रवै काली कही गयी है। इसका कारण यही सिद्ध होता है कि आर्यों के उपनिवेश से लेकर पुराण एव तंत्र साहित्य का प्रभाव दक्षिण में भी हुआ और आर्यो के पूजा-क्रम एवं देवता के नाम का प्रचार दक्षिण के देवालयों में भी होने लगा। इसमें रचमात्र भी आश्चर्य की बात नहीं कि सहस्राब्दियों के संपर्क से आर्य और आर्येतर देवों और देवमंदिरों का मौलिक स्वरूप-विधान नष्टप्राय सा हुआ और

---

१ केरल साहित्य चरित्रम्, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, अ ५, पृष्ट-४५

संश्लेषण की मात्रा बढ़कर सम्मिश्रण का आधिक्य हुआ और उसका विश्लेषण असंभव सा हो गया। यहाँ तक यही है कि भारतीय मंदिरों का स्रोत एवं विकास केवल आर्यतांत्रिक सिद्धान्तों से ही संपन्न हुआ है या आर्येतर स्वरूप विधान भी इसमें संकलित है? अगर आर्येतर अंश है ही तो वह किस कोटि का है और कहाँ तक वह प्राचीन है? आधुनिक मंदिरों की दशा के निदान क्या-क्या हो सकते हैं?

भारतीय मंदिरों एवं मूर्तियों में आर्येतर संस्कृति का समावेश अत्यन्त हुआ है। प्रसिद्ध केरल साहित्य के इतिहासकार उल्लूर एस. परमेश्वर ऐयर का विचार है कि द्राविड़ आर्य-सपर्क के पूर्व कौन-कौन देवता दक्षिण में थे, उनमें किन-किन को आर्यों ने परिष्कृत बनाया, यह कहा नहीं जा सकता। पर निस्सन्देह पुराण-काल के हिन्दू-धर्म में द्राविड़-धर्म के कतिपय अंश अवश्य जुड़े हैं।[1] अब भी आर्येतर संस्कृति के वे चिन्ह यत्र-तत्र दिखायी पड़ते हैं। यद्यपि वे केवल खंडहर रह गये हैं तो भी वे अपने अन्यून प्राचीन उत्कर्ष का शंखनाद कर रहे हैं। केरल, तमिलनाडु, मैसूर तथा आन्ध्र के मंदिरों की आकृति प्रकृति तथा उनका पूजा-क्रम उत्तर से बहुत भिन्न है। उनमें आर्येतर मुद्रा का अंश अंकित है। आसाम एवं काश्मीर की पूजाविधियों में और मंदिरों के स्वरूप में भी आर्येतर भव्य भाव दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों का अनुमान है कि जैन-चैत्यों और बुद्ध विहारों, स्तूपों का परिणत रूप ही सारे भारतीय मंदिर हैं। एक सीमा तक उनका अनुमान भी वास्तविक है। क्योंकि दक्षिण के कुछ मदिर स्तूपों के आकार के अनुकरण हैं। लेकिन यहां बहुत ऐसे मंदिर भी हैं जो कुटीर लतानिकुंज, वृक्षवेदिका और श्मशान वेदी हैं जिनमें बौद्ध, जैन या आर्य-प्रभाव का लेशमात्र स्पर्श नहीं है। शून्यता पर बने इन आराधना-स्थानों के न उत्तुंग स्तूप या गोपुर है या बृहदाकार आलय निर्मित हुए हैं, यद्यपि ये मदिर केरल तथा दक्षिण भारत में सार्वजनिक एवं कौटुंबिक आराधना के पवित्र स्थान हैं। अब्राह्मण लोग ही इन देवस्थानों की पूजा में अधिक मात्रा में लगे हुए हैं।

आर्येतर देवताओं में चुटलै माटन, वेताल, भैरव या शिव कोट्टवै (आज वही काली या देवी है) शेयोन या मुरुकन (सुब्रह्मण्य) और अय्यनार (वही अब शास्ता या बुद्ध माना गया है)। प्राचीन एवं आर्येतर संस्कृति के हैं।[2] इनकी पूजा का विधान ही प्राचीनतम माना जा सकता है। प्राचीन शिव-मंदिरों का उद्गम स्थान "चुटलै" या श्मशान है। चुट्टु-काडु या चुटलैकलं (श्मशान) में मृतक के दाह-कर्म के बाद एक स्तूपाकृति का पत्थर रखा जाता था जो बाद में लिंगम् कहलाया गया। आज भी दक्षिण के श्मशानों में ऐसे कई

---

१ केरल साहित्य चरित्रम्, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण अ ५ पृष्ठ. ४५

२ केरल साहित्य चरित्रम् प्रथम भाग, प्रथम संस्करण अ ५ पृ० ४५

लिंगम् कोई भी साधारण यात्री देख सकता है[1] जो मसजिदों के या गिरजाघरों के पत्थर अथवा स्मृति चिन्ह नहीं हैं। महाभारत अनुशासन पर्व के १८१ अध्याय में शिवजी की उद्घोषणा है कि मेरे लिए श्मशान से बढ़कर हृदयंगम दूसरा स्थान नहीं है।.................. इसलिए वही मेरा पवित्र आवास है। वही मेरा स्वर्ग है। शिवालयम् का अर्थ भी श्मशान है।[2] इस श्मशान देवता के विकास क्रम की कई दक्षिणी रेखायें हैं जिनका अनुषंगिक प्रतिपादन भी आर्य रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता। नवीं शताब्दी ईसवी के एक प्रमाण से पता चलता है कि चोल राजा राजादित्य ने अपने पिता की चिता के स्थान पर एक देव-मंदिर की स्थापना की थी। चोल सम्राट आदित्य प्रथम तथा चोलेश्वर राजराज प्रथम ने भी ऐसे मदिरों की स्थापना की है।[3] श्मशानों में मंदिर बनाने की प्रथा आज भी कम्मालर, वेल्लालर, जान्द्र आदि जातियों में प्रचलित है। निर्धन लोग चिता स्थान में एक लिंगम की प्रतिष्ठा करते हैं जो शिवजी का लघुतम परिनिष्ट रूप माना जाता है। इससे अद्‌भुत कार्य यही है कि नीलगिरी के तोड़ा लोग मृतकों का दाह-कर्म पत्थरों के ढेर से बनाये हुए एक गोलाकार स्थान में करते हैं।[4] आंध्रदेश में भी कई स्थानों में ऐसी रीति चलती है। तोड़ा लोग उन्हीं गोलाकार स्थानों में पूजा का कार्य भी शुरू करते हैं। चिता स्थान में एक ओर वे एक काले पत्थर की प्रतिष्ठा करते हैं और उसकी वन्दना करते हैं। मृत पूर्विकों के प्रति उनका आदर ही इस प्रकार प्रकट किया जाता है। इन स्थानों को वे "आजारं" कहते हैं। इन्हीं आजारं से भविष्य में मदिरों का रूपविधान हुआ है। यही निर्णय समीचीन सिद्ध होता है। इस निर्णय के और भी उपपत्ति प्राप्त हैं। नीलगिरी के कुरुम्बा लोग गोलाकृति के एक पत्थर की पूजा करते हैं। वे इसे लिंग नहीं कहते यद्यपि वे शैव कहलाते हैं।[5] तोडा लोग भी ऐसे ही पत्थर को अपने इष्टदेव "बोत" कहकर पूजा करते हैं। उसमें इतना अंतर है कि उसके ऊपर एक स्तूपाकृति की दीवारों पर बसा है। ऐसे मंदिरों के चारों तरफ पत्थर के टुकड़ों को कतार में रखकर दीवार खडी की गयी है।[6] केवल पुरुषों के दाह-कर्म के समय चिता-स्थान में पत्थर रखने और उसकी पूजा करने का विधान है। इससे प्रमाणित होता है कि पहले केवल पत्थर रखकर मृतक की आत्मा का संकेत करके पूजा की जाती थी और पीछे उसे 'लिंगम" का अभिधान प्राप्त हुआ था।

---

१ केरल साहित्य चित्रम् प्रथम, भाग प्रथम संस्करण अ ५ पृ. ४५

2 An Essay on the origin of the South Indian Temple—
Dr. V. Ramanyya.

३ संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे—संस्करण १९६६, पृ. ११३६

4 H. Krishna Sastri-Report of Arch. Survey Southern Circle-1915-16

5 J. W. Breeks–The Premitive tribes of Nilgiris, p-96-97

6 William E. Marshall–A Phrenologist Amongst the Todas, p. 163

इस पत्थर या "कल्लु" को लिंगम् कहने की रीति बाद को ही हुई होगी। कोटुंगल्लूर नामक प्रसिद्ध केरल के स्थान का संस्कृतीकरण यहां विचारणीय है।

कोटु+कल्लु+ऊरु—कोटुंगल्लूर
कोटी+लिंग+पुरं—कोटिलिंगपुरं[1]

इसमें कल्लु को संस्कृत में लिंगम् कर दिया गया है। इसका तात्पर्य यही है कि दक्षिण श्मशानों में प्रतिष्ठित कल्लु ही बाद में लिंगम बने और श्मशान देव के प्रतीक हुए। शिव का रूप-विकास इसी से हुआ समझना चाहिए और वही आर्येत्तर शिव बाद में वैदिक रुद्र के तथा बाद की शिवाकृति की कल्पना के अनुरूप बना होगा। प्रकृत विषय के संबंध में और भी प्रमाण प्रस्तुत हैं। शिव तो क्षेत्रपाल माने जाते हैं। उनका स्थान प्रधान मंदिर के बाहर ही माना जाता है। क्षेत्रपाल और भैरव के तीन नेत्र वाले विग्रह भी पाये जाते हैं। उनका स्थान भी प्राचीन मंदिरों के बाहर ही माना जाता है। क्षेत्रपाल और भैरव के तीन नेत्रवाले विग्रह पाये जाते हैं।[2] इसका यही आशय है कि आर्य जाति आर्येत्तर शिव को बहुत समय तक अपने देवों के बीच समुन्नत स्थान देने के लिए तैयार नहीं थी, इसलिए निम्न कोटि की समझकर उसको दूर प्रतिष्ठित करने की सम्मति दी गई होगी। केरल में भी चिता में तीन आंख वाले नारियल के पक्व फल को लगाने की रीति है। वही बाद में उगकर चुटले तेंगु (श्मशान के नारियल का पेड) बनता था। इसमें भी तीन नेत्र वाले शिव का ही संकेत माना जाना चाहिए। शिवाजी के आराधकों की संख्या और शिव-पूजा की प्रधानता देखकर ही बाद में आर्यों ने उन्हें प्रमुख देवता और वैदिक रुद्र का पर्याय समझा होगा। इसी प्रकार डक्कन और पश्चिमी भारत के कुछ लोग चिता के चारों तरफ गोल पत्थरों की चहार-दीवारी ही नहीं बनाते अपितु वर्तुल चहार-दिवारी के अन्दर अपने इष्टदेव बेताल की प्रतिष्ठा कर उसकी पूजा भी करते हैं। अब वह बेताल शिवजी का अवतार बन गया है।[3] बेताल मूर्ति के ऊपर स्तूपाकृति के आलय का निर्माण भी किया जाता है। इसी भांति नीलगिरी के इरूल लोगों के ऐसे दो मंदिर रंगस्वामी पर्वत में हैं। वहां के देव 'रंगचामी' हे जो आर्येत्तर देव थे परन्तु अब आर्य-प्रभाव से विष्णु के अवतार-पुरुष बने हैं। इन प्राचीन मूर्ति गृहों के उदाहरण से हम आगे अनुमान कर सकते है कि इन्हीं के आधार पर भविष्य में श्रीचक्र की नींव पर बने कई आर्य मन्दिर का निर्माण क्रम शुरू हुआ है। वैसे भारतवर्ष के अनेक या अधिकतर मंदिरों का आधार खंड श्रीचक्र

---

१ वंट्टं माणि—पुराण निघंटु—भाग दो, पृष्ठ-१६

२ अग्निपुराण, अध्याय–५१

3 Stevenson–J.R.A.S. Vol–V. P–192-195

है ।[1]समय-प्रवाह में इसमें भी परिवर्तन आये और षड्कोण एवं चतुष्कोण गर्भगृह मंदिरों की सविशेषता हो गया ।

हमारे पूर्विक श्मशान में मृतकों की आत्मा से भयभीत होकर उनको संप्रीत करने के मार्ग ढूंढ़ने लगे । इसके फलस्वरूप उन मृतकों के पूजाक्रम का आरम्भ हुआ । मृतकों को तृप्त करने के लिए वे कई प्रकार की वस्तुएं भी चिता-स्थान या अस्थिमाटं (अस्थि वेदिका) पर अर्पित करते आये । पशु–पक्षी की बलि भी इन आत्माओं को सतुष्ट करने के उद्देश्य से की जाती थी । बहुधा उन्हें विशिष्ट भोजन भी देने की प्रथा चली आयी । ताड़ या नारियल की मदिरा (ताड़ी या कल्लु) भी उन्हें पीने के लिए दी जाती थी । अतृप्त इच्छाओं के साथ मरे लोगों का प्रेत या पिशाच-रूप जीवित मनुष्यों को अनेक आपत्तियां पहुंचाता है। यही उनका विश्वास है । केरल में कई जातियों में आज भी यह रिवाज है । असभ्य जातियों में यह रूढ मूल विश्वास पर आधारित अनुष्टान हो गया है । केरल के लोग मृतक की संचित अस्थियों को एक घड़े में रखकर घर के दक्षिण भाग में अस्थिमाटं या अस्थिकुटीर बनाकर उसमें रखते हैं और उसमें नित्यप्रति दीप जलाते हैं । विशेष त्योहारों के दिनों में एक निर्जन कमरे में इन्हीं मरे लोगों को प्रथमतः दावत दी जाती है, बाद में घर के लोग भोजन करते हैं ।

श्मशान से सम्बन्धित देवस्थान के समान एक देवालय का रूप सर्पपूजा के क्रम में पाया जाता है । आसाम के नागा–लोगों तथा केरल के हिन्दुओं में सर्प–पूजा प्रचलित है । केरल में सर्पकावु या सर्प-पूजा का स्थान प्राचीन काल में हर हिन्दू घर में था । जमीन के एक कोने में वनराजियों एवं लतानिकुंजों से विभुषित स्थान अथवा "कावु" में तैयार की हुई पत्थर की वेदिका ही सर्पमूर्तियों का आस्थान है । जीवित सर्प जाल भी स्वेच्छा से इन दिनांधकारपूर्ण वनस्थली में रेंग सकते हैं । केरल की जनता का यही विश्वास है । इन वेदिकाओं के ऊपर आलय नहीं बनाया होता । त्योहारों और पर्वों में उस वेदिका के ऊपर नारियल के नवांकुर पत्तों से वितान बनाया जाता है । सर्पों को दूध का अमिष्ट भोजन भी दिया जाता है । सर्प–पूजा का यही कारण रहा होगा कि केरल और आसाम में सर्पों की अधिकता और उनकी पीड़ा बड़ी मात्रा में थी । अतः उनको संतुष्ट करने के लिए सर्प-पूजा का क्रमिक विकास हुआ । केरल पर्वतों से आच्छादित समुद्र तटीय प्रदेश है । यहां सर्पों का आधिक्य देखकर ही आर्यों ने अपने पुराणों में पाताल तथा नाग–लोक का नाम दिया होगा । भारत के अन्य किसी स्थान में सर्प–मन्दिर या कावु की प्रथा नहीं है ।

सर्पाराधना की तरह शक्ति-पूजा भी प्राचीन आर्येतर जाति की पूजा-विधि मालूम होती है । यह प्रकृति–शक्ति प्रकृति–माता के रूप में स्त्रीलिंग सूचक तथा आगे देवी, लोक

---

1 R. Anantha Krishna Sastri–The Bhutas, Pretas and Pisachas, p-19

माता, लोक-कन्या के विभिन्न स्वरूपों में गृहीत हुई होगी। भारतीय किसानों ने अपनी संतान और खेती पर आनेवाले प्राकृतिक महारोगों से भयभीत होकर प्रकृति की अधिष्ठात्री की पूजा अभीष्ट-सिद्धि के लिए शुरु की होगी। यही बाद में ग्रामदेवता के पूजाक्रम की आधार शिला बनी होगी। भारत में अनेक आर्येतर शक्ति के मंदिरों का पता चला है। वे सब देशीय नामों से अभिहित हैं। देवी-पूजा के स्रोत को आर्येतर मानने के अनेक प्रमाण प्राप्त हैं। आर्येतर भारत में एक समय ऐसा था जब देश पर देवी, शक्ति, दुर्गा काली या अम्बा की पूजा प्रचलित रही थी। उनका आर्येतर नाम भी था। किन्तु आर्य संस्कृति के प्रवाह में वे सब देवियां एक ही गोत्र की या बहुत से आर्य-देवों से सम्बंधित गिनी जाने लगीं। वे सब अब किसी आर्य देव की पत्नी, बहन या कन्या होकर विराजमान हैं। प्राचीन तमिल संस्कृति में प्रतिपादित "कण्णकी" अब मीनाक्षी बन गयी है। द्राविड़ "मकम्मा" भी वैष्णव देवी हो गयी है। विजयवाड़ा की "कनक दुर्गम्मा" नेल्लूर की "पोडिलम्मा" तमिलनाडु की "मारियम्मन," कलकत्ता की "कालिका" आदि आर्येतर देवियां अब आर्य देवों की दारा-स्नुता बन गई हैं। देवी-पूजा का इतिहास भारत में अत्यंत प्राचीन है। मोहनजोदड़ो और हरप्पा के भूखनन में दो देवी-विग्रह तथा एक शिव मूर्ति प्राप्त हुई हैं। सिन्धु तट संस्कृति आर्येतर-सस्कृति का प्रतीक है। इतनी पुरानी सभ्यता का चिन्ह भारत में कहीं प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए देवी-पूजा की प्राचीनता एवं उसके आर्येतर अंश का पूरा पता चलता है। देवी पूजा के बाद ही शिव-पूजा का प्रचार भारत में हुआ होगा। इस कथन का भी एक तथ्य प्राप्त है। दक्षिण भारत में चिदंबर आज शिवपूजा का केन्द्र है। परन्तु वहाँ पहले कालिका की ही प्रतिष्ठा थी। प्रचलित विश्वास है कि शिवजी ने एक बार नृत्य मे देवी को पराभूत किया और बाहर किया तथा भीतर अपनी प्रतिष्ठा की। कहा जाता है कि उस नगर की सीमा में दिखाई देने वाली देवी इस प्रकार अपने आलय से निकाली हुई है।[1] इस कथा का यही अर्थ हो सकता है कि एक आर्येतर जाति में शिव तथा दूसरी में काली की पूजा का विधान था और जब द्वितीय को प्रथम के हाथ से पराजित होने का अवसर आया तो प्रथम आर्येतर जाति के इष्टदेव की प्रतिष्ठा द्वितीय के आराध्य देवता के स्थान पर हो गयी। देवी-पूजा की प्राचीनता व्यक्त करने वाले और भी प्राक्तन अवशेष अब भी दक्षिण में हैं। केरल और तमिलनाडु में अधिकतर ग्राम-देवता देवियां हैं। ये देवी-मंदिर आज भी आर्येतर स्वभाव को बनाये रखते हैं। इन मदिरों के मध्य में वृत्ताकार 'वट्टबलम' या गर्भगृह में देवी विग्रह है। उसके चारों तरफ चार द्वारों से युक्त कच्ची मिट्टी या पत्थर की दीवार बनायी होती है। प्राचीन केरल के देवी-मंदिरों का यही रूप है। गांवों में भी ऐसे प्राचीन मंदिर अपनी प्राचीनता एवं आर्येतर स्वभाव को स्पष्ट करते हुए स्थित हैं। कई ऐसे देवी

---

१ वट्टं माणि-पुराणी निघंटु भाग-२, पृष्ठ २६-२७

मंदिर (कोबिल, कोयिल या अंबलम्) हैं जहां अब्राह्मण पुजारी ही नित्य पूजा करते हैं। तांत्रिक अभिचारों के प्रभाव के पहले ही इन मंदिरों में पशुबली, मदिरापान आदि की प्रथायें परंपरा से चली आ रही हैं। देवियों के समान दक्षिण के ग्राम-देवताओं में शिव. मुरुकन (सुब्रह्मण्य) गणपति तथा शास्ता भी स्थान लेते हैं। उनके मंदिर भी उपरोक्त रूपविधान के ही होते हैं। देवी-पूजा की प्रधानता और प्राचीनता व्यक्त करने वाली और एक बात यहां दर्शायी जा सकती है। बौद्ध लोग यद्यपि वे मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे तो भी उनमें मूर्ति-पूजा की प्रथा प्रचलित थी। उनकी मूर्तिपूजा की विशेषता यही थी कि केवल बौद्ध विग्रह की ही पूजा वे किया करते थे। वे "हारिति" "यक्षी" आदि देवियों की पूजा करते आये। कौन जाने मैसूर की चामुंडी' और कर्णाटक की 'मूकाम्बा' भी आर्येतर देवी की प्रतिनिधि नहीं रही होगी।

श्मशान देवों तथा ग्राम देवताओं के मंदिर के समान वृक्ष देवता के मंदिर की भी पुरानी परम्परा दक्षिण में है। वृक्ष देवता का संकल्प भी आर्येतर है। विष्णु के लिए 'अश्वत्थ' और शिव के लिए "विल्व" आदि का सम्बन्ध ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने आर्येत्तर वृक्ष-देवता के संदर्भ में कराया अवश्य है। केरल तथा दक्षिण भारत के कई स्थानों में किसी विशेष वृक्ष के नीचे ही ऐसे देवों का आस्थान बनता है। न ईंट-पत्थर का मंदिर उनमें बना होता है न उन मूर्तियों के लिए चहार-दीवारी रची होती है। उनको धूप-शीत से बचने के लिए एक मात्र वृक्ष को घनी छाया प्राप्त है। यक्षी के मंदिर अधिक तर ऐसे ही होते हैं जो यक्षिकावु कहलाते हैं। वह पहले आर्येत्तर "यक्षी' थी, रक्षो वर्ग की प्रतिनिधि थी, पीछे वही स्वर्ग वर्ग की तथा यक्षों की स्त्री मानी गयी है। केरल के यक्षी मंदिर ऐसे आधुनिक आर्य-संकल्प के नहीं हैं। वे पुराने आर्येत्तर प्रतीक अवश्य हैं। वैसे ही 'माटन" ("अस्थिमाट" या "चुटलमाट" के अधीश रहे होंगे) देवता भी वृक्षों की छाया में खुले मैदान में नीरव स्थानों मे एक प्रस्तर खंड के रूप मे पड़े मिलते हैं। उनको भी माटनकावु या माटननटा का नामकरण दिया गया है। देवता का प्रतिनिधित्व एक प्रस्तर खंड मात्र है। शायद यह भी शिवलिंग के पूर्व स्वरूप ही माने जा सकते हैं। "चुटलैमाटन" तो शिवजी हैं ही। दक्षिण में भैरव, वीरन, इरुलन, कारँटेटी नोण्डि, पच-रुली आदि ग्राम-देवता प्रसिद्ध हैं। केरल में देवी का 'भगवती' पर्याय भी प्रख्यात है। तमिलनाडु में मारियम्मन, कालियम्मन द्रौपतियम्मन आदि ग्राम-देवियों को प्रमुख स्थान प्राप्त है। तमिल संघ कृतियों में प्रतिपादित कोट्टरै ही प्राचीनतम आर्येत्तर ग्राम देवी प्रतीत होती है। ग्राम-देवताओं के लिए मूर्तियां विरल ही प्रचलित थीं। स्तूप और मंदिर भी पहले नहीं थे। आर्य-पूजा-क्रम के संयोग से ग्राम-देवताओं की मूर्तियां भी अब बन चुकी हैं। पर विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि केरल के देवालय पुराने "एटटुकैटेटु" (केरल के प्राचीन घर का रूप) के नमूने पर ही रहा करते हैं न कि आर्य मंदिर की मातृका में।

देवस्थान का और भी एक प्रकार है। दक्षिण भारत में अतिप्राचीन काल से वीर पुरुषों अथवा वीरेश्वर की पूजा का क्रम चलता है। द्राविड़ों में मृत पूर्विकों की आराधना प्रस्तुत थी। डॉ० एलमोट का मत है कि द्राविड़ों के अधिकतर देव-देवियां साँस्कारिक मनुष्य आत्मा है जो धरती पर लौटे हैं।[1] विजयवाडा की कनक दुर्गम्मा और लिगम्मा का इतिहास यही सिद्ध करता है। वे दोनों ग्रामीण नारियां थीं जिनकी अपमृत्यु के बाद उनकी आत्मा अपने ग्रामों की जनता को तंग करने लगी। इसी से भयभीत ग्रामीणों ने उनकी आराधना की सुविधा कर दी। केरल में भी प्राचीन हिन्दू घराने में योगीश्वर, योग-मूर्ति, मुनीश्वर, मूर्ति आदि की पूजा होती आ रही है। या तो घर के दक्षिणी कोण में इनकी प्रतिष्ठा होती है या दक्षिण भाग में अलग आलय इनके लिए तैयार किया जाता है। इन देवालयों को "तेक्कतु" अर्थात् दक्षिणी देवालय कहा जाता है। इनमें मूर्ति या 'विग्रह' नहीं रखा जाता। केवल एक पीठ मुख्य रूप से रखा जाता है। उनके ऊपर जपमाला, भस्मपात्र, सोंटा, छड़ी, तलवार आदि रखे जाते हैं। पीठ को गेरुए वस्त्र से सजाया जाता है। यहां प्रतिदिन दीप जलाया जाता है और विशेष पर्वों में उत्सव भी मनाया जाता है। इन देवालयों में प्रतिष्ठित संकल्प-देव उस घर के कोई पूर्व महान व्यक्ति या वीर पुरुष या योगी ही होते हैं। मूर्ति या मंत्र मूर्ति वही छद है जो उस घर का पूर्विक है जिसकी मृत्यु चेचक के रोग से हुई है। ऐसा विश्वास भी प्रचलित है। योगमूर्ति और योगीश्वर दिव्य शक्ति प्राप्त घर के पूर्विकों के ही कल्पित रूप होते हैं। कई ऐसे देवालय वीरों की कलरी या आयुध-विद्या-संकेत रहे थे। इसी कारण तलवार भी पूजा-सामग्रियों में स्थान लेती है। अधिकतर कलरी-आशान (कलरी के गुरू) आयुध-विद्यादाता थे। वे तंत्र और मंत्र के भी आचार्य रहा करते थे। कई ऐसे गुरू योगाचार्य भी होते थे। अपने पूर्व गुरुओं की पूजा वे धूमधाम से करते आ रहे हैं। यह आर्येत्तर पूजा-संप्रदाय आर्य धर्म में भी पश्चात् काल में प्रचलित हुआ होगा। आदि शंकराचार्य के बाद आज तक शंकराचार्यों की परम्परा अक्षुण्ण रहती है। अन्य मठों और आचार्यों की परम्परा भी आज तक चली आ रही है। वे सब दक्षिण के पूर्विकों की पूजा-परम्परा का परिणत रूप ही मालूम होते हैं। वीराराधना का प्राचीन संप्रदाय भी इसी प्रकार आर्येत्तर संस्कृति से आर्य संकृति में संक्रमित हुई प्रतीत होती है।

पल्लवकालीन दक्षिण भारत के मन्दिरों के विशाल एवं उत्तुंग गोपुर विमान एवं रथ के निर्माण-कौशल की ओर सब लोग हठात् आकृष्ट होते हैं। कई इतिहासकारों के मत में वे गोपुर और विमान बौद्ध स्तूपों के ही रूपांतर हैं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि दक्षिण में मंदिरों के कलारूप ईंट-पत्थर के न होकर काठ के होते थे। मलबार के

1 Dr : Elmote-The Dravidian Gods in Hindu Religion.

अधिकतर मंदिरों में आज भी ऐसे काठ की अद्भुत प्रतिमायें देखने को मिलती हैं। विमानों और रथों के निर्माण में लकड़ी ही काम आती थी। पल्लव राजाओं के समय कलोपासना की इतनी उन्नति हुई कि उनका प्रयोग देवालयों में तथा राजप्रासादों में किया जाने लगा। पल्लवों के पहले भी यहाँ देवालय तथा उनसे सम्बन्धित कलारूप प्रस्तुत थे। लंका का रावण भी शिव भक्त कहा जाता है। उसके पुष्पक-विमान का उल्लेख रामायण में है। देवों के लिए विमान की सवारी की कल्पना भी दक्षिणी देव-मंदिरों के विमान की रचना में सहायक रही होगी या रावण के समय ऐसे विमान अवश्य रहे थे जिनका कलात्मक परिधान ही आज के मंदिरों के विमान हैं। विमान के समान देवरथ की भी कल्पना की जाती है। इसलिए कतिपय मंदिरों में चार चक्रवाले भीमाकार रथ रखे हुए हैं। रथोत्सव भी इन मंदिरों में प्राचीन काल से चलता है। यह विशेष रूप से मंदिरों का उत्सव है। इसलिए विमानों और रथों के निर्माण के सम्बन्ध में बौद्ध स्तूपों का परिणत स्वरूप देखना भ्रामक सिद्ध होता है। गोपुरों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। अगर स्तूपों का प्रभाव इन गोपुरों के निर्माण के लिए सहायक रहे हों तो प्रश्न उठता है कि ऐसे गोपुर केवल दक्षिण में ही क्यों दिखाई देते है? उत्तर में इनका एक भी रूप क्यों प्राप्त नहीं होता? इन उत्तंग गोपुरों को दक्षिणी राजाओं की कलात्मकता का परिचयात्मक तथा उनमें प्रचलित प्राचीन विश्वासों की मुद्रा मानना ही समीचीन है।

यहां एक और विषय पर विचार करना आवश्यक है जिसके सम्बन्ध में आरंभ में सूचना दी जा चुकी है। अधिकत्तर विद्वानों का मत है कि जैन–बौद्ध चैत्य एवं स्तूप ही भारतीय मंदिरों के रचनाक्रम के आधार रहे हैं। अब तक इसमें यही तर्क रखा गया है कि श्मशानों में गोलाकार का जो बाड़ा बनाया जाता था, वही भविष्य में मंदिरों की रूप रचना के लिए सहायक हुआ है। इस तर्क के लिए सहायक है "चैत्यम्" और "स्तूप" का शब्दार्थ। चैत्यं या चैत्य शब्द के कई अर्थ होते हैः—

१. सीमा–चिन्ह बनाने वाले पत्थरों का ढेर

२. समाधि प्रस्तर, स्मारक, यज्ञ मंडप,

३. धार्मिक पूजा का स्थान, वेदी, वह स्थान जहां देवमूर्ति प्रस्थापित रहती है।

४. देवालय

५. बौद्ध और जैन मंदिर[1]

इससे स्पष्ट है कि चैत्य का प्रथम अर्थ हमारे तर्क को सिद्ध करता है। बाकी अर्थ काल की धारा में आये उस शब्द के अर्थ परिवर्तनों के सूचक हैं। शायद चैत्य शब्द चिता

---

१ वामन शिवराम आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोश-१९६६ का संस्करण पृ० १०१९

शब्द से ही सम्बन्धित हो जो श्मशान भू से सम्बन्धित अवश्य रहा हो। अब इस व्युत्पति के स्थायी प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यही समय की अविराम गति में पड़कर श्मशान मंडप, श्मशान मंदिर आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ होगा। श्मशान मंदिरों के इष्टदेव श्मशान देव तो बाद में शिवजी के रूप में प्रसिद्ध हुए। शिव का आर्येतर संकल्प इसी प्रकार स्थिर हुआ होगा। शिव शब्द का एक पर्याय है क्रतुध्वंसी[1] जो यज्ञ विनाशी के अर्थ में प्रयुक्त है। आर्यों के यज्ञ को नाश पहुंचाने वाले इसी आर्येतर शिव को बाद में आर्यों ने स्वीकार किया होगा। अतः सभव है कि आर्यों ने श्मशान मंदिर "चैत्य" को अपने देवालयों की रचना के लिए मातृका बनायी होगी और उस शब्द के वास्तविक रूप को भी उन्होंने अपनाया नहीं। शिवजी का भव्य स्वागत भी इसी काल-सीमा में हुआ प्रतीत होता है। पीछे जैन और बौद्ध लोगों ने भी इसी को अपने मंदिरों की मातृका बनायी; उसी शब्द से अपने मंदिरों को अभिहित भी किया। इसी प्रकार "चैत्यम" से मिलता-जुलता शब्द "चित्यम" है। जिसका अर्थ है– शवदाह करने का स्थान तथा एक और शब्द "चित्या" है जिसका अर्थ है चिता या काष्ठ चयन का निर्माण।[2] इससे यह प्रकट होता है कि चैत्यम् चित्यम से बना शब्द है और हमारा तर्क आधारपूर्ण है। अब दूसरे शब्द 'स्तूप' को लें। उसके भी कई अर्थ हैं—(१) ढेर (मिट्टी का) (२) बौद्ध स्मारक चिन्ह, पावन अवशेषों को (जैसे कि बुद्ध के) रखने के लिए एक प्रकार का स्तंभ सदृश्य स्मृति–चिन्ह (३) चिता।[3] मेरा विचार है कि स्तूप का पुराना अर्थ चिता था और वही चैत्यम् शब्द के समान बाद में भी विभिन्नार्थ थे प्रचलित हुआ। एक प्रमाण भी इस पर प्राप्त है। दक्षिण कानरा के विल्लव लोग अपने बन्धुओं की मृत देहों का एक स्थान पर दाह-कर्म कराकर वहीं अनेक फूल संचित कर रखते हैं और वहां एक स्तूपाकृति का मिट्टी का ढेर बनाते हैं। इसे वे धूप कहते हैं। उसके ऊपर तुलसी का पौधा लगाते हैं। दाहकर्म के तेरहवें दिन उसके ऊपर बांस का विमान जैसा "निर्नेरलु" जातीय क्षुरक तैयार करता है। उसके नीचे एक खाट डालकर उस पर मृतक की अमूल्य वस्तुएं रखी जाती हैं। यह निर्नेरलु कई विशिष्ट वस्त्रों से अलंकृत होता है। बन्धु मित्रादि इसके चारों तरफ तीन बार प्रदक्षिणा करके चले जाते हैं और बाद में क्षुरक सारी चीजें बटोर कर ले जाता है। मृत व्यक्ति ग्राम–मुख्य हो तो इस निरनेरलु को लेकर लोग जुलूस निकालते हैं।[4] अतः हमारा अनुमान है कि स्तूप शब्द उपरोक्त धूप से ही बना है या ऐसा कोई आर्येतर शब्द अवश्य प्रचलित था जिसका बाद में संस्कृतीकरण हुआ है। वैसे विमान या रथ का प्रचार भी इसी निरनेरलु के अनुकरण पर हुआ है।

---

१ वामन शिवराम आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोश–पृ० ७२

२ वामन शिवराम आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोश–पृ ३८१

३ " " " " पृ ११३६

४ E. Thurston–The Castes and Tribes, vol. I

ऊपर कतिपय तर्क खड़े किये गये हैं और उसके लिए कुछ उपयुक्त प्राप्त प्रमाण भी रखे गये हैं। उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि देवालय के प्राचीनतम तीन रूपों का जो उल्लेख ऊपर हुआ है वे ही आधुनिक मंदिरों के स्रोत हैं। अब के भारतीय मंदिरों के रूप विधान में उन्हीं के विकास और परिणामों के चिन्ह ही प्रत्यक्ष हैं। पंडितवर उल्लूर परमेश्वर अय्यर के शब्द एक सीमा तक सत्य है कि इन प्राचीन आर्येतर प्रमाणों को खोज निकालना टेढ़ी खीर है परंतु अब भी वे प्राचीन चिन्ह हमारे दक्षिण में असभ्य जातियों के बीच ही सही, बिखरे पड़े हैं। उनका अनुसंधान और क्रोड़ीकरण अवश्यक है। तभी अंधकारावृत प्राक्तन मानवराशि के स्मृति चिन्हों की अविच्छिन्न शृंखला संप्राप्त होगी।

हिन्दी विभाग
कोचीन विश्वविद्यालय, कोचीन

● डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

काव्यशास्त्र की परम्परा और सूरति मिश्र का चिन्तन-क्षेत्र

१. काव्यशास्त्रीय चिन्तन का आरम्भ और विकास

भारतवर्ष में काव्य-रचना की प्रक्रिया से सम्बन्धित चिन्तन 'नाट्यशास्त्र' के रचयिता आचार्य भरतमुनि से आरम्भ होता है। भरतमुनि से पूर्व वैदिक साहित्य वाल्मीकि-रामायण अग्निपुराण, निघण्टु आदि ग्रंथों तथा पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि आदि शब्दशास्त्रियों की रचनाओं में भी काव्य-संबंधी चिन्तन के सूत्र विद्वानों ने खोजे हैं, किन्तु वे अप्रत्यक्ष विमर्श का ही परिणाम है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद (९६-३-१३) में सोमरस के अर्थ में 'दधानः कलशेरसम्' कहकर ऋषि ने 'रस' शब्द का स्मरण किया है तथा 'ईयुषीरागमुपमा शाश्वतीनाम्' (१-११३-१५) कहकर 'उपमा' शब्द सार्थक बनाया है। इसी प्रकार रूपक, रूपकातिशयोक्ति, पुनरुक्तवदाभास, उदाहरण, लाटानुप्रास तथा 'अलंकार' शब्दों के प्रयोग भी ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद आदि ग्रंथों में मिलते हैं। उपनिषदों में 'रस' शब्द का प्रयोग आनन्द के अर्थ में भी हुआ है।[१] इसी प्रकार वाल्मीकिरामायण में काव्य की परिभाषा, महाकाव्य के स्वरूप और रस-सम्बन्धी धारणाओं के आधार उपलब्ध होते हैं। बालकाण्ड (२-९) में 'रसैः शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः' पंक्ति में शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र एवं भयानक रसों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यास्क के निघण्टु में उपमा, उपमान, निदर्शन आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार पाणिनि आदि व्याकरण-शास्त्रियों ने भी उपमान, उपमेय आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा अखण्ड धारा के रूप में आरम्भ हो जाती है, जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी-साहित्य की विशाल भूमि पर अब तक प्रवाहित हो रही है। भरतमुनि ने अपने समय की धारणा के अनुसार नाटक को काव्य माना था, इसलिए उन्होंने नाटक के विभिन्न पक्षों पर विचार करने के साथ-साथ काव्य के कई अंगों पर भी चिन्तन किया है। उन्होंने काव्य के संबंध में उसकी परिभाषा, रस गुण, दोष, अलंकार एवं छंद के कई अंश प्रकाशित किए हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र का मुख्य 'रस-सम्प्रदाय' नाट्यशास्त्र से ही आरम्भ हो जाता है।

---

१ रसो वै सः--तैतिरेयोपनिषद्-११-७-१

रसों की ८ संख्या प्रथम बार भरतमुनि ने ही अपने नाट्यशास्त्र (६-१५) में निर्धारित की है। उन्होंने अलंकारों पर भी विचार किया है तथा काव्य के गुण और दोष भी गिनाये हैं।

भरतमुनि के पश्चात् भामह ने 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ लिखकर काव्य के शरीर, अलंकार, दोष, न्याय तथा शब्द के सम्बन्ध में विचार किया है, उनका चिन्तन पर्याप्त प्रौढ़ और गंभीर माना जाता है। उन्होंने पहली बार महाकाव्य- नाटक, आख्यायिका, कथा एवं गाथा का विस्तृत विवेचन किया है। काव्य के साधन और प्रयोजन पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद नामक गुण उन्हीं की बुद्धि की उपज हैं। वैदर्भी एवं गौड़ीय रीतियों का भी उन्होंने 'मार्ग' के नाम से उल्लेख किया है।

भामह ने काव्यशास्त्र को स्वतंत्र विद्या का रूप देकर काव्यशास्त्रीय चिन्तन का जो मार्ग खोला था, उस पर दण्डी, वामन, उद्भट, रूद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय और धनिक कुंतक, भोजदेव, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, बाग्भट्ट, हेमचन्द बाग्भट-द्वितीय, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ आदि विद्वान अपनी-अपनी प्रतिभाओं का प्रकाश फैलाते रहे। फलतः काव्य-रचना के सभी पक्षों पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श हुआ और अनेक मौलिक सिद्धान्त निर्मित हुए। संसार के किसी भी देश का काव्यशास्त्रीय चिन्तन इतना प्राचीन प्रौढ़ और सुगभीर नहीं है, जितना भारतीय काव्यशास्त्र-सम्बन्धी चिन्तन है।

२ हिन्दी में काव्यशास्त्र की परम्परा

हिन्दी में काव्य शास्त्र की परम्परा का आरम्भ संस्कृत काव्य शास्त्र की प्रेरणा से हुआ, किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में भी उसके पर्याप्त योजक सूत्र मिल जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि पुष्य या पुण्य नामक किसी कवि ने ७ वीं शताब्दी में अलंकार संबंधी एक ग्रंथ बनाया था, किन्तु वह ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण प्रमाण-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में युद्ध-सम्बन्धी साहित्य अधिक लोकप्रिय था, इसलिए काव्य-सिद्धांतों का विवेचन नहीं हो सका। मध्यकाल में जब संस्कृत-काव्य शास्त्र की परम्परा ह्रासोन्मुखी हुई, तब सर्व प्रथम संस्कृत के विद्वान् और हिन्दी के कवि आचार्य केशवदास का ध्यान सिद्धांत-चिन्तन की ओर गया। यों केशव दास के पूर्व सूरदास की 'साहित्य लहरी', तुलसीदासकृत 'बरवैरामायण', नंददास की 'रसमंजरी' और 'विरहमंजरी', ध्रुवदासकृत 'रसहीरावली', कृपाराम की 'हिततरंगिणी', बलभद्र मिश्र की 'नख-शिख', एवं रहीमकृत 'बरवैनायिका-भेद' में भी काव्य-सिद्धांतों का फुटकर चिन्तन मिलता है, किन्तु उसको काव्यशास्त्र की सुनियोजित दिशा में ले जाने वाले आचार्य केशवदास ही हैं।

केशवदास ने 'कविप्रिया' एवं 'रसिक प्रिया' नामक ग्रंथ लिखकर ब्रजभाषा-पद्य में काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है। ये दोनों ग्रंथ इतने गंभीर और प्रामाणिक हैं कि आज भी उनकी उपादेयता मानी जाती है। केशवदास के पश्चात् चिन्तामणि ने 'कविकुल-कल्पतरू' कुलपति ने 'रस-रहस्य', देव ने 'भाव-विलास' एवं 'काव्यरसादन', श्रीमति ने 'काव्य-सरोज', सोमनाथ ने 'रस-पीयूषनिधि', भिखारीदास ने 'रस-सारांश', 'शृंगार-निर्णय' व काव्य-निर्णय' एवं प्रतापसाहि ने 'काव्य-विलास' नामक ग्रंथों की रचना की। इन सब ग्रंथों में संस्कृत-काव्य शास्त्रों के सार-तत्व को सुंदर व्याख्याओं के साथ प्रस्तुत किया गया है।

रीतिकाल तक जो मुख्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए उन्हीं की परम्परा में सूरति मिश्र कृत 'काव्य-सिद्धांत', 'रसरत्न', 'अलंकार माला', एवं छंदसारपिंगल' भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने केशवदास कृत 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' के सिद्धांतों की व्याख्या करने के लिए जो टीकाएं लिखीं, उनमें भी उनका काव्यशास्त्रीय चिन्तन प्रतिफलित हुआ है। यदि केशवदास हिन्दी की काव्यशास्त्र-परम्परा के आदि आचार्य हैं, तो सूरति मिश्र उसकी एक महत्त्व-पूर्ण मध्य कडी हैं क्योंकि उन्होंने ही पहली बार गद्य और पद्य में हिन्दी के आदि काव्य शास्त्रों—'कविप्रिया और 'रसिकप्रिया' की विवेचनात्मक व्याख्या की है तथा स्वयं भी सिद्धांत-चिन्तन किया है। प्रतापसाहि आदि आचार्य उस परम्परा में सूरति मिश्र के पश्चात् आने वाली कड़ियों का काम करते हैं।

३ रीतिकालीन काव्यशास्त्र का परिचय और प्रवृत्तियां

आचार्य केशवदास से आरम्भ होने वाली हिन्दी काव्यशास्त्र-परम्परा में काव्यशास्त्रीय विवेचन की जो प्रवृत्तियां विकसित हुईं, उन पर यहां संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। जैसाकि हम पहले कह चुके है, केशवदास इस परम्परा के प्रवर्तक माने जाते हैं। संस्कृत और हिन्दी के विद्वान होने के कारण एक ओर तो वे संस्कृत काव्य-सिद्धांतों से परिचित थे और दूसरी ओर हिन्दी काव्य शास्त्र की परम्परा, परिस्थिति और परिवेश से भी अवगत थे। भक्तिकाल का अन्त हो रहा था, जब उन्होंने काव्य सिद्धांतों का विवेचन किया। रीति कालीन अलंकरण प्रवृत्ति उस समय तक उभरने लगी थी, इसलिए उन्होंने संस्कृत के ध्वनि पूर्वकाल के प्रमुख आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रूद्रट के काव्य-चिन्तन का अनुमरण किया। संस्कृत का ध्वनि-पूर्वकाल मूलतः काव्यशास्त्र का अलंकार काल था। केशवदास ने भी हिन्दी-साहित्य में काव्यशास्त्र-विवेचन की अलंकारवादी परम्परा को जन्म दिया। उनकी 'कविप्रिया' और 'रसिक-प्रिया' नामक पुस्तकें जिनकी रचना क्रमश: संवत् १६५८ वि० एवं १६४८ में हुई, काव्यांगों तथा शृंगार रस का विवेचन प्रस्तुत करती हैं, किंतु इस विवेचन पर अलंकरण की प्रवृत्ति छायी हुई मिलती है। उन्होंने 'कवि-प्रिया' में अलंकारों का विशेष निरूपण किया है। 'रसिक-प्रिया' में शृंगार रस के विवेचन के

संदर्भ में उसके भेदों और नायक-नायिकाओं का भी वर्णन है, किन्तु कवि-कर्म मूलतः आलंकारिक आधार पर ही विवेचित है। केशव के समान ही अन्य आचार्यों ने भी अपने मार्ग चुने हैं। चिन्तामणि ने मूलतः मम्मट एवं विश्वनाथ के प्रभाव को स्वीकार किया है। उन्होंने अपने 'कविकुलकल्पतरू' (सं० १७०७ वि०) में काव्य के स्वरूप, काव्य-भेद, गुण, अलंकार, दोष, शब्दशक्ति और ध्वनि को चिन्तन का विषय बनाया है। इस प्रकार काव्य शास्त्र की कई सीमाओं का स्पर्श उन्होंने किया है, किन्तु उनके चिन्तन की मुख्य प्रवृत्ति रस-ध्वनि की स्थापना है। उन्होंने केशव की ही तरह अपने ग्रंथ की रचना पद्य में की है। लक्षण और उदाहरण दोनों के प्रति कवि का दृष्टिकोण बहुत सुलझा हुआ है। काव्य की परिभाषा और भेदों के संबंध में उन्होंने मम्मट के विचारों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया है।

कुलपति मिश्र ने 'रस-रहस्य' नामक ग्रंथ संवत् १७२७ वि० में बनाया। इस ग्रंथ में उन्होंने ६५२ पद्यों में काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, कारण, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण-दोष और अलंकार का विवेचन किया है। उन्होंने मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों से लाभ उठाया है। यद्यपि उनके अधिकांश विवेचन में मौलिकता नहीं मिलती, तथापि सरल पद्य शैली में उन्होंने जो व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं वे विषय को पर्याप्त स्पष्ट करती हैं। कहीं-कहीं उन्होंने संस्कृत के विभिन्न आचार्यों के मतों का मन्थन करके नए विचार भी प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ, काव्य की परिभाषा बताते हुए उन्होंने लिखा है कि—

जग तें अद्भुत सुख़ सदन, शब्दरू अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रंथ बहुचित्त ॥[1]

काव्य के प्रयोजन भी उन्होंने ६ माने हैं— यश, अर्थ, आनन्द एवं विदग्धता की प्राप्ति, अमंगल का नाश तथा ईश्वर-प्रणिधान।

कुलपति मिश्र के विवेचन में काव्यशास्त्र का विस्तार अधिक है। वे काव्य को समग्र रूप में व्याख्या का विषय बनाते हैं, इसलिए उनकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि पर्याप्त प्रौढ़ है। पद्य के साथ गद्य-शैली के प्रयोग की प्रवृत्ति भी उनके विवेचन में मिलती है।

कुलपति के पश्चात् रीतिकालीन आचार्यों में देव का नाम अधिक महत्त्व रखता है। उन्होंने 'भवानी विलास' (१७८३ वि०) उन्होंने 'भाव विलास, (१७४६ वि०) रस विलास' (१७८३ वि० के लगभग) और 'काव्य-रसायन' (१७६० वि० के लगभग) नामक ग्रंथों में काव्य सिद्धांतों का विवेचन किया है 'भाव-विलास' में उनकी काव्यशास्त्रीय क्षमता अधिक नहीं मिलती। संस्कृत के आचार्यों की अपेक्षा केशवदास का प्रभाव इस ग्रंथ पर

---

१ रस-रहस्य, कुलपति मिश्र, अध्याय १, छंद २०

अधिक है। 'काव्य रसायन' ग्रंथ में जिसका दूसरा नाम 'शब्द रसायन' भी है, काव्यशास्त्र के कई अंगों का पद्यशैली में विस्तार से विवेचन किया गया है तथा भवानी विलास एवं 'रस विलास' में रस की चर्चा की गई है। देव ने भी अपनी दृष्टि को न तो अलंकार तक सीमित रखा है और न रस से ही बांधा है। काव्य के सम्बन्ध में उनकी कुछ नवीन धारणाएं भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने संस्कृत-आचार्यों की विचारधारा के विपरीत अभिधा–काव्य को श्रेष्ठ और व्यंजना–काव्य को अधम घोषित किया है।

रीतिकाल के एक अन्य महत्त्वपूर्ण आचार्य सोमनाथ माने जाते हैं। उन्होंने सं० १७९४ वि० में 'रस–पीयूष निधि' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रन्थ २२ तरंगों और ११२७ छंदों में लिखा गया है। सोमनाथ ने इस ग्रंथ में छंदशास्त्र, काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य दोष, गुण और अलंकारों का निरूपण किया है। उनका विषय–विवेचन मम्मट, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों से पूर्णतः प्रभावित है। कहीं कहीं मम्मट के सिद्धांतों का अनुवाद मात्र मिलता है। काव्य के प्रयोजन के संबंध में उनकी दृष्टि यश, अर्थ, सहज मनोरंजन, मंगल-प्राप्ति एवं सदुपदेश तक पहुंची है। वस्तुतः सोमनाथ की विवेचना में संस्कृत के अनुकरण की प्रवृत्ति ही अधिक व्याप्त है।

सूरति मिश्र के समकालीन एक अन्य महत्त्वपूर्ण आचार्य भिखारीदास माने जा सकते हैं। इन्होंने सं० १७९९ वि० में 'रस-सारांश' और छंदोर्णव पिंगल' नामक ग्रन्थों की रचना की तथा सं० १८०३ वि० में 'काव्य-निर्णय' एवं सं० १८०७ वि में 'शृंगार निर्णय' बनाए। 'रस-सारांश' में उन्होंने नायक–नायिका–भेद का वर्णन किया है। छंदोर्णव-पिंगल' छंदशास्त्र का ग्रंथ है 'शृंगार-निर्णय' में शृंगार–रस का विस्तार से निरूपण किया गया है। इनका 'काव्य–निर्णय' ही एक ऐसा ग्रंथ है जिससे काव्य-रचना के अधिकांश पक्षों पर विचार किया गया है। इसी ग्रंथ ने भिखारीदास को हिन्दी–साहित्य के आचार्यों में प्रसिद्धि प्रदान की है। उन्होंने काव्य रचना के हेतु, रीति, प्रयोजन, गुण–दोष, अलंकार, रस आदि पर सोदाहरण विचार किया है, जिसमें अधिकांश बातें संस्कृत काव्य शास्त्र से ली गई हैं। फिर भी कुछ बातों में उन्होंने पर्याप्त नवीनता प्राप्त की है। उदाहरण के लिए, उन्होंने तुक के संबंध में मौलिक विचार किया है।

भिखारीदास के पश्चात् उनके समकालीन आचार्य सूरति मिश्र भी रीतिकाल के एक अन्य प्रमुख काव्यशास्त्री थे, जिनके सिद्धान्त ग्रंथ अब तक अप्रकाशित रहे हैं। उन्होंने अलंकार माला', 'रसरत्न', 'छंदसार–पिंगल' एवं 'काव्य सिद्धांत' नामक सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना की थी। आगे हम इन ग्रंथों पर विस्तार से विचार करेंगे।

सूरति मिश्र के समकालीन एक अन्य आचार्य, जिनका काव्य-सिद्धांतों के संबंध में महत्त्वपूर्ण योगदान है श्रीपति माने जाते हैं इन्होंने 'कविकुलकल्पद्रुम', 'रस–सागर',

'अनुप्रासविनोद', 'अलंकार गंगा' तथा 'काव्य-सरोज' आदि कई शास्त्रीय ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें 'काव्य-सरोज' विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ की रचना संवत् १७७७ वि० में हुई थी। श्रीपति ने काव्य के लक्षण, काव्य-रचना के कारण, काव्य के भेद, दोष, गुण, अलंकार, रस आदि का चित्रण किया है। इनकी कई परिभाषाओं पर आचार्य मम्मट का प्रभाव पाया जाता है। इस ग्रन्थ का विशेष महत्व इसलिए है, क्योंकि इसमें विवेचन सरल, स्पष्ट और सोदाहरण है।

रीतिकाल के एक अन्य प्रमुख आचार्य प्रतापसाहि माने जाते है। इन्होंने कई शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें 'काव्य-विलास' (१८८६ वि०) विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में ४११ पद्यों में काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, कारण, शब्द-शक्ति ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण तथा दोषों का विस्तार से विवेचन किया गया है। रस पर भी ध्वनि के अन्तर्गत उन्होंने प्रकाश डाला है। मूलत: वे ध्वनिवादी आचार्य हैं। उन्होंने काव्य के हेतु के रूप में शक्ति को महत्त्व दिया है। आचार्य मम्मट से वे भी प्रभावित मालूम पड़ते हैं। काव्य के भेद आदि के सम्बन्ध में उन्होंने परम्परागत दृष्टिकोण का ही पोषण किया है।

रीतिकाल में काव्यशास्त्र-संबंधी ग्रंथ लिखने वाले इन प्रमुख आचार्यों के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे कवि भी हुए हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र विषयक ग्रंथों की रचना की थी; किंतु उनकी कृतियों का विशेष महत्त्व नहीं है। उदाहरणार्थ, गोपा, करणेस, छेमराज, जसवंत-सिंह, गोपालराय, बलवीर, रसिक सुमति, भूपति, बशीधर, दूलह, रसलीन, कृष्णभट्ट, ग्वाल आदि के नाम इस दृष्टि से स्मरण किए जा सकते हैं।

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी रचना के पीछे मौलिक चिन्तन का सर्वत्र अभाव रहा है, कोई भी आचार्य ऐसा नहीं मिलता, जिसने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों को अपने ग्रंथों का आधार न बनाया हो। काव्य-सिद्धांतों को ब्रजभाषा पद्य में उदाहरण सहित प्रस्तुत करने की होड़ सभी कवियों में दिखाई देती है। इस होड़ में अधिकांशत: संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद ही कुछ परिवर्तन के साथ सामने आया है। एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति, जिसे रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय परम्परा की मौलिक देन कहा जा सकता है, वह यह है कि सभी आचार्य-कवियों ने लक्षणों के साथ साथ स्व-रचित मौलिक उदाहरण दिए हैं। उन उदाहरणों से काव्यशास्त्र सम्बन्धी विमर्श को विस्तार मिला है और सिद्धांतों की दुरुहता भी कम हो गई है।

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की संख्या को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में कवियों का अधिक ध्यान रस और अलंकार विवेचन की ओर था। काव्य-रचना के व्यापक सिद्धांतों के संबध में, इन दोनों की तुलना में, कम चर्चा हुई है।

४ सूरति मिश्र की काव्यशास्त्रीय रचनाएं और उनके प्रेरक तत्त्व

जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, हिन्दी-साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा क्षीण हो चुकी थी और भाषा-कवियों ने उसे जीवित रखने के लिए नए मार्ग पर मोड़ दिया था। भक्ति काव्य की परम्परा राजाओं के विलास के प्रभाव के कारण नायक-नायिकाओं के प्रेम में केन्द्रित हो गई थी। अधिकांश प्रतिभाशाली कवि राजाश्रय में रहने लगे थे। मुसलमान बादशाहों व नवाबों के प्रभाव के कारण छोटे-बड़े सभी हिन्दू राजा विलास-प्रिय हो गए थे। काव्य-कला उनके मनोरजन का माध्यम बन गई थी। इस लिए काव्य-रचना को सुंदर और प्रभावशाली बनाने के लिए काव्यशास्त्र के विभिन्न पक्षों का अध्ययन और वर्णन आरम्भ हो गया था।

सूरति मिश्र मूलतः एक भक्त-कवि थे, किन्तु तुलसीदास, सूरदास आदि भक्त कवियों की तरह गृह-त्याग की क्षमता उनमें नहीं थी। काव्य-रचना उस काल में राजाओं का आश्रय पाकर ही जीविका में सहायक हो सकती थी, इसलिए उन्होंने भी राजाओं, नबाबों और अमीरों का आश्रय पाने की चेष्टा की। वे इस कार्य में सफल भी हुए, किन्तु एतदर्थ उन्हें अपनी भक्ति-भावना का बहुत मूल्य चुकाना पड़ा। वे जहां-कहीं भी आश्रय की खोज में पहुंचे, वहीं उनसे काव्यशास्त्रीय विषयों पर ग्रंथ लिखने का आग्रह किया गया। 'काव्य-सिद्धांत', 'अलंकारमाला', 'छंदसार-पिंगल' और 'रसरत्न' नामक ४ पुस्तकें काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में उनकी विशेष देन हैं तथा 'बिहारी-सतसई, रसिक-प्रिया एवं कविप्रिया की टीकायें लिखकर उन्होंने इन तीनों में निहित काव्यशास्त्री तथ्यों की व्याख्याएं की हैं। रसिकप्रिया पर उन्होंने गद्य एवं पद्य में दो भिन्न टीकाएं लिखी हैं। इस प्रकार कुल ८ ग्रंथों में उन्होंने काव्यशास्त्र के विषयों पर विचार किया है। ये सभी ग्रंथ आश्रयदाताओं की प्रेरणा से लिखे गए हैं।

सूरति मिश्र के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना का मूल प्रेरक तत्त्व आश्रयदाता की इच्छा होने के कारण उनमें अध्यापन की प्रवृत्ति विशेष रूप से उभरी है। बहुत सावधानी के साथ उन्होंने आश्रयदाताओं को मनोरंजन के स्थान पर काव्यशास्त्र का ज्ञान देने की चेष्टा की है इसलिए आन्तरिक रूप से काव्य-रचना के नियमों और तत्त्वों का ज्ञान प्रसारित करने का उद्देश्य उनके काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का एक दूसरा प्रेरक तत्त्व रहा है। सूरति मिश्र से पूर्व काव्य-रचना के क्षेत्र में केशवदास और बिहारीलाल अधिक प्रतिष्ठित तथा प्रसिद्ध थे। सूरति मिश्र उन कवियों की प्रतिभा की छाप लगाना चाहते थे। 'रसिकप्रिया' 'कविप्रिया' एवं 'बिहारी-सतसई' की टीकाओं के पीछे उनके अहंकार की यह प्रेरणा भी काम करती प्रतीत होती है।

५ सूरति मिश्र के काव्य शास्त्रीय चिन्तन का क्षेत्र और सीमा

सूरति मिश्र की पूर्वोक्त आठ रचनाओं में काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। काव्य-रचना के नियमों पर उन्होंने 'काव्य-सिद्धान्त' में विचार

किया है। 'अलंकार माला' में अलंकारों की सोदाहरण व्याख्या है। 'छंदसार-पिंगल' में छंद-सम्बन्धी ज्ञान प्रस्तुत किया गया है। 'रसरत्न' में शृंगार-रस और नायिका-भेद पर विचार हुआ है। 'अमर-चंद्रिका-टीका' में अलंकार-निर्देश के साथ विस्तार से अलंकारों की परिभाषाएं और उदाहरण दिए गए हैं। 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' की टीकाओं में उनके विषय की व्याख्याएं मात्र हैं। इस प्रकार सूरति मिश्र के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अलंकार और उसका विवेचन विशेष क्षेत्र घेरता है। काव्य-रचना के सिद्धान्तों और छंदों के सम्बन्ध में उन्होंने अधिक विस्तार से नहीं लिखा है। 'कविप्रिया' की व्याख्या उन्होंने उतने विस्तार से नहीं की, जितने विस्तार से 'रसिक प्रिया' की टीका लिखी है कविप्रिया में उन्होंने केवल उन्हीं स्थलों पर कुछ प्रकाश डाला है, जिनको उन्होंने व्याख्या के योग्य और अधिक क्लिष्ट समझा है। किन्तु इसका एक कारण और भी है कि वे काव्य-रचना के सामान्य नियमों की अपेक्षा अलंकार और रस के नियमों में अधिक रुचि रखते थे।

संस्कृत काव्यशास्त्र के वक्रोक्ति ध्वनि, रीति और औचित्य सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन सूरति मिश्र ने नहीं किया है। इन सिद्धान्तों पर वे चाहते तो 'काव्य सिद्धान्त' एवं 'रसरत्न' में यथा—संदर्भ अधिक विचार कर सकते थे, किन्तु उन्होंने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया है। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि वे आश्रयदाताओं को अलंकार और रस—विवेचन के माध्यम से प्रत्यक्षतः काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों की शिक्षा देना चाहते थे और अप्रत्यक्षतः प्रेम और सौन्दर्य के माध्यम से भक्ति के उद्देश्य को पूरा करना चाहते थे। यही कारण है कि अलंकार और रस-विवेचन की प्रधानता तथा शेष सिद्धान्तों के विवेचन के प्रति उपेक्षा उनके काव्यशास्त्रीय चिन्तन की सीमा बन गयी है।

रीडर व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

● डॉ० भगवतीलाल राजपुरोहित

प्राचीन भारत में पुरोहित

भारतीय जनता पुरोहित तथा उसके कर्म से अपरिचित नहीं है। विश्व के पुरातन सभ्य देश विभिन्न अभिधानों से अभिहित इस समानधर्मी तथा कर्मी के व्यक्तित्व की आवश्यकता से सुपरिचित थे। आज के युग में प्रायः धार्मिक कृत्यों की पूर्ति करने वाले विप्र को पुरोहित कहते हैं। प्रत्येक जाति अथवा परिवार का अपना पुरोहित होता है। यह पण्डित का पर्याय बनकर रह गया है।

वस्तुतः पुरोहित की स्थिति प्राग्वैदिकयुगीन अवशेषों में भी उपलब्ध है। सिन्धुघाटी से प्राप्त एक उर्ध्वभागावशिष्ट खण्डित मूर्ति को पुरोहित की संज्ञा दी जा सकती है।[1] ध्यानमुद्रा में अवस्थित इस मूर्ति की आँखें निमिलित हैं तथा कन्धे पुष्पांकित वसन से आवृत्त। विश्व साहित्य के सर्व पुरातन ग्रन्थ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त की प्रथम ऋचा की प्रथम पंक्ति में अग्नि के साथ ही पुरोहित शब्द का भी स्मरण किया गया है—

अग्निमीले पुरोहितम् ।१।१।१.

यद्यपि पाश्चात्य समीक्षक प्रथम मण्डल का रचनाकाल अन्य मण्डलों से परवर्ती तथा दशम मण्डल से पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं पर यह तथ्य इदमित्थं नहीं माना जा सकता। प्राग्वैदिकयुगीन तथा वैदिकयुगीन सभ्यता में धर्म का अपरिहेय स्थान रहा है। स्वभावतः पुरोहित की स्थिति भी रही है।

भारतीय पुरातन साहित्य, चाहे वह वैदिक ही क्यों न हो, राजसाहित्य रहा है-लौकिक नहीं। ऐसी अवस्था में वैदिक प्रभृति साहित्य में वर्णित विभिन्न विशाल यज्ञों के आयोजन की स्थिति राजकीय ही सम्भव थी, जिनके होताओं में सर्वमूर्धन्य पुरोहित ही होता था। ऐसे राजकीय धार्मिक कृत्यों से सम्बद्ध ब्राह्मण पुरोहित कहलाते थे। स्वभावतः पुरोहित से तात्पर्य राजपुरोहित ही रहा है।

पुरोहित सारे राजकीय धार्मिक कृत्यों में अगुआ होता था तथा अग्नि देवताओं का मुख कहलाता था। फलतः पुरोहित अग्नि का पयार्य बन गया। भोज ने नाममालिका कोष में पुरोहित को अग्नि का पर्याय ही स्वीकार किया है।[2]

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० २७।

२ भोजराज, नाममालिका, इण्डेक्स, दकन कालेज, पूना।

यास्क ने "पुरः एनं दधति" निर्वचन कर पुरोहित की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक असाधारण महत्ता पर प्रकाश डाला है। जिसे नृपगण धार्मिक, राजनैतिक, व्यवहार (न्याय), सन्धि-विग्रह प्रभृति कार्यों में सर्वाधिक महत्व दें, वही पुरोहित है।[1] जिस व्यक्ति को सर्वाधिक, यहां तक कि स्वयं राजा से भी अधिक महत्ता प्राप्त हो, असंभव नहीं यदि उसे सारा समाज तथा राष्ट्र भी अपना पूज्य स्वीकार कर लें।

वैदिक युग में वाजपेय यज्ञ के अवसर पर स्वयं राजा अपने रत्नियों के घर जाकर तत्सम्बन्धी विविध देवताओं की अर्चना करते थे। ये रत्नी बारह अथवा चौदह होते थे। जिनमें सर्वप्रधान पुरोहित होता था। राजा सर्वप्रथम इसी के घर जाकर बृहस्पति की अर्चना करता था।[2] यह मान्यता भी बद्धमूल थी कि बिना पुरोहित के देवता बलि ग्रहण नहीं करते।[3]

"न वै अपुरोहितस्य देवा बलिमश्नुवन्ति।" राजा के इस कृत्य को "रत्निबलि' कहा जाता था। परवर्ती युग में ये ही "रत्नी" रत्न कहलाने लगे। विक्रमादित्य की सभा में नौ रत्न होना, इसी परम्परा का परवर्ती संस्करण है।

वैदिक तथा परवर्ती युग में पुरोहित असीम अधिकारों का धनी रहा। वैदिक युग में राजकीय दृष्टि से प्रमुखतया, पुरोहित, सेनानी तथा ग्रामणी का विशेष महत्व था। जिनमें सर्वप्रधान पुरोहित होता था। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र[4] तथा बोधायन श्रौतसूत्र[5] के अनुसार राजा के किसी दीर्घकालीन यज्ञ की दीक्षा लेने पर उसकी ओर से पुरोहित ही शासन चलाता था। रामायण में उल्लेख है कि राजकुमारों की अनुपस्थिति में राजगुरु वशिष्ठ ही यथावधि राज्य संचालन करते रहे। जातक कथाओं में इसे "सव्वाथकमंत्री" अर्थात् सर्वाधिकार प्राप्त मंत्री कहा गया है।[6] शुक्रनीति[7] के अनुसार आदर्श पुरोहित के क्रोध भय से राजा सदा धर्म तथा नीति में निरत रहता था। पुरोहित राजा का अभिषेक करके उसे अदण्ड्य घोषित करता था। मौर्य तथा परवर्ती युग में यह धर्म-विभाग का अध्यक्ष होता था।[8]

---

१ यास्क, निरुक्त, २।३।१२.
२ अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ८०
३ ऐतरेय ब्राह्मण, ७५।२४
४ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, २०।२-१२, ३।१-३.
५ बोधायन श्रौतसूत्र, १८।४
६ अल्तेकर, पूर्ववत्, पृ० १४०-४१
७ शुक्रनीति, २।६६
८ अल्तेकर, पूर्ववत्, पृ० २८०-८२.

वैदिक युग में पुरोहित को राष्ट्रगोप[1] अर्थात् राष्ट्र का रक्षक कहा गया है। पुरोहित विश्वामित्र के मंत्रों ने भरतकुल की रक्षा की थी। पुरातन युग में राजा की रक्षा में ही राष्ट्र-रक्षा निहित थी[2]। इसीलिये परवर्तीयुगीन शुक्रनीति में इसे "राज-राष्ट्रभृत्" अर्थात् राजा एवं राष्ट्र का संरक्षक कहा है।[3] पुरोहित अपनी आध्यात्मिक तथा विवेकशक्ति से राजा तथा राष्ट्र पर आगत विभिन्न इतियों एवं विपत्तियों से रक्षा करता था। इसीलिये वैदिक युग के पुरोहित अथवा ऋषि इस बात को बड़े गर्व से व्यक्त करता है:[4]

"वयं राष्ट्रे जागृयामः पुरोहिताः"

हम पुरोहित (अगुआ होकर) राष्ट्र में जागते रहते हैं। इसीलिये कौटिल्य[5] जैसा राजनीतिज्ञ भी यह विधान करता है कि राजा को पुरोहित की सम्मति का वैसे ही अनुसरण करना चाहिये जिस प्रकार शिष्य गुरु की बात का, पुत्र पिता की बात का अथवा सेवक स्वामी की बात का अनुसरण करता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमें दशरथ के उस कृत्य में प्राप्त होता है जहां वे न चाहते हुए भी पुरोहित वसिष्ठ की अनुज्ञा से विश्वामित्र को अपने पुत्र राम तथा लक्ष्मण सौंप देते हैं।

कौटिल्य[6] के अनुसार पुरोहित का कर्त्तव्य है कि वह अथर्ववेद-विहित साधनों के द्वारा मानवी एवं देवी विपत्तियों को दूर करे। अग्नि, बाढ़, रोग अकाल, प्रेत आदि देवी विपत्तियां हैं तथा अन्य नृपों के आक्रमण आदि मानवी विपत्तियां हैं।[7] मनु के अनुसार श्रौत एवं गृह्य सूत्रों से सम्बन्धित धार्मिक कृत्य करना पुरोहित का कार्य था तथा आपस्तम्ब[8] के अनुसार पुरोहित को अपराधियों के लिये प्रायश्चित देने का पूर्ण अधिकार था। विविध बौद्ध जातक कथाओं में पुरोहित सम्बद्ध ऐसे विविध उल्लेख असुलभ नहीं हैं।[9] याज्ञवल्क्य

---

१ ऐतरेय आरण्यक, ४०१२

२ ऋग्वेद, ३।५३।१२

३ शुक्रनीति २।७४

४ अथर्ववेद

५ कौटिल्य, अर्थशास्त्र १।९

६ वही, ४।३

७ मनुस्मृति, ७।७८

८ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, २।५।१०।१४-१७

९ रिचर्ड फिक, दी सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम्स, पृ० १६४-१७९।

स्मृति तथा मिताक्षरा के अनुसार लौकिक एवं धार्मिक विषयों में सारे मन्त्रियों से परामर्श करने के पश्चात्, अन्त में पुरोहित की सम्मति लेनी चाहिए। अभिज्ञान शाकुन्तल के पञ्चमाङ्क में जब दुष्यन्त न्याय तथा धर्म की दृष्टि से किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है कि उसे क्या करना चाहिए—गर्भवती शकुन्तला को पत्नी रूप में स्वीकार कर परस्त्री-पांसुल बने अथवा दारत्यागी। न्याय तथा धर्म का संरक्षक दुष्यन्त स्वयं के विषय में ही असहाय हो जाता है तब वह अन्ततः पुरोहित से उचित सम्मति की आकांक्षा करता है। दुष्यन्त की ही विचलित अवस्था नहीं थी, शकुन्तला की इससे भी अधिक दुरवस्था हो गयी थी। पति उसे पत्नी रूप में स्वीकार करने को तत्पर नहीं तथा पितृकुल उसे आश्रय देने को असन्नद्ध। पुरोहित ने तत्काल निर्णय दिया—शकुन्तला न कण्वर्षि के आश्रम में रहेगी और न दुष्यन्त के अन्तःपुर में। सन्तति होने पर्यन्त वह पुरोहित के घर रहेगी। सन्तति होते ही निर्णय हो जायगा कि शकुन्तला के लिये उसका पितृकुल उपयुक्त है अथवा भर्तृकुल। क्योंकि दैवज्ञों ने पहले से ही घोषणा कर रखी है कि दुष्यन्त की प्रथम सन्तति सम्राट् होगी। शकुन्तला के पुत्र में यदि सम्राट् के सामुद्रिक लक्षण सुलभ हुए तो स्वभावतः वह दुष्यन्त की ही सन्तति होगी तथा शकुन्तला उसकी पत्नी। धर्मशास्त्रज्ञ दुष्यन्त सविनय इस निर्णय को स्वीकार कर लेता है।

ऋग्वेद[1], आश्वलायनगृह्यसूत्र[2], कौटिल्य[3] आदि के अनुसार पुरोहित राजा के साथ स्वयं युद्ध में जाकर वेदमन्त्रों तथा वीरोक्तियों से सैनिकों का उत्साहवर्धन करें एवं युद्ध में काम आने वालों के भावी जन्म के प्रति शुभकामना व्यक्त करें। शुक्रनीतिसार[4] के अनुसार पुरोहित धनुर्वेद का ज्ञाता, आयुध-निपुण, सेना की टुकड़ियां बनाने में दक्ष एवं शाप देने की शक्ति वाला हो।

पुरोहित राजा के यौवन काल का प्रमुख सहायक, गुरु तथा मार्गदर्शक होता था।[5] इसीलिये विविध जातकों, रामायण आदि में उसे "आचार्य" भी कहा गया। राजकीय कृत्यों, क्षत्रियोचित गुण, राजाओं के लिये अनिवार्य तथा क्षत्रियों के सतत् सान्निध्य में रहने से अमरकोषकार ने ब्राह्मण होने पर भी पुरोहित की गणना ब्रह्मवर्ग में न करते हुए क्षत्रियवर्ग में की है।

---

१ ऋग्वेद, ६।७५।१७

२ आश्वलायन गृह्यसूत्र, १२।१९७.

३ कौटिल्य, अर्थशास्त्र, १०।३

४ शुक्रनीतिसार. २।७८.

५ रिचर्ड फिक्-पूर्ववत्.

प्रत्येक पुरोहित ब्राह्मण होता था परन्तु प्रत्येक ब्राह्मण पुरोहित नहीं। पुरोहित वही होता था जो उपर्युक्त राजकीय परिवेशों से आवृत हो। । पुरोहित का प्रत्येक कार्य राजकीय हित में होता था। राजा जिससे विद्याध्ययन करता था वह राजगुरु कहलाता था, जो विप्र ही होता था। कभी कभी गुरु एवं पुरोहित एक ही होता था। श्री राम के पूर्वजों के, वशिष्ठ, गुरु एवं पुरोहित दोनों ही थे। परन्तु यह सदा अनिवार्य नहीं था। श्री रामचंद्र के गुरु विश्वामित्र थे तथा पुरोहित वशिष्ठ। चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु चाणक्य, उसके राज्य काल में पुरोहित नहीं था।

पुरोहित में आचार्य के सारे गुणों के अतिरिक्त व्यावहारिक गुण तथा विवेक होना भी अनिवार्य था। यौवन से पूर्व अध्ययनकाल में आचार्यमुख से प्राप्त ज्ञान को राजा अपने यौवनकाल में पुरोहित के मार्गदर्शन में व्यावहारिकता प्रदान करता था। गुरु शिक्षा देता था तथा पुरोहित उसका जीवन में उपयोग करवाता था। इसीलिये गुरु एवं पुरोहित एक ही होने में अनेक व्यावहारिक सुविधाएं रहती थीं।

विष्णुधर्मसूत्र, कौटिल्य, कामन्दक, याज्ञवल्क्य, मनु, युक्तिकल्पतरु, महाभारत, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अग्निपुराण, गरुड़पुराण, शुक्रनीतिसार, आदि अनन्त धर्मशास्त्रीय स्रोतों में पुरोहित के लक्षण कर्म तथा उपयोगिता का विवरण उपलब्ध होता है। तदनुसार उपर्युक्त कतिपय विशेषताओं के अतिरिक्त पुरोहित को वेद, वेदाङ्ग, इतिहास, धर्मशास्त्र, दण्डनीति, ज्योतिष, अथर्वानुसार शान्तिपुष्टि, विविधविद्या, कर्मकाण्डादि में पारङ्गत होने के साथ ही उच्चकुलीन तथा शालीन एवं तपःपूत होना भी अनिवार्य था। उसकी वृत्ति सात्त्विक तथा वह संयमी होना चाहिए। वह आशीर्वादों की वर्षा किया करता था।[1] पुरातन युग में ऋषि अथवा ऋषितुल्य राजकीय अतिथियों का स्वागत भी पुरोहित ही करता था। शाकुन्तल का पञ्चमाङ्क इसका प्रमाण है।

शिष्य की योग्यता के अनुसार गुरु तथा पुरोहित के कर्त्तव्य होते थे। योगीराज श्रीकृष्ण को यज्ञोपवीत के अवसर पर मंत्र उनके गुरु तथा ऋषि सान्दीपनि ने दिया था, पुरोहित गर्ग ने नहीं।[2]

---

१ वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो जपहोमपरायणः।
आशीर्वादपरो नित्यमेष राजपुरोहितः॥

भोजराज, चाणक्य राजनीतिशास्त्र, ५।१०

२ गायत्रीं च ददौ ताभ्यां मुनिः सान्दीपनिस्तदा।

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, १०१।१०२,

कई स्थानों पर ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि एक ही राजा के दो पुरोहित होते थे। परन्तु ऐसे उल्लेखों का भी अभाव नहीं, जिनके अनुसार दो-दो राजाओं का पौरोहित्य कर्म एक ही ब्राह्मण करता हो।[1] रघुवंश[2] में उल्लेख है कि राज्याभिषेक काल में द्विजजन पुरोहित को आगे रखते थे। श्रीकृष्ण स्वयं को, पुरोहितों में प्रमुख, बृहस्पति कहते हैं:- पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।[3]

वैदिक युग में विचक्षण ब्राह्मण अथवा ऋषि को पौरोहित्य का पद प्रदान किया जाता था। पुरोहित के पद ग्रहण करते समय 'बृहस्पतिसव' नामक वैदिक विधि होती थी। ऐसी विधि अन्य मन्त्रियों के लिये विहित नहीं थी।[4] कौटिल्य का काल पुरोहित अन्य राजकीय उच्चाधिकारियों के समान ही वेतन भोगी था। यद्यपि इसके आदर में न्यूनता नहीं आने पाई थी। ऋत्विक, मन्त्री, आचार्य, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता तथा रानियों को ४८००० पण मासिक वेतन प्राप्त होता था। कौटिल्य के अनुसार अधिक वेतन पाने से इन लोगों के राजाविरोधी षड़यन्त्र अथवा लोभ में फंसने की सम्भावना नहीं रहती थी। अनुचित मार्ग अपनाने अथवा अपराधी होने पर कौटिल्य (९।३) तथा मनु (८।३५५,९।२३४) दोनों ही पुरोहित को बन्दी बनाने, निर्वासित करने अथवा दण्डित करने की सम्मति देते हैं।[5]

राष्ट्र के संरक्षक पुरोहितों के चरित्र का दूसरा पहलू भी अनुपलब्ध नहीं है जिसमें अन्यायी, लोभी, दुश्चरित्र तथा हीन वृत्ति के पुरोहितों के दर्शन होते हैं। जो जातक पुरोहितों को उचित न्याय दिलाने वालों के रूप में स्मरण करते हैं वे ही उपर्युक्त दुर्गुणों के उद्घाटन में भी तत्पर रहे। सातवीं सदी के दण्डी के दशकुमारचरित[6] में एक धूर्त तथा ठग पुरोहित का उल्लेख उपलब्ध होता है। अयोग्य राजा को ठगने के लिये, रात्रि के अंतिम आठवें प्रहर में पुरोहित आकर उसे कहता है कि आज उसने बुरे सपने देखे हैं, ग्रह भी अच्छे स्थान पर नहीं हैं, अशुभ शकुन हो रहे हैं-इन्हें शांत करना चाहिये। सारा होम स्वर्ण से ही सम्पन्न होगा। ऐसा होने पर ही कर्म का फलदायी होना सम्भव है। साथ में आये ब्राह्मण ब्रह्मकल्प हैं। इनके द्वारा सम्पन्न प्रजनन कल्याणतर होगा। ये प्राजक वैसे भी दारिद्रय से कष्टमय जीवनयापन कर रहे हैं। अधिक सन्तति वाले इन प्राजकों ने अत्यन्त योग्यता होने पर भी श्रीमान् का अनुग्रह नहीं पाया। इन्हें दान देने से स्वर्गीय सुख,

---

१ राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता

२ रघुवंश, १७।१३

३ भगवद्गीता, १०।२४

४ अल्तेकर, पूर्ववत्, पृ० ४०

५ काणे, पा० वा०, धर्मशास्त्र का इतिहास, (हिन्दी अनुवाद) द्वितीय भाग, पृ० ६३०-३५

६ दण्डी, दशकुमारचरित, अष्टम उच्छ्वास

दीर्घायुत्व तथा अरिष्ट–नाश सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार राजा के द्वारा अधिकाधिक दान दिलवाकर पुरोहित उन ब्राह्मणों से बाद में चुपके से उपांशु (घूंस अथवा उत्कोच) खा जाता है।

किसी भी काल अथवा अवस्था में ऐसे हीनवृत्तिजनों का कभी अभाव नहीं रहा, जो सारे परिवेश को दुर्वत्त का भाजन बनाने के आधार बन गये हैं। नीच कृत्यों में भाग लेना, अनाचार के कारण रोष का आधिक्य होना, अश्वमेध प्रभृति यज्ञों तथा परवर्तीयुग में कौल तथा शाक्त प्रभावों से विविध प्राणियों की बलि देने से एवं उपर्युक्त प्रकार से चौर क्रिया करने से ही परवर्ती जनता की पुरोहितों में श्रद्धा नहीं रह गयी। यही कारण है कि ऐसे ही भुक्तभोगी श्रद्धाहीन किसी विरोधी ने पुरोहित शब्द की निरुक्ति करते हुए अपने हृदय के कलुष को उगलने का साहस भी किया। तदनुसार पुरीष, रोष, हिंसा तथा तस्कर–इन चारों शब्दों के प्रथमाक्षरों का क्रमशः संग्रह करके विधाता ने 'पुरोहित' का निर्माण किया।[1]

पुरीषस्य च रोषस्य हिंसायास्तस्करस्य च।
आद्याक्षराणि संगृह्य वेधाश्यचक्रे पुरोहितम्॥

परन्तु अपवाद सर्वत्र तथा सर्वदा रहे हैं। ऐसे उदाहरण अपवाद रूप में ही पाये जा सकते हैं।

कभी-कभी विभिन्न कारणों से आन्तरिक द्वेष भी ऐसी हीन भावनाओं को व्यक्त करने के लिये विवश कर देते हैं। पुरोहितों के प्रभावाधिक्य से, प्राङ्मौर्ययुगीन (ई० पू० छठी सदी के लगभग) राजकीय परिवेश त्रस्त हो चुके थे। इन्हीं पुरोहितों के प्रभावों पर आघात करने के लिये, कर्मकाण्डों तथा ब्राह्मणों के प्रभाव को समाप्त करने के लिये, प्रतिक्रिया रूप में बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध साहित्य पुरोहित तथा उनके कर्मों पर कीचड़ उछालने में पीछे नहीं रहा। उदाहरणार्थ 'दशब्राह्मण जातक' में राजा के ब्राह्मण विरोधी कान भरते हुए कहा गया है कि पुरोहितों के घर में कटे हुए पशु पड़े हैं फिर भी ये स्वयं को ब्राह्मण कहते हैं। ऐसी ही विरोधमूलक तथा एक–दूसरे को लोक दृष्टि में गिराने की प्रवृत्तियां कभी सत्य तथा कभी काल्पनिक घटनाओं को उदाहृत करती रहीं।

कभी-कभी वास्तविक अर्थ में परिवर्तन कर, किसी निश्चित शब्द को ऐसे भिन्नार्थ में प्रयोग करने लग जाते हैं जिससे किसी जाति अथवा धर्म पर कीचड़ उछल सकें। "चतुर्माणी' में बौद्धधर्ममूलक ऐसे शब्दों का अभाव नहीं, जिनमें अर्थभेद करके इस धर्म का उपहास किया गया।[2] बौद्धधर्मावलम्बी सम्राट अशोक की "देवानां प्रियः" उपाधि को

---

१ सुभाषित–रत्न–भाण्डागार, ४५।१

२ श्रृङ्गारहाट, (सम्पादक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एवं डॉ० मोतीचन्द्र) परिशिष्ट ३

ब्राह्मण शास्त्रकारों ने "मूर्ख" अर्थ में प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया।[1] फलतः परवर्ती लोक तथा साहित्य में वह इसी अर्थ में रुढ़ हो गयी। भोज ने तो अवमानद्योतन के लिये अपने व्याकरण ग्रन्थ "सरस्वतीकण्ठाभरण" में "देवानां प्रियः" को सूत्र रूप में ही प्रस्तुत कर दिया। ऐसी ही प्रवृत्ति पुरोहितों के प्रति बौद्धों की भी रही।

वस्तुतः मुस्लिमकाल में तथा भारत के स्वतन्त्र होने पर्यन्त राजकीय दृष्टि से पुरोहित का सदा महत्त्व रहा ही है। वैदिक अथवा मौर्ययुगीन पुरोहितों जैसी महत्ता तो अब नहीं रह गयी, परन्तु धार्मिक तथा न्यायप्रभृति कर्मों में वे अब तक प्रमाण माने जाते रहे हैं। हिन्दू नृप ही नहीं, नवाबों के दरबारों में भी हिन्दू धर्म तथा विधान के ज्ञाता धर्मशास्त्रियों की नियुक्ति पारम्परिक रूप से इसी स्थान की पूर्ति के लिये होती थी।[2]

स्वतन्त्र भारत में भूतपूर्व राजाओं, जमींदारों तथा ठाकुरों के आश्रित पुरोहितों का केवल धार्मिक महत्व रह गया है। विशेष आय, पद तथा सम्मान के अभाव में न आश्रयदाताओं को तथा न आश्रितों को परस्पर विशेष रुचि रही है।

१२, वीर दुर्गादास मार्ग, उज्जैन।
(मध्य प्रदेश)

---

१ पाणिनि, अष्टाध्यायी ६।३।२१ पर वार्तिक—देवानां प्रिय इति च मूर्खे।

२ भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व तक भोपाल के नवाबों के यहां हिन्दू—न्याय—ज्ञाता 'धर्मशास्त्री' की नियुक्ति होती रही।

● डॉ० महावीर प्रसाद शर्मा

मेवाती बोली का प्रामाणिक व्याकरण

मेवाती राजस्थानी की ही बोली नहीं है बल्कि उस संधि-स्थल की बोली है जहां पश्चिमी अपभ्रंश से व्युत्पन्न बांगरु, ब्रज एवं राजस्थानी का त्रिवेणी संगम है। हिन्दी भाषी को राजस्थानी भाषा समझने के लिए मेवाती के सिंहद्वार से प्रवेश करना पड़ेगा।

'मेवात' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'मेदत्रा' शब्द से हुई है। 'मेवात' शब्द में 'ई' प्रत्यय लगाने पर मेवाती (वि०) 'मेवात का' तथा (स्त्री०) 'मेवात प्रदेश की बोली' होता है। मेवाती को कुछ विद्वानों ने 'बिघोता की बोली' एवं 'अलवरी' भी कहा है।

वर्तमान में मेवाती बोली का क्षेत्र हरियाणा के जिला गुड़गांव (नूह, फिरकाफिरोजपुर तहसीलें), उत्तर प्रदेश के जिला मथुरा (कोसी एवं छाता तहसीलों का पश्चिमी प्रदेश), और राजस्थान में जिला भरतपुर (कामा, नगर तहसीलों का पश्चिमी अंचल) एवं जिला अलवर (रामगढ़, तिजारा, किशनगढ़, अलवर, लक्ष्मनगढ़, गोविन्दगढ़ तहसीलें) तक विस्तृत है। १९६१ ई० तक इसके वक्ताओं की संख्या ७० हजार के लगभग थी।

मेवाती के उत्तर में हरियाणी, दक्षिण में डांगी, पूर्व में ब्रज तथा पश्चिम में अहीरवाटी बोलियां हैं। इसकी छः उपबोलियां हैं—

(१) कठेर, (२) भयाना, (३) आरेज, (४) नहेड़ा, (५) बिघोता, (६) खड़ी मेवाती।

(१) कठेर मेवाती

भरतपुर के उत्तर-पश्चिम तथा अलवर के दक्षिण पूर्व में 'कठेर' क्षेत्र में प्रचलित है।

(२) भयाना मेवाती

भरतपुर की तहसील कामा के दक्षिण में जुरहेड़ा से लेकर होडल तक प्रचलित। यह क्षेत्र 'बयाना' या 'भयाना' कहलाता है। इस पर ब्रजभाषा की ठाड़ी बोली का प्रभाव है।

(३) आरेज मेवाती

हरियाना के जिला गुड़गांव एवं महेन्द्रगढ़ तक है। खड़ी बोली हिन्दी और दखिनी हिन्दी के निर्माण में आरेज मेवाती भाषियों का बहुत बड़ा हाथ है।

(४) नहेड़ा मेवाती

जिला अलवर की थानागाजी तहसील में प्रचलित। इस क्षेत्र को 'नहेड़ा' कहा जाता है।

(५) बिघोता मेवाती

यह जिला अलवर की किशनगढ़, मुंडावर, बानसूर तहसीलों में बोली जाती है। इस पर अहीरवाटी (राठी) का बहुत प्रभाव है।

(६) खड़ी मेवाती

परिनिष्ठित या खड़ी मेवाती केन्द्रीय मेवात की बोली है। इसका केन्द्र अलवर है। साथ क्षेत्र जिला गुड़गांव-भरतपुर तक विस्तृत भी है। इस भू-भाग की खड़ी मेवाती के दो उपरूप है--

(क) मेव मेवाती,
(ख) ब्राह्मणी मेवाती।

मेव मेवाती के वक्ताओं में अधिकांश मेव, खानजादा, सैयद आदि मुस्लिम जातियां हैं तथा ब्राह्मणी मेवाती में इतर हिन्दू जातियां। इन दोनों उपरूपों में कोई विशेष अंतर नहीं है। फर्क केवल लब्ज के लहजे का है। अर्थात् केवल उच्चारणगत अन्तर है। मेव मेवाती का शब्दकोश अरबी-फारसी मिश्रित है, जबकि ब्राह्मणी मेवाती का शब्दकोश अधिकांश में भारतीय आर्य भाषाओं की शब्दावली से मिश्रित है। मुख्य अन्तर कर्मकारक की विभक्ति को लेकर है। समझने के लिए यह अन्तर निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा—

(क) मेव मेवाती

तोलू मैंने कही ही, नूलू कहा जारो है।
(तुझको मैंने कहा था, इधर कहां जा रहा है ?)

(ख) ब्राह्मणी मेवाती

तोकू या तोय मैंने कही ही, नूकू कहा जारो है।

किन्तु आज ज्यों-ज्यों शिक्षा का विस्तार होता जा रहा है बोलियों का यह भेद उतना ही कम होता जा रहा है। कई बार तो एक साथ दोनों ही रूपों का प्रयोग सुनने को मिलता है। मेवाती का यह शुद्ध एवं स्वतन्त्र रूप है। हमारा विवेच्य भी यही खड़ी या शुद्ध मेवाती है। साहित्यिक दृष्टि से मेवाती का अधिकांश साहित्य सन् १९४७ के भारत पाक विभाजन के समय मेवों के पाकिस्तान जाते समय नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया था या हो गया था। अतः बहुत कम साहित्य देखने में आता है। विशेष रूप से सन्त-साहित्य सुरक्षित रहा। इसमें लालदासी, चरणदासी, एवं भीक आदि सम्प्रदायों एवं सन्तों का साहित्य है। इसके अतिरिक्त कुछ शिलालेख, ताम्रपत्रादि भी हैं। किन्तु लोक साहित्य की दृष्टि से यह बोली अत्यधिक सम्पन्न है। लोक साहित्य की संक्षिप्त जानकारी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अपने अनेक लेखों के माध्यम से विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत की जाती रही है।

मेवाती की सामान्य विशेषताएँ

(क) ध्वन्यात्मक:-मेवाती ओकारान्त बोली है। हिन्दी की प्रायः सभी आकारान्त संज्ञाएँ एवं भूतकालिक आकारान्त क्रियाएँ ओकारान्त हो जाती हैं। यथा-संज्ञाएँ-भेड़ियों, बिटोड़ो, मैंणो, पालो, कागलो आदि।

क्रियाएँ-चलो (चला), मरो (मरा), गयो (गया), पकड़ो (पकड़ा) आदि।

'अ' स्वर ध्वनि का खड़ी मेवाती में क्रमशः आ, इ, उ स्वर ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। यथा-सूर=सूरा, हंस=हंसा, मोर (मयूर)=मोरा, जलूस=जिलसा जमा=जिमा, खजूर=खिजूर, सरकारी=सिरकारी, नकुल=नुकल, सम्मुख=सुनमक आदि।

इ का ए, उ का अ, ऋ का इर या इ, ई हो जाता है। यथा-चतुराई=चतराई, नकुल=नुकल, नियम=नेम, मृग=मिरग, शृंग=सींग आदि।

खड़ी मेवाती में प्रायः समस्त अल्पप्राण व्यंजन ध्वनियाँ महाप्राण में परिवर्तित हो जाती हैं। साथ ही कहीं-कहीं इसके विपरीत भी सुनने को मिलता है। अनुनासिक अल्पप्राण वर्त्स्य 'न' का मेवाती में अनुनासिक अल्पप्राण मूर्द्धन्य 'ण' पार्श्विक, अल्पप्राण, वर्त्स्य 'ल' स्पर्श, अल्पप्राण, दन्त्य 'द' तथा कण्ठ्य 'ड़' के रूप में परिवर्तन हो जातो है। अन्य ध्वनियों में 'म' का 'व', 'य' का 'इ', 'ज' 'व' तथा 'ह' 'र' का 'ड़' एवं 'ल्', 'न' का 'र', 'ल' 'व' का 'उ', 'ऊ', 'ओ', 'औ', 'ब', 'म' तथा 'श', 'ष' का 'स' रूपों में परिवर्तन हो जाता है। इनमें से अधिकांश ध्वनियाँ पश्चिमी राजस्थानी में भी देखी जा सकती है।

संयुक्त व्यंजन ध्वनि स्क, स्म, स्त, स्व, का 'ख' तथा 'सु' रूप में परिवर्तन एवं क्ष का क, ख रूप में परिवर्तन भी दृष्टव्य है। शब्द रूपों में द्वित्व की प्रवृति देखी जाती है। सामान्यतः 'कोई' का प्रयोग 'क्या' अर्थ में किया जाता है। 'ल' का उच्चारण 'ड़' की तरह होता है। जैसे-भोलानाथ=भोड़ानाथ। इनके अतिरिक्त क्रियाविशेषणों का प्रयोग भी मेवाती का अपना है। इस सम्बन्ध में हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी, उर्दू, दक्खिनी हिन्दी, ब्रज, हरियानवी एवं राजस्थानी को समझने के लिए मेवाती व्याकरण का समझना बहुत आवश्यक हो जाता है। कोई भाषा केवल शब्द-समूह मात्र ही नहीं होती। उसका एक आकार-प्रकार होता है जो उसकी ध्वन्यात्मक विशेषताओं से ही बनता है। यही किसी भाषा का असली ढांचा हो सकता है।

खड़ी मेवाती बोली का नमूना:-　　　　पद्य

कठ घोटणियाँ संवत पड़गो मरजी है करतार की।
धरती रुखड़ा सूखगा, पामर लीलो कच्च है।

घणों अबीड़ो औसर दखियो, अक्कल सबकी जच्च है।
घच्च मनीदो हवा हो गयो, टूकन का बी लाला है।
घणा कुटकबा कू न रहा है, कैसा नरम निवाला है।

गद्य (वाक्य)

१. बाड़ी सूधा नाम क्यो ना लेव मोलूं, अर्जन कहवा करें।

२. मोलूं (मेरे लिए) हीन (यही), हद (अच्छा, ठीक) लगे पर तोलूं (तेरे लिये) नूं (यों) बूझूं कि काकिर कुणसों (किससे) कहें।

३. मोलूं बी हीं (यह) तो गपोड़ा ही मालम पड़ै।

४. वाड़ी ई सौकत भी डाढी नहीं रखावा न मूछों का खत कराया।

५. अरा वाडी, ऊ छोरो तो बड़ा ऊत है, मेरे पई (पास) आकर ऊ जद तद इसी बात गढबा करै।

६. वाडी, चला चौब्बा से छब्बा होने पर दुब्बा भी न रहा।

मेवाती व्याकरण

वचनः--

मेवाती अकारान्त पुल्लिग रूप दोनों वचनों में पाये जाते हैं। यथा--

ए. व.	ब. व.
हात	हातां
बरस	बरसां
घर	घरां

एक वचन से बहुवचन बनाने की प्रक्रिया जयपुरी में भी पाई जाती है। मेवाती में बहुवचन शब्दों में 'न' या 'अन' का प्रयोग भी किया जाता है। यथा--

ए. व.	ब. व.
सरदार	सरदारान
टूक	टूकन
रूख	रूखन

आकारान्त शब्दों के ब. व. रूपों में भी 'न' का प्रयोग किया जाता है--

गलियारा	—	गलियारान
कुत्ता	—	कुत्तान
चेला	—	चेलान

यहां हम यह बता देना चाहते है कि मेवाती बहु वचन के आ, आं रूप पश्चिमी राजस्थानी के समान ही प्रयुक्त होते हैं।

ईकारान्त पुल्लिग शब्दों के ब. व. रूपों में 'ई' का 'इयां' एवं 'या' रूप बनते हैं। यथा--

चौधरी–चौधरियां, छतरी–छतरियां, जोगी–जोगिग्रां धणी धणियां, हाली-हाल्यां आदि.

अकारान्त शब्दों की तरह उकारान्त पुल्लिग शब्दों में भी ब. व. बनाने हेतु 'न' का प्रयोग किया जाता है। यथा—

आलू–आलून, गींहू-- गींहून. चक्कू चक्कून, पंखेरु–पंखेरुन। ओकारान्त पुल्लिग शब्दों में ब. व. में 'आ' हो जाता है। यथा--

बिनजारो–बिनजारा, नागो–नागा, भायलो–भायला।

अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में मेवाती एक वचन संज्ञाओं में पुल्लिग की ही तरह ब व. बनाते समय–'न' का प्रयोग किया जाता है।

यथा–औरत–औरतन, बात–बातन, चीज–चीजन आदि। राजस्थानी में 'न' के स्थान पर 'आं' रूप का प्रयोग किया जाता है।

आकारान्त स्त्रीलिंग ए. व. रूपों को ब. व. बनाते समय 'यां' अथवा 'आं' का प्रयोग किया जाता है। ईकारान्त स्त्रीलिंग रूपों का ब. व. बनाने के लिए 'इन' का प्रयोग किया जाता है। उकारान्त में ब. व. में 'उवां' हो जाता है।

उपर्युक्त अविकृत संज्ञा शब्दों की तरह विकृत संज्ञा शब्दों के भी वचन रूप बनाने के लिये कुछ प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। अकारान्त. आकारान्त, ईकारान्त. ऊकारान्त, विकृत संज्ञा शब्दों के ब. व. रूपों के में 'न' प्रत्यय लगा दिया जाता है। यथा–मेव–मेवन, घर–घरन, फल–फलन, दालका–दालकान, बच्चा–बच्चान, कचरा–कचरान, वैरी–वैरीन, भाई–भाईन, बराती–बरातीन, लड्डू–लड्डून आदि।

इसी प्रकार विकृत स्त्रीलिंग रूपों में भी एक वचन से बहुवचन बनाते समय अकारान्त व ईकारान्त शब्दों में 'न' प्रत्यय लगा दिया जाता है। यथा--

किताब-किताबन, नैत-नैनन, मूंछ-मूंछन, रोटी-रोटीन, छोरी-छोरीन।

लिंग

अन्य बोलियों की तरह मेवाती में भी दो ही लिंग-पुल्लिग एवं स्त्रीलिंग होते हैं। समस्त प्राणी अथवा अप्राणीवाचक संज्ञाएं इन्हीं दो लिंगों में विभक्त की जाती हैं। सामान्यतः

मेवाती में पुल्लिग से स्त्रीलिंग रूप बनाते समय निम्नलिखित प्रत्यय प्रयुक्त किये जाते हैं—
ओकारान्त पुल्लिग शब्द का ईकारान्त स्त्रीलिंग बन जाता है। यथा—

मावसो–मावसी, भाणजो–भाणजी, आंदो–आंदी, घोड़ो–घोड़ी।

अकारान्त पुल्लिग का स्त्रीलिंग बनाते समय–'नी' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यथा—
ऊंट-ऊंटनी, मेव–मेवनी, मोर–मोरनी।

कभी–कभी 'नी' के स्थान पर 'आणी' प्रत्यय का भी प्रयोग किया जाता है। यथा—
पंडत–पंडताणी, बैंद–बैंदाणी, जेठ–जिठाणी, मुगल–मुगलाणी।

मेवाती में ईकारान्त पुलिंग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए–अण प्रत्यय का भी प्रयोग किया जाता है—यथा–पड़ोसी–पड़ोसण चौधरी-चौधरण। इसी प्रकार ओकारान्त शब्दों में भी होता है।

लिंग परिवर्तन की दृष्टि से मेवाती में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होते हैं जिनके मूल लिंग वर्तमान लिंग से एकदम भिन्न रूप में प्रयुक्त होते थे। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	मेवाती
अक्षि (नपु०)	आंख (स्त्री०)
बाहु (पु०)	बांह (स्त्री०)
अंत्र (नपु०)	आंत (स्त्री०)
वस्तु (नपु०)	बस्त (स्त्री०)
गो (पु०)	गऊ (स्त्री०)
मधु (नपु०)	मोहु (पु०)
तनु (स्त्री)	तन (पु०)

विदेशी शब्दों का लिंग निर्धारण भी मेवाती में मेवाती–व्याकरण से ही अनुशासित रहता है।

विभक्तियाँ

कर्ता (कर्मणी भावे)	— नें, ने
कर्म	— कू, कूं, को, नै, लू।
करण	— तें, पै, सू, सूं, सै, सैं, सेती।
सम्प्रदान	— कू, कूं, को, लू।
अपादान	— तें, सूं, सू, से।
संबंध	— का, की, के, को।
अधिकरण	— ऊपर, पर, मै, मांय, मां, माही।
संबोधन	— अरा, आर, अरे, रै।

सर्वनाम

सर्वनाम	वचन	मूलरूप	विकृत रूप	संबंध		
पुरुषवाचक						
उत्तमपुरुष	एक वचन	मैं, हूं	मो, मोकू, मुज, मोय, मोलू मूनैं, मोहि	मेरा, मेरे, मेरो		
	बहु वचन	हम,हमन, म्हे	हम, हमीं, म्हाने	म्हारो, हमारा, हमारे म्हांका		
मध्यमपुरुष	एक वचन	तू, तैं	तो, तोह तोहि, तोइ	तेरी, तेरा, तोय, तेड़ी, तेरै		
	बहु वचन	तम, तुम	थांनै, थे	थांका, तिहारो, तिहारे, तुम्हारो		
निश्चयवाचक-						
दूरवर्ती	एक वचन	सो, वो, ऊ	वा, वाय, वैंह, वाई, वो, वैं	–	–	–
	बहु वचन	वै, वो	वैंह, उन	–	–	–
निकटवर्ती	एक वचन	यो,ई-यह,या	या, यायी, याय, यी,	×	×	×
	बहु वचन	ये	इन	×	×	×
अनिश्चय-वाचक	एक वचन	कोइ, कोई, कोय, काय, कछु, किमैं	किसी, कस, काई	×	×	×
	बहु वचन	कोई	किन	×	×	×
प्रश्नवाचक	एक वचन	कौण, को,	कुण, कोण, कोन	×	×	×
	बहु वचन	कौण	वुण	×	×	×
संबंधवाचक	एक वचन	जो	जा	×		
	बहु वचन	जो	जिन	×		
निजवाचक	ए.व.,ब.व.	आपन, अपनै अपणा,अपणू आपां,अपणो	×	×		
नित्य संबंधी	ए.व.,ब.व.	सो	×	×		

विशेषण

मेवाती में विशेषण रूप प्रायः ओकारान्त ही रहते हैं। स्त्रीलिंग में ईकारान्त हो जाते है। उदाहरणार्थ—

(१) धौली चादर ओड कै वे नर सो गया खूंटी ताण।
(२) ज्वार वाजरो ऐगलों-वेगलों मोठ पकी भारी मोटी।
(३) ओलाती सूखी की सूखी आँखन में बरसात है।

सादृश्य सूचक विशेषण–सा

संज्ञा या सर्वनाम पदों के साथ सादृश्य बोधक–सा-पद का प्रयोग किया जाता है। यथा—

(१) गरव करा सू हार गया रावण सा जोधा।
(२) जाकट सी लिपटी रहे मेरे मरे चले की साथ।

आधिक्य सूचक–सो

(१) तू छोटो सो ज्यानभर कहा तू आडे रोपे है पांव।
(२) आर मोटो सो डंडा लेकर बाड़ी में भगो।

तुलनात्मक विशेषण–तमवन्त

(१) कहा नांव कहा गांव है, सुग उत्तम घर की नार।
(२) उत्तम घर को कंवर है राजथान कोइ गांव।
(३) ई सबसू बड़ी चीज है हूंण।

तरवन्त–

मेवाती में तुलना के भाव को व्यक्त करने के लिए संज्ञा पद के बाद–सू–का प्रयोग होता है। जैसे—

(१) तोसू प्यारो कौण है जासू मैं भर देखू नैणा।
(२) सबल एक सू एक है सबको घटो गुमान।

इसके अतिरिक्त बहोत, घणा, घणी, घणो, घणोणोई, वेहतर आदि का भी प्रयोग किया जाता है। जैसे—

(१) भोटिया ही सुन्दर घणी।
(२) नदी में पाणी घणोणोई है।
(३) वासू बहोत बढिया है।
(४) खारी सू बेहतर सिन्दूक है।

सार्वनामिक विशेषण—

पुरुषवाचक और निजवाचक सर्वनामों के अतिरिक्त प्रायः सभी सर्वनाम वस्तुतः विशेषण है। सार्वनामिक विशेषण मेवाती में ओकारान्त ही होते हैं। इनके रूप संज्ञा पदों के साथ लिंग, वचन, कारकानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। मेवाती में मूल सार्वनामिक विशेषण दो प्रकार के हैं—

(१) परिमाण वाचक
(२) गुण वाचक

परिमाणवाचक सार्वनामिक विशेषण निम्नलिखित हैं–

इतनों, इतना, इतेक, उतनो, जितनो, जेते, कितनो, कितेक। उदाहरण–

(१) इतनी बात गदन सू भई अलवर गढ के पास।

(२) इतना अर्सा में ऊ महर बी आगो।

(३) उतनो ही ढमलो भर लियो।

(४) जितनो हो उतनो दे दियो।

(५) कितनो सारो नाज को थोड़ो सोई दियो।

(२) गुणवाचक सार्वनामिक–

ऐसो-हुकुम खुदा को ऐसो हुवो वाको सिर जुड़गो।

वैसो–मोलू ऐसो-वैसो ना समझ।

जैसो–जैसो मन में तू बणों ऐसो ही हो आप।

कैसो--कैसो हा तू जोधिया कैसो हा बलवान।

राजस्थानी मारवाड़ी में इनके स्थान पर इस्यो, विस्यो, जिस्यो, किस्यो का प्रयोग होता है।

संख्यावाचक विशेषण-मेवाती में प्रायः सभी संख्यावाचक विशेषण प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की देन हैं, जो यत्किंचित उच्चारण भेद से समान ही पाये जाते हैं।

क्रिया

मेवाती में क्रिया का निर्माण धातु के अन्त में 'णो' प्रत्यय लगाकर किया जाता है। जैसे-खा णो=खाणो, बस-णो=बसणो। पद्य में क्रिया के ये रूप निम्न प्रकार प्रयुक्त होते हैं--

क्या बालू की भींत, कहा पर भुम को बसणो।
क्या कल्लर को खेत, कहा बिपता को हँसणो।

किन्तु गद्य में-णा-का प्रयोग होता है। यथा--

खाणा-पीणा में कमी ना रही।
हम मरणा-मारणा में सब एक हाँ।

क्रिया के काल--सहायक क्रिया–'होणो'

मेवाती में सहायक क्रिया के रूप में 'होणो' क्रिया का प्रयोग होता है। यह संस्कृत अस् से व्युत्पन्न है। कहीं-कहीं 'होणो' के स्थान पर 'होणो' भी प्रयुक्त होता है। अहीरवाटी में अस् का-स-रूप प्रयुक्त होता है। मेवाती के मूल एवं भविष्यत् के रूपों में 'भू' से उत्पन्न 'हो' के विभिन्न रूप प्रयुक्त होते हैं, जबकि अहीरवाटी में-स्था से उत्पन्न 'थ' रूप प्रयुक्त होते हैं। 'होणो' सहायक क्रिया के विभिन्न रूप निम्न प्रकार है-

काल नाम	वचन	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
वर्तमान निश्चयार्थ	ए. व.	हूं	है, हा	है
	ब. व.	हां	हो	हैं
भूत निश्चयार्थ	ए. व.	हो	हो	हो
	ब. व.	हा	हा	हा
भविष्य निश्चयार्थ	ए. व.	हूंगो	व्हागो	व्हैगो
	ब. व.	व्हांगा	होगा	व्हैंगा
वर्तमान आज्ञा	ए. व.	हूं	व्हा	व्है
	ब. व.	व्हां	हो	व्हैं
भूत संभावनार्थ	ए. व.	होतो	होतो	होतो
	ब. व.	होता	होता	होता

मेवाती काल-रचना (मूल काल)

'चलणो' क्रिया

काल नाम	वचन	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
सामान्य वर्तमान	ए. व.	चलूं	चलै	चलै
	ब. व.	चलाँ	चलो	चलैं
वर्तमान आज्ञार्थक	ए. व.	चलूं	चल	चलै
	ब. व.	चलैं	चलो	चलैं
भविष्यत्	ए. व.	चलूंगो	चलागो	चलैगो
	ब. व.	चलंगा	चलागो	चलंगा
सामान्य भूत	ए. व.	चलो	चलो	चला
	ब. व.	चला	चले	चले
कारणात्मक भूत	ए. व.	चलतो	चलतो	चलतो
	ब. व.	चलता	चलता	चलता

भविष्यद् आज्ञार्थक:—भविष्यद आज्ञार्थक रूप मेवाती में अकारान्त धातुओं में—'ईयो' एवं एकारान्त धातुओं में 'ईजो' प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं। यथा—

सबन सु राम राम ख दीजो।

(क) घटमान काल समूह

काल नाम		वचन	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
(१)	घटमान वर्तमान	ए. व.	मैं (हूं) चलूं हूं	तू चलै है	ऊ (वो) चलै है।
	(मैं चलता हूं)	ब. व.	हम चला हां	तम चलो हो	वै चलै हैं
(२)	घटमान भूत	ए. व.	मैं चलै हो	तू चलै हो	ऊ वो चलै हो
	(मैं चलता था)	ब. व.	हम चलै हा	तम चलै हा	वै चलै हा
(३)	घटमान भविष्यत्	ए. व.	मैं चलतो हूगो	तू चलतो व्हागो	वो चलतो व्हैगो
	(मैं चलता हूंगा)	ब. व.	हम चलता व्हांगा	तम चलता होगा	वै चलता व्हैंगा।
(४)	घटमान संभाव्य वर्तमान	ए. व.	जै मैं चलतो हूं	जै तू चलतो व्हा	जै ऊ (वो) चलतो व्हैं।
	(मैं चलता होऊँ)	ब. व.	जै हम चलता व्हां	जै तम चलता हो	जै वै चलता व्हैं।
(५)	घटमान-संभाव्य-प्रतीत	ए. व.	जै मैं चलतो व्हैतो	जै तू चलतो व्हैतो	जै वो चलतो व्हैतो
	(मैं चलता होता)	ब. व.	जै हम चलता व्हैता	जै तम चलता व्हैता	जै वै चलता व्हैता।

(ख) पुराघटित काल समूह

काल नाम	वचन	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	अन्य पुरुष
(१) पुराघटित वर्तमान	ए. व.	मैं चलो हूं	तू चलो है	ऊ चलो है
(मैं चला हूं)	ब. व.	हम चला हाँ	तम चला हो	वै चला हैं
(२) पुरघटित भूत	ए. व.	मैं चलो हो	तू चलो हो	ऊ चलो हो
(मैं चला था)	ब. व.	हम चला हा	तम चला हा	वै चला हा
(३) पुराघटित भविष्यत्	ए. व.	मैं चलो हूंगो	तू चलो व्हागो	ऊ चलो व्हैगो
(मैं चला हूंगा)	ब. व.	हम चला व्हांगा	तम चला होगा	वै चला व्हैंगा
(४) पुराघटित संभाव्य वर्तमान	ए. व.	जै मैं चलो हूं	जै तू चलो व्हा	जै ऊ चलो व्है
(मैं चला होऊं)	ब. व.	जै हम चला व्हां	जै तम चला हो	जै वै चला व्हैं
(५) पुराघटित संभाव्य भूत	ए. व.	जै मैं चलो व्हैतो	जै तू चलो व्हैतो	जै ऊ चलो व्हैतो
(मैं चला होता)	ब. व.	जै हम चला व्हैता	जै तम चला व्हैता	जै वै चला व्हैता

संयुक्त क्रियाएँ

मेवाती संयुक्त क्रियाओं को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) पूर्वकालिक-कृदन्त पदयुक्त:—ये तीन प्रकार की होती हैं—

(क) अवधारण बोधक:— अवधारण बोधक से मुख्य क्रिया के अर्थ में अधिक निश्चय पाया जाता है। निम्नलिखित सहायक क्रियाएं इस अर्थ में प्रयुक्त होती हैं—

उठणो बैठणो, आणो, देणो, लेणो, पड़णो, गेरणो, रहणो, राखणो, तिकड़णो।

(ख) शक्यता बोधक— सक् (णो) क्रिया के योग से निर्मित—

दौड़ सकै, फडा सकै, फड सकै, आन सकै, जा सकै, देख सकै, खा सकै आदि

(ग) पूर्णता बोधक— चुकणो क्रिया के योग से निर्मित—

खा चुकणो, पी चुकणो, रो चुकणो, गा चुकणो आदि।

(२) आकारान्त क्रिया-मूलक-विशेष्य पद युक्त—

(क) अभ्यास बोधक— आकारान्त क्रिया मूलक विशेष्य-पद (भूतकालिक कृदन्त) 'करणो' क्रिया जोड़ने से बनती है—

(i) ऊ जाया करै है।

(ii) ऊठे पढ़्या करिये।

(ख) इच्छार्थक— आकारान्त क्रियामूलक-विशेष्य पद (भूतकालिक कृदन्त) के आगे 'चाहना' क्रिया जोड़ने से बनती है—

(i) वो जाणो चाहवै है।

(३) असमायिका पद-युक्त (या क्रियार्थक संज्ञा) के मेल से बनी—

(क) आरम्भ बोधक—असमायिका-पद के विकारी रूप के साथ 'लगना' क्रिया जोड़ने से निर्मित होती है—

(i) बेचण लगो।

(ii) वैंहनै चूगण चाटण लाग्यो।

(ख) अनुमति बोधक— असमायिका पद के विकारी रूप के साथ 'देना' क्रिया के योग से निष्पन्न होती है—

(i) यानै सूक जाबा दयो।

(ग) सामर्थ्य बोधक (या अवकाश बोधक)—असमायिका पद के विकारी रूप के साथ 'पाणो' क्रिया लगाकर बनती है। यथा—

(i) मूनैं ना दे पाई (मुझको नहीं देने पाई)।

(४) वर्तमानकालिक एवं भूतकालिक कृदन्त युक्त—

(क) निरन्तरता– यह वर्तमान कालिक कृदन्त के साथ 'रहणो' क्रिया के योग से बनती है। यथा —

(i) मैं समेरा को डोल रह्यो हूं।

(ii) ये तो साधु बण रा हा।

(iii) वा रूख मैं बैठो बोल रहो हो।

(ख) प्रगति सूचक— 'जाणो' क्रिया के संयोग से निर्मित।

(i) पाणी बिखर्यो जावे हो।

(ii) सीता गायां जारै ही।

(ग) गति-पूचक– गति-बोधक क्रिया के संयोग से निर्मित—

(ii) ऊ मांगतो डोलै है।

(ii) ऊ भूको मरतो ग्रावै है।

(५) विशेष्य या नाम बोध— यह विशेष्य या विशेषण पद के साथ 'करणो', 'होणो' ग्रोर 'लेणो' क्रियाग्रों के योग से बनती है। यथा–

(i) सुतन्तर पार्टी सू खड़ो हो रहो हूं।

(ii) मस्तक लिख दी राम ने किस पर करां पुकार।

इनके ग्रतिरिक्त कुछ पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएं भी देखने में ग्राती हैं। यथा— घिसड़ती-घिसड़ती, ढूंढता-ढूंढता, पकड़-पकड़, मार-मार ग्रादि।

ग्रव्यय

मेवाती में चार प्रकार के ग्रव्यय रूप पाये जाते हैं—

(i) क्रिया विशेषण,

(ii) समुच्च बोधक,

(iii) संबंध सूचक,

(iv) विस्मयादि बोधक

(१) क्रिया विशेषण– सार्वनामिक क्रिया विशेषणः–

(ग्र) कालवाची– ग्रब, कब, कद, कदी, कदे, जब, जद, तब, तबै।

(ग्रा) स्थानवाची– इत, हीं, हींन, ग्रठ्या, उत, हूं, हूंण, वैठे, ऊठे, वैठ्या, क्हां, कित, कितै, कैठ्या, जहां, जित, जैठ्या, तहां।

(इ) दिशावाची– इतलू, इतकू, हीलू, उरलू उरानै, इंगैलू, ऐठी, हूलू, उतलू, वैठी, उतकू, डूंन, उंगैलू, कितलू, कितकू, कैठी, जैठीनै।

(ई) रीतिवाची– ऐंहन्दा, ऐंहतरा, नूं, न्यू, यूं, यों, वैंहन्दा, वैंतरा, कैंहदा, क्यूं, कैंहतरा, कीं, जैंहदा, ज्युं, जैतरा, ज्यों।

सार्वनामिक क्रिया विशेषणों के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य प्रकार के भी क्रिया-विशेषण पाये जाते हैं–

(क) कालवाची– आज, कल, काल, बै, अमेर-समेर, अंवार, परनू, सकालै, परलै, तरलै, तुरत वर–बरनें, धेरे (प्रातः)

(ख) स्थानवाची–भार (बाहर). भीतर, ऊपर, नीचै, तलै।

(ग) परिमाणवाची– इतनो, कितनो, जितनो, उतनो, वितनो आदि।

(घ) स्वीकारवाची– हम्बै. हां, हं।

(ङ) निषेधवाची– ना. नहीं, मत।

(च) परिमाणवाचक– घणो. जाजा. थोड़ो आदि।

(२) समुच्चय बोधक अव्ययः– और, जो, तो क (कि). पण (फिर). चाहे, आदि।

(३) सबंध सूचकः— इस संबंध में कारक विभक्तियां देखिये।

(४) विस्मयादि बोधकः— हा, ओ-हो, अच्छो,, ऐं, स्याबास, वा भइ वा आदि।

इनके अतिरिक्त आगै, पाछै, कनै. पै आदि क्रिया विशेषण भी हैं।

प्रत्यय एवं उपसर्ग

मेवाती में निम्नलिखित प्रत्यय एवं उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है–

अत—कहत, पूछत, धरत।

अतो—पढतो, खातो. न्हातो, जातो।

अली—दिवाली।

आई—मिठाई. भलाई, सफाई।

आको—सड़ाको. धड़ाको, लड़ाको।

आड़ी—अनाड़, वाड़ी, लबाड़ी, कबाड़ी. खिलाड़ी, गुवाड़ी।

आड़ो—कुहाड़ो, कबाड़ो।

आट. आंट—कुलांट, तलमलाट, झलझलाट, मलमलाट. चिकणाट, कड़वाट।

आटै—तेरे आटै।

आण—मिलाण, बंधाण, लगाण. किसाण।

वाणी. णी, ण, आणी— सेठाणी, ठुकराणी, पंडताणी, जिठाणी, बणियाणी, गुरवाणी, द्योराणी, जाटणी, मरेठण बाह्मणी, मेवणी, डाकण, धोबण, मालण, सेरणी, मीणी, भंगण आदि।

आणो–समझ्याणो, कुक्याणो, डिड्याणो, हिनहिनाणो।

आपो—बुढापो, रंडापो, पुजापो, जापो,।

आयो—हंगायो, मुतायो, पिसायो, तिसायो।

आरो, आर, आरी—खुमार, चिमार, सुनार, जुआरी, पुजारी, पुजारो, बिणजारो।

आल—छिदाल

आलो—सिवालो, जिन्दालो, दिवालो ।

आव—बचाव, झुकाव, छिड़काव, जमाव ।

आवट—सजावट, लिखावट, रुकावट, मिलावट, बनावट ।

आवणो—डरावणो, खिलावणो, सुहावणो, पिलावणो ।

आस—मिठास, पिलास धुलवांस, कड़वांस, खरांस ।

इया, बढिया, घटिया, जैपरियो, दिवालियो, रसोइयो, ढोलकियो, कानवेलियो ।

ई—हांसी, झिड़की, बोली, चैहटी, देसी, मेवाती, कटोरी, चोटी, डिब्बी, खेती, तेली, धोबी, डूमली, बीसी, चालीसी, मास्टरी, डाग्दरी, थाणेदारी ।

ईलो—चमकीलो, जहरीलो, खर्चीलो, गंठीलो ।

ऊ—दुधारु, बिगाड़, खाऊ, कमाऊ, चल्लू, पेटू, रामू ।

ऐऊ—बहणेऊ, नणदेऊ, टहणेऊ ।

एरो—कमेरो, लुटेरो, घणेरो, अंधेरो, मामेरो, भुतेरो ।

एल—बिगड़ेल, खूंटेल, दलेल ।

ऐत—लड़ैत, लठैत, डकैत ।

ओ—बाबो, काको, पोतो, छोरो, फूफो ।

ओकड़ो—हंसोकड़ो, लड़ोकड़ो, पिटोकड़ो ।

ओलो—खटोलो, ढकोलो, ।

ड़ो, ड़, ड़ी-मायड़, कोठड़ी, गठड़ी, मुखड़ो, जीवड़ो, झोटड़ी, रांगड़ी, धीयड़ ।

जो—भाणजो, भतीजो ।

आनो—जुरमानो, हरजानो, निजरानो ।

ई—खुसी, नेकी, बदी, नबाबी, इमामी, दुसमनी ।

खोर—चुगलखोर, हरामखोर ।

गर—सौदागर, कारीगर,

दार—मालदार, चटाकदार, सिरदार, लम्बड़दार, थाणेदार ।

बाज—चालबाज, धोकेबाज, मुकदमाबाज ।

उपसर्ग

अ — अवार, अमेर, अमोलो, अमीता, अलख, अनीत ।

अण— अणजाण, अणगिणत, अणदेख्यां ।

उ — उघाड़ो, उपड़ो, उछटणों, उधेड़ो आदि ।

ओ — ओतार, ओलमो, ओसरो, ओसाण ।

क,कु— कपूत, कसूतो, कुठोड़, कुग्गैले, कुपत्तो ।

बि — बिराणी, बिसरणो, बिछटणो, बिदेस आदि ।

सिन्— सिन्तोख, सिंगासो, सिंजोग ।

कम— कमजोर, कमसल, कमबखत।
गैर— गैरहाजर, गैरमरद, गैरआदमी, गैरमुलक, गैर कौम आदि।
बद— बदनाम, बदमास, बदचलन।
बे — बेहिसाब, बेफिजूल, बेहीमान, बेबात, बेवूप, बेकार आदि।

अन्त में, मेवाती एक स्वतन्त्र बोली है। इसके सम्बध में अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह पश्चिमी हिन्दी-वर्ग के अधिक निकट है। यद्यपि इसमें राजस्थानी की भी अनेक विशेषताओं का ध्वनि और रूपों में समावेश होगया है। किन्तु यह प्रभाव मात्र ही कहना चाहिए। मेवाती की प्रकृति पश्चिमी हिन्दी से अधिक मेल खाती है। यह ठीक है कि मेवाती का साहित्यिक मूल्य कम है। किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि मेवाती में साहित्य-सृजन होता रहा है। 'आठदेसरी गूजरी' नामक रचना से यह सिद्ध होता है। वैसे मेवात प्रदेश में ब्रजभाषा का साहित्यिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभाव रहा है। इसका लोक-साहित्य तो अपना कोई सानी ही नहीं रखता। मेवाती-रतवाई लोक-सगीत अन्यत्र अनुपलब्ध संगीत विद्या कहनी चाहिए। 'मेवणी को गाणो' मेवात की प्रसिद्ध उक्ति है। अस्तु, सक्षेप में हमने मेवाती बोली का परिचय और व्याकरण यहाँ प्रस्तुत किया है। आशा है, विद्वान इसे परखेंगे और अपने सुझावों से अनुगृहीत करेंगे।

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
राजकीय महाविद्यालय, कोटपूतली, राज०

● जमनेशकुमार ओझा

हुरड़ा में पूर्व राजपूत राजनीति एवं सम्मेलन

१८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुगल शक्ति के अवसान के साथ ही भारतीय राजनीति के क्षितिज में दक्षिण की ओर से एक नवीन मराठा शक्ति का अभ्युदय हो रहा था जिसका सामना उत्तरी भारत के समस्त राजस्थान को एवं विशेषत: मेवाड़ को करना पड़ा। यद्यपि मराठों का आतंकपूर्ण प्रवेश राजपूताना के मेवाड़[1] में १७२४ ई० तथा डूंगरपुर व बांसवाड़ा[2] में १७२८-२९ ई० में हो चुका था किंतु राजस्थान में अपना आधिपत्य बढ़ाने के प्रयत्न में जयपुर का सवाई जयसिंह बूंदी की गद्दी के झगड़े में पड़कर मराठा सेना को १७३४ ई० में बूंदी पर चढ़ा लाया।[3] यह प्रथम अवसर था कि मराठों ने राजस्थान के राज्यों के आंतरिक झगड़ों में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया।[4] इससे उत्पन्न भय ने राजपूत राजाओं को सचेत कर, भावी विपत्ति की सम्भावनाओं की ओर विचार करने को बाध्य किया। मेवाड़ का महाराणा जगतसिंह बादशाहत की गिरती हुई दशा से लाभ उठा अपने साम्राज्य की सीमा वृद्धि करना चाहता था और उसने यह भी सोचा कि यदि मालवा पर मरहठे छा गये तो मेवाड़ के पड़ोस में होने के कारण आये दिन हमला करके यहां की शांति भंग करेंगे।[5] मेवाड़ की सीमा पर मराठों के आतंक को देख सवाई जयसिंह को अपने राज्य की सुरक्षा की चिंता होने लगी। वह मालवा को रामपुरा में मिलाकर अपने राज्य की सीमा वृद्धि करके सन् १७०८ ई० की संधि के

---

१ (i) बीकानेर आर्काइव्ज, कपटद्वार नं० २२६।८५४ महाराणा संग्रामसिंह का सवाई जयसिंह को लिखा गया खरीता, तारीख—पोष विद ५, १७८१ (२४ नवम्बर, १७२४)

(ii) फाल—सरकार, भा० I, पृ० १८०

२ (i) लेले व ओक—'धारच्या पंवारच्या महत्व और दर्जा' पृ० ३४—३५

(ii) फाल—सरकार, भा० I, पृ० १४०

३ (i) एस० पी० डी० Vol. xiv नं० ११ व १३

(ii) फाल—सरकार, भा० I, पृ० १४०

४ फाल—सरकार, भा० I, पृ० १४०

५ वीर विनोद, पृ० १२१८

अनुसार अपने छोटे पुत्र माधोसिंह[1] के लिए एक अलग सा राज्य बनाना चाहता था[2] जिससे कि उत्तराधिकारीय संघर्ष न हो। एक तात्कालिक कारण यह भी था कि सवाई जयसिंह को मराठों ने मंदसौर के युद्ध में फरवरी १७३३ ई० में पराजित किया था;[3] अतः वह महत्त्वाकांक्षी शासक मराठों के विरूद्ध संयुक्त मोर्चा बनाकर अपने राज्य की सीमा को सांभर से नर्बदा तक बढ़ाना चाहता था। जोधपुर के महाराजा अभयसिंह को गुजरात की सूबेदारी के समय दामाजी गायकवाड़ की हत्या के आरोप को लेकर मारवाड़ व मराठा सम्बन्ध अत्यधिक कटु हो चुके थे[4] तथा उसकी यह भी इच्छा थी कि मरहटों को दबाकर गुजरात को मारवाड़ में मिला लिया जाय और इस भांति एक विस्तृत एवं बृहत्तर राज्य की स्थापना की जाय।[5] इसके अतिरिक्त राजपूताना के अन्य छोटे–बड़े राज्य भी अपनी सुरक्षा से चिंतित हो मराठों के विरूद्ध सख्त कदम उठाना चाहते थे।

मराठों को निकालने के प्रयत्न

मालवा में मराठों की विस्तारवादी नीति तथा राजस्थान के राज्य यथा बूंदी के आंतरिक झगड़े में मराठों का स्वच्छंदतापूर्वक सहायता देना आदि अद्भुत स्थिति देख राजस्थान के नरेशों ने यह विचारना प्रारम्भ किया कि बादशाह इतना दुर्बल एवं अयोग्य हो चुका है कि मराठों के आक्रमण से राजस्थान को बचाये जाने की कल्पना करना केवल आकाश कुसुम तोड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः राजस्थान के शासकों ने अपने समान खतरों को मद्देनज़र रखते हुए मराठों को मालवा से खदेड़ने हेतु संगठित होने का प्रयास करने लगे। यद्यपि इससे भी पूर्व मराठों को निकालने एवं मालवा खाली कराने के लिये महाराणा के धायभाई नगराज ने सवाई जयसिंह की तरफ से पांच लाख रु० दिये[6] किन्तु इस पर भी जब मालवा खाली न किया गया तो महाराणा ने अपनी पुत्री ब्रजकुंवरबाई

---

१ मेवाड़ के महाराणा का भान्जा

२ (i) वीर विनोद, पृ० १२१८
  (ii) ओझा, पृ० ६२७–२९

३ पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ० १६२

४ डॉ० (श्रीमती) बेनी गुप्ता 'दी मराठा एण्ड दी स्टेट्स ऑफ कोटा एण्ड बूंदी' पृ० ४–५

५ वीर विनोद, पृ० १२१८

६ वीर विनोद, पृ० १२१८–१२२०

का विवाह २६ जून. १७३४ को कोटा के महाराव दुर्जनशाल के साथ कर अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया।[1] किन्तु ये प्रारम्भिक प्रयास अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हुए।

सम्मेलन एवं पूर्व राजनीति

जब राजपूत शासकों की साम, दाम की नीति मराठों को मालवा से बाहर करने में असफल सिद्ध हुई तो अपने भविष्य को देखते हुये मराठों को राजस्थान से निकालने का निश्चय करने हेतु मेवाड़ की उत्तरी सीमा पर स्थित 'हुरड़ा'[2] नामक स्थान पर एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। यद्यपि हुरड़ा एक छोटा सा स्थान था, तथापि राजस्थानी नरेशों ने वहां एकत्रित होना इसलिए निश्चित् किया कि वह राजपूताना के मध्य में तथा मेवाड़ की सीमा पर स्थित है, फलतः किसी भी राज्य के छोटे या बड़े नरेश का सीधा वहां पहुंचना अधिक सरल एवं सुलभ था तथा अजमेर जहां कि मुगल सूबेदार रहता था समीप होने के कारण किसी भी समय स्थिति का अवलोकन कर संपर्क साध कर सम्राट को अवगत कराके संबंधित सहायता प्राप्त की जा सकती थी। अतः हुरड़ा को ही सम्मेलन के लिये अधिक श्रेयस्कर समझ राजस्थान के छोटे-बड़े सभी राज्यों के नरेशों एवं जागीरदारों को आमंत्रण दिया गया था। यद्यपि यह सम्मेलन जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह एवं मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह द्वि० के संयुक्त प्रयत्नों का फल था किन्तु फिर भी विशेष प्रयास का श्रेय सवाई जयसिंह को ही दिया जाता है। सवाई जयसिंह अपने लिये एक ऐसी नियंत्रक स्थिति बना चुका था कि उसके आमंत्रण को राजस्थान के किसी भी शासक द्वारा स्वीकार न करना असंभव सा था। अतः राजपूत शासकों ने हुरड़ा की ओर प्रयाण करना प्रारंभ किया।

मई, १७३४ में जोधपुर के महाराजा अभयसिंह पुष्कर आये और वहां से अजमेर लगभग एक माह तक अनासागर की पाल के महलों में ठहरे रहे; वहीं जयपुर के सवाई जयसिंह उक्त महाराजा से मिले।[3] अनुमानतः इस गोष्ठी के तल में मराठों से संबंधित समस्या पर विचार विमर्श करना रहा होगा। इसके पश्चात् सवाई जयसिंह पुनः जयपुर लौट आया।[4]

---

१ वीर विनोद, पृ० १२२०

२ (i) २५·२४' उ० और ७४·४२' पू० राजपूताना गजेटीयर्स' भा० II–A

(ii) वर्तमान भीलवाड़ा जिला में स्थित।

३ मारवाड़ री ख्यात, भा० २, पृ० १४१–४३ (अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर)

४ उपर्युक्त, भा० २, पृ० १४२-४३.

२८ जून शुक्रवार १७३४ को सवाई जयसिंह जयपुर से रवाना हो नांदले ग्राम आकर ठहरा।[1] उदयपुर से महाराणा जगतसिंह, कोटा का हाडा दुरजनशाल व नागोर का राजा बखतसिंह ११ जुलाई गुरुवार, १७३४ को रूपायली आकर अपना पडाव किया और नांदले से आकर सवाई जयसिंह हुरडा में ठहरा हुआ था, वहां से रवाना हो रूपायली महाराणा के पास मातमपुर्सी के लिये आया और वहीं ठहरा।[2] निश्चित् स्थान से ६ मील दूर स्थित रूपायली नामक ग्राम में महाराणा व कोटा तथा नागोर के राजा के साथ सवाई जयसिंह का पांच दिन के दीर्घ समय तक ठहरने से बहुत सभव है कि हुरडा में होने वाले सम्मेलन की भूमिका वहीं पर निश्चित् की गई हो। जब मेवाड़ के महाराणा व सवाई जयसिंह के मिलने के समाचार जोधपुर महाराजा अभयसिंह को मिले तो १२ जुलाई शुक्रवार १७३४ को अजमेर से जहां कि वह लगभग एक मास से ठहरा हुआ था,[3] रवाना हो नाँदले ग्राम ठहर कर १३ जुलाई शनिवार १७३४ को हीयाली गांव आकर ठहरा और १४ जुलाई रविवार १७३४ को रात्रि के दो बजे के लगभग हुरडा पहुंचा और वहीं पर सवाई जयसिंह व महाराणा जगतसिंह आदि सभी का डेरा कराने का निश्चय किया गया।[4] महाराजा अभयसिंह का एक मास तक अजमेर में ठहरने से तात्पर्य मुगल सूबेदार से इस सम्बन्ध में बातचीत करना तथा राजपूतों के इस कार्य की ओर मुगल शक्ति की संभावित सहायता का अनुमान लगाने से रहा होगा। १५ जुलाई सोमवार १७३४ को प्रातः ही महाराजा अभयसिंह सफेद कपड़े पहिन रूपायली, महाराणा की मातमी के लिये गया तथा कुछ देर ठहर कर पुनः हुरड़ा लौट आया।[5] महाराजा अभयसिंह ने कुछ देर ठहर कर उक्त नरेशों द्वारा तैयार की गई भूमिका का अवलोकन अवश्य ही किया होगा और जो सम्मेलन हुरड़ा में आयोजित होकर सभी राजे-महाराजाओं की आपसी वार्त्तालाप के मध्य कुछ निश्चित् करने वाला था, वह इससे पूर्व ही कुछ विशेष नरेशों की सलाह मशविरा से पूर्णतः तैयार किया जा चुका था और शर्तों के अहदनामे को हुरड़ा में आयोजित समारोह की खानापूर्ति एवं प्रदर्शित दस्तखतों के लिये शेष रक्खा। १६ जुलाई, मंगलवार १७३४ को सभी ने हुरड़ा में आकर अपना पड़ाव किया तथा महाराजा अभयसिंह ने चांदी के खम्भों पर अपना लाल डेरा लगाया।[6] सभी आपस में एक दूसरे के डेरे पर गये तथा हाथी, घोड़ा, जवाहरात

---

१ 'बीकानेर आर्काइव्ज' जोधपुर, खरीता बही नं० २, पृ० ३५

२ उपर्युक्त, पृ० ३५.

३ मारवाड़ री ख्यात, भा० २, पृ० १४२–४३

४ 'बीकानेर आर्काइव्ज' जोधपुर खरीता बही नं० २, पृ० ३५

५ उपर्युक्त, पृ० ३५

६ (i) उपर्युक्त, पृ० ३५–३६
(ii) मारवाड़ री ख्यात भा० २, पृ० १४३ (अनू० संस्कृत ला० बीकानेर)

की रकमें आदि भेंट की गई। जोधपुर महाराजा द्वारा लाल डेरा खड़ा करने पर रोशन दोला ने मुगल सम्राट मुहम्मदशाह से शिकायत की,[1] जिससे बादशाह काफी असंतुष्ट व नाराज हुआ किन्तु जोधपुर के वकील भंडारी अमरसी के बादशाह से यह कहने पर कि मराठों के बढ़ते हुए उपद्रव को दबाने का प्रबन्ध करने के लिये राजस्थान के नरेशों का एकत्रित होना आवश्यक था, परन्तु शाही खेमा खड़ा किये बिना ऐसा होना असंभव होने से ही महाराजा ने लाल डेरा खड़ा करवाया था।[2] यह सुनकर बादशाह ने खिलअत और फरमान भेजकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की।[3] इस भांति हुरड़ा में मेवाड़ का महाराणा जगतसिंह (द्वितीय), जयपुर का सवाई जयसिंह, जोधपुर का महाराजा अभयसिंह, कोटा का महाराव दुर्जनशाल हाड़ा, नागोर का राजा बख्तसिंह, बूंदी का निर्वासित रावराजा दलेलसिंह, करौली का गोपालसिंह, बीकानेर का जोरावरसिंह और किशनगढ़ का राजसिंह आदि सम्मिलित हुये थे।[4] मेवाड़ का महाराणा जगतसिंह एक योग्य शासक, चतुर राजनीतिज्ञ एवं दूरदर्शी सेनापति के गुणों से पूर्णतः अपरिचित होने पर भी राजस्थान के राज्यों में वंशानुगत चले आ रहे मेवाड़ के अनुपमेय सुरक्षित स्थान के कारण अध्यक्षता का भार उसी को वहन करना पड़ा। शाही दरबार के प्राप्त अभयसिंह व सवाई जयसिंह महाराणा के क्रमशः दाहिनी व बांई तरफ बैठे तथा जोधपुर के नरेश के नीचे कोटा का महाराव दुर्जनशाल व जयपुर महाराजा के नीचे राजाधिराज बख्तसिंह बैठा था।[5] व्यक्तिगत मत विभिन्नता होने पर भी एक लम्बे वाद-विवाद एवं विचार— विमर्श के पश्चात् मराठों के विरुद्ध एक संगठित समझौता निश्चित किया गया, जिस पर श्रावण विद १३, १७९१ (१७ जुलाई, बुधवार १७३४) को हस्ताक्षर किये गये[6] जिसकी शर्तें इस प्रकार से थीः—

---

१ मारवाड़ री ख्यात, भा० २, पृ० १४३ (अनू० सं० ला० बीकानेर)

२ उपर्युक्त पृ० १४३

३ उपर्युक्त पृ० १४३

४ (i) वीर विनोद भा० २ पृ० १२२०
(ii) ओझा जि० २ पृ० ६२९

५ मारवाड़ री ख्यात भा० २, पृ० १४३

६ कर्नल जेम्स टॉड के अनुसार संधि पर हस्ताक्षर श्रावण सुदि १३ (१ अगस्त, १७३४) को, और वंशभास्कर के अनुसार कार्तिक सुदी १३ को हस्ताक्षर किये गये किन्तु दोनों ही तिथियां गलत दृष्टिगत होती है। जोधपुर की खरीता वही नं० २ के पृष्ठ ३५ (बीकानेर आर्काइव्ज) पर उल्लखित हुरड़ा की ओर जाने तक के संपूर्ण विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्मेलन की शर्तें श्रावण बिद १३ को ही

१ सब राजा अपने धर्म की शपथ खाकर यह निश्चित करते हैं कि वे एक दूसरे के सुख और दुःख के साथी रहेंगे। एक का मान और अपमान सभी का मान व अपमान समझा जायगा।

२ एक के शत्रु को दूसरा अपने पास न रक्खे।

३ वर्षा ऋतु के बाद कार्य शुरू किया जाय तब सभी राजा रामपुरा में सेना सहित एकत्रित होंगे और यदि कोई कारणवश स्वयं न आसके तो अपने कुंवर को भेज देंगे।

४ यदि कुंवर अपने अनुभव की कमी के कारण कुछ गलती करे तो उसे महाराणा ही ठीक करे।

५ कोई नया काम भी शुरु हो तो सब एकत्र होकर करें।[1]

यह सम्मेलन राजस्थान के इतिहास में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना के रूप में अपना अनुपम स्थान रखता है। १५२७ ई० के खानवा के युद्ध के पश्चात् राजस्थान के शासकों ने अपने समान स्वार्थों के हितार्थ एक बार पुन मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह के नेतृत्व में मराठों के विरुद्ध सम्मिलित रूप से एकत्रित हुये थे।[2] किन्तु राजपूत नरेशों का नैतिक पतन इस सीमा तक पहुंच चुका था कि सम्मेलन केवल मात्र बैंक के एक रिक्त चेक पर किये गये हस्ताक्षरों से अधिक व्यवहारिक प्रमाणित न हो सका और जो वांछित परिणाम होने चाहिये थे उससे यह वंचित रह गया क्योंकि राजपूत शासकों के स्वार्थ एवं अभिलाषाओं में अनेकता प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। सम्मेलन का अध्यक्ष महाराणा जगतसिंह विषय-विलास में लिप्त आरामप्रद जीवन जी रहा था, उसमें इतनी क्षमता न थी कि वह राजस्थान के नरेशों के संगठन को अपनी प्रतिभा से, हुरड़ा में लिये गये निर्णयों के अनुसार

निश्चित की गई होती तथा वास्तविक अहदनामा श्यामलदास संग्रह Document Serial No 7 बीकानेर आर्काइव्ज तथा कपटद्वार (O. H. R.) pp. 58 S. No. 854 K. D. M. 1497 (जयपुर में सुरक्षित) देखने से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि अहदनामा पर हस्ताक्षर श्रावण विद १३ (१७ जुलाई बुधवार, १७३४) को ही किये गये थे।

१ (i) श्यामलदास कलेक्शन (बीकानेर आर्काइव्ज) D.C,S.No 7.
(ii) कपटद्वार (O. H. R) PP.58, S N. 854, K. D. M 1497
(iii) क. जेम्स टॉड भा॰ I पृ॰ ४८२-८३.
(iv) वंश भास्कर भा॰ iv पृ॰ ३२२७-२८
(v) ओझा-भा॰ २ पृ॰ ६२८-२९.

२ डॉ॰ के॰ एस॰ गुप्ता 'मेवाड़ एण्ड दी मराठा रीलेशन' पृ॰ ४१

चला सके। इसके अतिरिक्त मेवाड़ आंतरिक गृह कलह में इतना अधिक डूब चुका था कि उसे दूसरी ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिला। इसकी सफलता में अपने समय के राजपूत शासकों में सबसे अधिक योग्य सवाई जयसिंह की उदासीनता एवं क्रुद्ध होना भी एक कारण हो सकता है, क्योंकि उसने इस सम्मेलन को बुलवाने में सर्वाधिक प्रयास किया तथा आगे होकर यह सोचते हुये भाग भी लिया था कि राजपूत नेतृत्व भी उसे ही प्राप्त होगा किन्तु जब उसकी आशा के विपरीत उदयपुर के महाराणा जगतसिंह को नेतृत्व का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो उसने अत्यधिक नैराश्यता के साथ सम्मेलन छोड़ दिया। संगठित शक्ति का नेतृत्व प्राप्त होने का एकमात्र कारण यही था कि महाराणा का अपना अनुपम स्थान तथा अधिकांश राजपूत नरेशों का सवाई जयसिंह के विचारों एवं उद्देश्यों में संदेह का पुट रखना था। एकत्रित राजपूत शासकों ने सवाई जयसिंह को नेतृत्व प्रदान न कर अपने हाथों ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी अर्थात् मराठों को निकाल भगाने की बात तो दूर रही किन्तु उनका राजस्थान में प्रवेश और अधिक सरल एवं सुगम हो गया। राजपूत नरेशों की बुद्धि पर ऐसा पाला गिर गया था कि वे कभी भी किसी भी दशा में किसी अन्य को अपना नेता स्वीकार करना पसंद नहीं करते थे। आपसी होड़ एवं वैमनस्यता के कारण संगठन के अध्याय से निरे अनभिज्ञ राजपूतों ने अपने हाथों में आये हुये एक स्वर्ण अवसर को खो दिया। फलतः यह एक दुःखद एवं प्रायश्चित से परिपूर्ण एक घटना मात्र रह गई। वे अपने आपसी झगड़ों में इतने गुंथे हुये थे कि मराठों के विरुद्ध उठने की कल्पना करने से पूर्व ही उनके घुटनों को पक्षाघात हो चुका था अतः वे अपने एक ही दृष्टिगत शत्रु के विरुद्ध कदम उठाने में असमर्थ सिद्ध हुये। हुरड़ा सम्मेलन राजपूत नरेशों की स्वार्थपरता, हठधर्मी एवं मतवैभिन्यता का एक उदाहरण बनकर रह गया। यह सम्मेलन राजपूत नीति की असफलता एवं उनकी चारित्रिक दुर्बलता की ओर इंगित करता है। इसका सबसे अधिक भयंकर एवं दयनीय परिणाम मेवाड़ को उठाना पड़ा, महाराणा की स्वच्छंद नेतृत्वता ने मेवाड़ एवं मराठों के बीच शिवाजी के काल से चले आ रहे मधुर एवं मैत्रीपूर्ण संबधों के अवसान के साथ ही खुले रूप से शत्रुता के अध्याय का समारंभ होता है। इस भांति हुरड़ा का यह शोकयुक्त असफल सम्मेलन मात्र एक दिखावा था जिसकी ओट में राजपूत नरेश अपने २ स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते थे। इस सम्मेलन ने आग में घी पूरने का काम करके मराठा आतंक की ज्वाला से राजस्थान को बचाने की अपेक्षा और अधिक बढ़ा दिया। किन्तु फिर भी इसे विघटन के काल में संगठन के प्रयास के रूप में याद किया जाने वाला सम्मेलन कह सकते हैं कि राजपूतों ने कुछ समय के लिये अपनी आपसी ईर्ष्या, द्वेष एवं स्वार्थ परायणता की भावना को भूल, हुरड़ा में एकत्र हो सम्मेलन का आयोजन करने का प्रयत्न किया।

शोधार्थी, इतिहास विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

● डॉ० गजानन मिश्र

रसिक सम्प्रदाय के प्रमुख कवि और उनकी अज्ञात रचनाएं

१ अग्रदास

रसिक भक्तों के आद्याचार्य अग्रदास का आविर्भाव स्वामी रामानन्द की चौथी पीढ़ी में हुआ था। ये राजस्थान में वैष्णवों की प्रथम पीठ, गलता के संस्थापक श्री कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। इनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार इनका जन्म जयपुर राज्य के किसी गांव में १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था।[1] आचार्य शुक्ल के अनुसार ये सं० १६३२ के लगभग वर्तमान थे।[2] डॉ० गोपीवल्लभ नेमा के अनुसार अग्रदास का जीवनकाल सं० १५८० से सं० १६८० तक माना गया है।[3] ये कुछ दिनों तक गुरु के पास गलता में रहे और उनका देहान्त हो जाने पर इन्होंने कील्हजी की आज्ञा से जयपुर के निकट रेवासा नामक स्थान पर अपने सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित की, और एक मंदिर बनाकर नाभादासजी को वहां नियुक्त किया।[4] युगलप्रियाजी ने इन्हें सीता की प्रिय सखी चन्द्रकला का अवतार बताया है।[5] इसीलिए ये अपने सम्प्रदाय में अग्रअली के नाम से विख्यात हुए।[6] अग्रदास हमेशा सीताराम के भजन में दत्तचित्त रहते थे व रात-दिन उनका स्मरण करते थे। ये सदैव सदाचार में भी निरत रहा करते थे।

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका–वर्ष ६६ अंक २–४ (संवत् २०१८)

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४२

३ रामानन्द सम्प्रदाय और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव–डॉ० गोपीवल्लभ नेमा पृ० २६२

४ ब्रज साहित्य का इतिहास-डॉ० सत्येन्द्र पृ० २५१

५ अग्रस्वामी श्री अग्रसहचरी जनकलली की, पुष्पवाटिका मिलन हेतु प्रियमांतिमजीकी।
चन्द्रकला प्रियनाम, श्यामसिय बसि कार राखी, प्रगटीस्वामी पदलही ध्यानवसमनचखी
—रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ० १५

६ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय–डॉ० भगवतीप्रसादसिंह, पृ० ३८०

अग्रदास ललाट पर ऊर्ध्वपुण्ड्र व द्वादश तिलक, कण्ठ में दो मालाएं, धनुर्बाण, भुजमूल पर मुद्रा, पीत उपवीत व कोपीन धारण करते थे।[1] ये अपने इष्टदेव की ही विहार-स्थली के रूप में बाग-बगीचों के प्रति भी प्रेम रखते थे और वाटिकाओं का निर्माण भी कराते थे।[2] प्रियादास के अनुसार-जयपुर नरेश महाराजा मानसिंह से इनकी भेंट बाटिका में ही हुई थी।[3] स्वामी अग्रदास और मानसिंह के गुरु-शिष्य संबंध भी बताये जाते हैं।[4] नाभादास ने अग्रदास के स्वयं के अतिरिक्त १६ अन्य शिष्यों का नामोल्लेख किया है।[5] अयोध्या, चित्रकूट और मिथिला के अनेक पीठ इन्हीं की परम्परा से सबधित हैं।[6] अग्रदास की ५ रचनाएं उपलब्ध है–[7]

१ ध्यानमंजरी अथवा रामध्यान मंजरी
२ कुंडलिया अथवा हितोपदेश उपाषाण बावनी
३ रामाष्टयाम

---

१ रामानन्द सम्प्रदाय तथा उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव–पृ० १९२

२ ब्रज साहित्य का इतिहास–डॉ० सत्येन्द्र पृ० २५१

३ भक्तमाल सटीक (रूपकला) पृ० ३२०

४ मानसिंह जेपुर को राजा। सो अपनी ले सकल समाजा।
अग्रदास गुरू आज्ञाकारी। रहे समीर चरन रज धारी।।
एक समय दस सहस सवारा। मानसिंह नृप ले पगु धारा।
अग्रदास दरसन के हेतू। गुरू दरसन किये मोद न केतू।।
दस कदली फल गुरु तेहिं दीन्हो। सादर पद वंदन करि लीन्हों।।
नामा के प्रति अग्र के यहि विधि चरित अपार।
मान महीपति केत था, को कहि पावै पार।
–राम रसिकावलि (रघुराजसिंह) पृ० ५७५–८०

५ रामानन्द सम्प्रदाय तथा उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, पृ० १९२

६ नागरी प्रचारिणी पत्रिका–वर्ष ६६, अंक २–४ (सं० २०१८)

७ (क) आचार्य शुक्ल ने अग्रदास की रचनाओं के दो–दो नाम होने से इन्हें अलग अलग कृतियां मानकर ग्रंथ संख्यां ४ कर दी है।
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४२

(ख) डॉ० नाहर ने इनकी दो ही रचनाओं का उल्लेख किया है।
—भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० ३२६

४ राममंजरी, एवं

५ पदावली

इनके अतिरिक्त इनका 'अग्रसार' नामक ग्रंथ और सुना जाता है, लेकिन अभी तक अनुपलब्ध है।

अग्रदास की रचना का एक पद दृष्टव्य है जिसमें सीताजी के सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत किया गया है—

सब की सोभा सिमिटि गई। वैदेही को बदन विलोकत अंतर भूत भई।
सीताराम गज गति हंस, जंघ कदली, कटि केहरि, दसन अनारु॥
कुच नारंगी, कांत कलधौतहि, मुख विधु अंबुज चारु।
ग्रीवा कंबु, कपोत अधर, विद्रुम घ्रुति नासा कीर।
नैनन मीन मृग, वैनी अहि, कोकिल गिरा गंभीर।
श्रीहत भय सकुचि सब जित तित पर्वत जाय लियो।
कोई अरन्य अकास अगिन जल कोर पताल दियो।
बलि अरु वरुन वन्द्र वासव मिलि बदन भये यह बात।
सीता सरन वाहो सब तजि कैसी कै श्री अग्रअली के बल जात।[1]

२ नाभादास

ये अग्रदास के प्रमुख शिष्यों में से थे। इनके गुणों से आकृष्ट होकर ही अग्रदास ने इनको मंदिर की सेवा समझलाई थी।[2] इनका जन्म दक्षिण में बताया गया है।[3] ये जन्मान्ध थे और बाल्यावस्था में ही पिता के देहावसान होने के कारण इनकी मां येन-केन प्रकारेण इनको लेकर जयपुर पहुँची।[4] दयनीय अवस्था में उसने (मां ने) इस बालक को जयपुर के निकट किसी जंगल में छोड दिया।[5] उधर से अग्रदास और कील्हदास निकल रहे थे।[6] उन्होंने इसे अपने साथ लिया और गलता ले आये। वहीं सिद्धि से इनके नेत्र खुल गये।[7]

---

१ अग्रदास पदावली—पद संख्या २७

२ विनय विवेक सुभ सील दया नेह गेह, नाभाजी को देखि संत सेवा में लगाए हैं।
—रसिक प्रकाश भक्तमाल पृ० १६

३ भाषा काव्य संग्रह-महेशदत्त पृ० १३५

४ भक्तमाल सटीक—प्रियादास छं० सं० १६

५ मिडाइवल मिस्टीसिज्म—क्षितिमोहन सेन पृ० ७७

६ भाषा काव्य संग्रह-मेहशदत्त पृ० १३५

७ भक्तमाल सटीक, छं० सं० १६

नाभादास की जाति के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वान इनको डोम बताते हैं[1], कुछ क्षत्रिय[2], किसी ने दक्षिणी ब्राह्मण[3] और प्रियादास ने इन्हें हनुमान वंशी अथवा लांगूली कहा है[4]। अग्रदास ने दीक्षा दी तब इनका नाम नारायणदास रखा गया[5], तदुपरांत रसिक परम्परानुसार इनका आत्म सम्बन्धी नाम "नाभाअली" रख दिया गया। अग्रदास की कृपा से इन्हें रसिक-साधना का बोध हुआ[6]।

नाभादास की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं—

१ भक्तमाल एवं

२ दो अष्टयाम (ब्रज भाषा पद्य में एवं गद्य में)

भक्तमाल महत्वपूर्ण ग्रंथ है। नाभादास ने इसकी रचना अपने गुरु अग्रदास की आज्ञानुसार की थी।[7] रचनाकाल सं० १६४२ के पीछे है।[8] इसमें २०० भक्तों का गुणगान ३१६ छप्पयों में किया गया है। इन छप्पयों में भक्तों का पूर्ण जीवन वृत्त नहीं है। केवल भक्ति की महिमा सूचक बातें बताई गई है। इस रचना का उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्य बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है। यह उद्देश्य बहुत अंशों में सफल भी हुआ है। आज उत्तरी भारत के गांव के गांव में साधुवेशधारी पुरुषों को शास्त्रज्ञ विद्वानों और पंडितों से कहीं बढ़कर सम्मान और श्रद्धा प्राप्त है, वह बहुत कुछ भक्तों की करामातों और चमत्कारपूर्ण वृत्तांतों के सम्यक् प्रचार से है।[9]

---

१ मिडाइवल मिस्टीसिज्म-क्षितिमोहन सेन पृ० ७७

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल पृ० १४३

३ भाषा काव्य संग्रह—महेशदत्त पृ० १३५

४ भक्तमाल सटीक—प्रियादास छं० सं० १६

५ काहु केवल जोग जग, कुल करनी की आस।
भक्त नाम माला अगर, उर (बसो) नारायणदास॥
—भक्तमाल सटीक—रूपकला पृ० ६३६

६ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डॉ० भगवतीप्रसादसिंह पृ० ३८४

७ अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन को यश गाऊ।
भवसागर के तारन को नाहि और उपाऊ॥
—भक्तमाल सटीक—रूपकला पृ० ४४

८ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० १४२

९ वही, पृ० १४२

नाभादास की रचना का नमूना दृष्टव्य है—

रामकुंवर छवि देखन लागी। अंग अंग श्याम रूप अनुरागी॥
त्रिदश वर्ष मुग्धा वो श्यामा। मध्या काम केलि विश्रामा॥
कोउ वय संधि केलि प्रिय नागी। युगल रंग रमु रूप विहागी॥
कोउ नित नवल लाल मुख चाहे। यहि विधि प्रीति रीति निरबाहै॥
गद्गद् कंठ रोम सुरभंगा। लहत अष्ट सात्विक कोउ अंगा॥
सबकी प्रीति रीति जियजानत। तन मन वचन लाल सन भानत[1]॥

३ बालकृष्ण (बालअली)

इनका मूल नाम बालकृष्ण नायक तथा भाव साधना संबंधी नाम 'बालअली' था।[2] ये पहले रामानुजाचार्य सम्प्रदाय में दीक्षित हुए, किन्तु वहां आचारियों के सदाचार मार्ग से इनकी तृप्ति नहीं हुई। तभी इन्हें अग्रदास द्वारा सीतापरमतत्त्व का उपदेश मिला। तत्पश्चात् ये रेवासा (जयपुर) गद्दी के आचार्य चरणदास द्वारा रसिक सम्प्रदाय में दीक्षित हुए[3]। इनकी गणना रसिक सम्प्रदाय के विशिष्ट आचार्यों में होती है।[4] इनका जीवन काल सं० १६७५ से १७७५ और रचनाकाल १७२६ से १७६२ के मध्य है।[5] डॉ० नाहर ने इनका रचनात्मक सन् १६६९ से १६९३ (संवत् १७२६ से १७४९) माना है।[6] वस्तुतः यही रचनाकाल ठीक है क्योंकि अद्यावधि उपलब्ध कृतियों में प्रथम तथा अन्तिम कृति क्रमशः सं० १७२६ व १७४९ में रची गई है।

बालअली द्वारा विरचित निम्नलिखित कृतियां उपलब्ध हैं—

१. ध्यानमंजरी
२. नेह प्रकाश
३. सिद्धांत तत्व दीपिका
४. दयाल मंजर
५. ग्वाल पहेली
६. प्रेम पहेली
७. प्रेम परीक्षा
८. परतीत परीक्षा

---

१ अष्टयाम—नाभादास

२ बालकृष्ण प्रिय महत नाम पुनिबालअली ज। —रसिकप्रकाश भक्तमाल पृ० २८

३ वही, पृ० २८

४ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय —डॉ० भगवतीप्रसादसिंह पृ० ३५४

५ ब्रज साहित्य का इतिहास— डॉ० सत्येन्द्र, पृ० ३२७

६ भक्ति आन्दोलन का अध्ययन—डॉ० रतिभानुसिंह नाहर, पृ० ३२७

उपर्युक्त कृतियों में ध्यानमंजरी, नेह प्रकाश एवं सिद्धान्त तत्व दीपिका महत्त्वपूर्ण कृतियां है अतः इनका परिचय यहां दिया जा रहा है—

(क) ध्यानमंजरी

इस कृति का रचनकाल फाल्गुन शुक्ला पंचमी सं० १७२६ है।[1] विषय तथा साधना दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ जैसी साफ सुथरी, मुहावरेदार भाषा, भावना की तीव्रता एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म रस साधना का विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। निस्संदेह कहा जा सकता है कि युगल सरकार श्री सीताराम के ध्यान का ऐसा ग्रंथ दूसरा है ही नहीं। कनक भवन बिहारी, त्रैलोक्य सुन्दर भगवान राम तथा उनकी प्राणेश्वरी जानकी के रूप, रंग, वेश एवं अलंकार का सजीव वर्णन सजीली भाषा में किया गया है। इस कृति में कुल २७३ पद हैं।[2]

(ख) नेह प्रकाश

इसमें कुल १४८ दोहे हैं। इस कृति के आरंभ में आल्हादिनी शक्ति के स्वरूप पर विचार करने के अनन्तर, सखियों की नामावलि, उनकी विशिष्ट सेवाओं का उल्लेख, रामचन्द्र जी द्वारा सीताजी के प्रति प्रणय निवेदन, सखियों के वचन सीता के प्रति एवं राम के प्रति तथा अन्त में सीताजी के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

(ग) सिद्धान्त तत्व दीपिका

यह ग्रन्थ ३६ प्रकाशों में पूर्ण हुआ है। यह रूपक काव्य की शैली पर लिखा गया है। इसकी कथा बहुत ही संक्षेप में इस प्रकार है— सुमुखी प्रभावती नाम आत्मा को संभ्रमा माया के चंगुल से कृपावती की कृपा से बचाती है। सीता का राम के प्रति प्रेम के उल्लेख से सुमुखी भी राम प्रेम में विकल हो उन्हें पाने के लिए प्रयत्न करती है और अन्त में सफल भी हो जाती है। इस काव्य में संभ्रमा माया है, प्रभावती सुमुखी है, कृपावती गुरू है और भगवत्प्राप्ति इष्ट-मिलन है।

बालअली की रचना का नमूना यह है—
अरुण बरुण तव चरण नख हैं कि तरुणिशिरमौर।
अनुरागी दृग लाल के बस आप इहि ठौर॥

---

१ सत्रहै षड़विंश बरष, मास फाल्गुनि।
शुक्ल पक्ष पंचमी अमर शुभवार लग्न प्रति॥
तेहि अवसर यह ध्यानमंजरी प्रगट भई है।
परम सुमंगल करनि बरनि बर मोदमयी है॥ —ध्यानमंजरी—बालकृष्ण

२ राम भक्ति में मधुर उपासना—भुवनेश्वर नाथ मिश्र, पृ० २११

तो वक्र जावक रंग छवि निरखति अलि अनुराग।
मनु भावन प्रेम रस पावत पापन लाग ॥[1]

४ बालानन्द

वैष्णव धर्म के परम त्राता के रूप में इनका आविर्भाव सं० १७१० में हुआ था।[2] इनके समय में वैष्णवों तथा शैवों में संघर्ष चल रहा था। उस समय इन्होंने चतुः सम्प्रदाय के वैष्णवों को संगठित कर रामभक्तों को दशनामी शैवों का सामना करने के लिए अखाडों में विभक्त कर सैनिक शिक्षा देने की परिपाटी चलाई थी।[3] सेना तैयार करने के लिए इन्हें जयपुर राज्य की ओर से सहायता मिलने का आश्वासन भी मिला था।[4] इसी के परिणाम-स्वरूप संवत् १८०२ में लश्करी मंदिर (चांदपोल बाजार, जयपुर) की स्थापना हुई।[5]

बालानन्द हमेशा अपने साथ बहुत बडी फौज रखा करते थे। तोपखाना एवं घोडे, ऊंट आदि सवारियों की संख्या भी अत्यधिक थी। इन्होंने अनेक साधुओं को मुगल बादशाहों की कैद से मुक्त करवाया था। अपने जमाने के प्रसिद्ध सिद्ध भैंरोंगिरि और लच्छगिरि को भी इन्होंने सरलता से मार गिराया था।[6] इनके गुरु का नाम बिरजानन्द था।[7] इनका निधन सं० १८५२ के आसपास हुआ।[8]

बालानन्द की उपासना राम के बालक रूप की थी।[9] लेकिन इनके अनेक पदों में दास्य व माधुर्य भाव भी मिलता है। लश्कर मंदिर में इनका एक पद संग्रह है जिसमें इनके

---

१ नेह प्रकाश—बालकृष्ण

२ रामदल की विजयश्री, पृ. ७

३ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ. ३३५

४ ढूंढाड़ प्रदेश की साहित्यिक धाराएं—डॉ० गंगाराम गर्ग, पृ. १०३

५ सम्प्रदाय चारों जुटी, रह्यो जुलस्कर संग।
परी छाप जब लस्करी, बहु विधि जीते जंग ॥
—वैष्णव मताब्ज भास्कर परि०, पृ० १०१

६ कीर्ति सुधा सागर, पृ. ६

७ जयपुर राज्य का इतिहास—हनुमान शर्मा, पृ. १६६

८ ब्रजानन्द महाराज के शिष्य श्री बालानन्द—वै.म.भा.परि. पृ. १०१

९ अर सेवा म्हंत बालानन्दजी सिष म्हंत बरजानंदजी का करेछा सो परलोक हुआ अर सिष श्री गुरु म्हंत (गोविन्दानंद) महाराज मिति आसोज बद. ४ सं. १८५२ ने सवाई जैपुर सूं बूठि गया—लश्कर मंदिर से प्राप्त एक पट्टे की कुछ पंक्तियां।

१३२ पद संग्रहित है तथा 'मुष्टक लीला' व 'शकुन विचार' नामक दो अन्य रचनाएं भी इसी में संग्रहित है।

५ मधुराचार्य

इनका मूलनाम रामप्रपन्न तथा भावसाधना का नाम "मधुर प्रिया" था। ये कील्ह-स्वामी की पांचवीं पीढ़ी में गलता की गद्दी के आचार्य हुए।[1] रसिक भक्तों में सर्व प्रथम इन्होंने ही वेद, उपनिषद्,तन्त्र, वाल्मीकि रामायण आदि ग्रंथों में वर्णित रामचरित में शृंगार वर्णन परम्परा की प्राचीनता सिद्ध की थी।[2] इन्होंने लगातार १२ वर्षों तक गलता में रासलीला का आयोजन किया था एवं अपने विरोधियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपने सम्प्रदाय की मर्यादा बढ़ाई थी।[3] इससे विपक्षी इन्हें नीचा दिखाने के प्रयत्न करने लगे और उन्होंने तत्कालीन जयपुर नरेश रामसिंह को बहकाया। उन्होंने एक यज्ञ का आह्वान किया, जिसमें बालानन्द को राजगुरु का पद दिया गया और सपत्नीक यज्ञ में आने के लिए कहा। लेकिन मधुराचार्य ने शादी नहीं की और चित्रकूट जाकर रहने लगे।[4]

मधुराचार्य संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इनकी रचनाएं भी संस्कृत में ही मिलती हैं। जिनके नाम हैं–माधुर्य केलि कादंबिनी, २. वाल्मीकि रामायण की शृंगार परक टीका, ३. भगवद्गुण दर्पण एवं, ४.रामतत्त्व प्रकाश। हिन्दी में इनके फुटकर पद मिलते हैं। नमूने के लिए यहां एक पद दिया जा रहा है—

> सखि मैं आजु गई सिय कुंज।
> देखि नृपति किसोर दौरे घेरि पिचका पुंज।
> तब कही मैं सुतहु लालन लाज कौशल चन्द॥
> फाग मिस का करहु चोरी चलहु मेरे संग।
> मधुर प्रितम आज तुमकौ जीति हौ रलिरंग॥[5]

६ सूरकिशोर

ये अग्रदास के गुरु भाई कील्हदास के पौत्र शिष्य थे।[6] इनका जन्म जयपुर में

---

१ अजानन्दमहाराज के शिष्य श्रीबालानन्द।
बालकराम उपासना, सन्त जनन सुखकन्द॥ —वै.म.मा.परि.पृ. १०१

२ रामभक्ति सम्प्रदाय में रसिक सम्प्रदाय–डॉ० भगवतीप्रसादसिंह, पृ. ३९८

३ रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ. ३१

४ वही, पृ. ३१

५ षड्ऋतु पदावली पृ. ११०

६ रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ. २०

सनाढ्य ब्राह्मण वंश में हुआ था। जयपुर नरेश रामसिंह के दुर्व्यवहार से जब मधुराचार्य गलता छोड़कर चित्रकूट चले गये तो इन्हें बहुत दुःख हुआ। इन्होंने भी उसी समय गलता छोड़ दिया और अपने बड़े गुरु भाई के साथ लोहार्गल (सीकर, जयपुर रियासत) चले गये। वहीं संतों की किसी जमात में रहने लगे।[1] ये जानकीजी को पुत्रीवत मानते थे एवं राम को अपना दामाद व स्वयं को जनक का भाई मानते थे।[2] ये हमेशा अपने साथ जानकीजी की मूर्ति रखा करते थे और उसके लिए बाजार से मिठाई, खिलौने आदि खरीदते थे। लोगों को यह बर्दाश्त नहीं हुआ। उन्होंने मूर्ति को ही गायब कर दिया। सूरकिशोर उसकी वियोगावस्था में विरक्त हुए घूमते रहे। अन्त में वह मूर्ति मिथिला में प्रकट हुई।[3] सीकर के पश्चात् ये मिथिला एवं अयोध्या आदि स्थानों पर भी रहे।

इनकी एक कृति "मिथिला विलास" तथा अन्य फुटकर पद उपलब्ध हैं इनका एक छंद दृष्टव्य है जिसमें इन्होंने राम से कुछ मांगना मर्यादा विरुद्ध कहा है, क्योंकि राम उनके दामाद हैं—

निबहि तिहुं लोक में "सूरकिशोर" बिजे रत में निमि के कुल की।
जस जाइ लग्यो सत दीपलौ कान, कथा कमनीय रसातल की।।
मिथिला बसि ग्रोघसहाय चहै तो, उपासक कौन कहे भल की।
जिनके कुल बीच सपूत नहीं, करे ग्रास दमादन के बल की।।[4]

७ हर्याचार्य (हरिसहचरी)

ये मधुराचार्य के शिष्य थे। अपने गुरु के चित्रकूट चले जाने पर ये भी उनके साथ चले गये। वहां गुरु के समझाने पर वापिस गलता आये और गद्दी का आचार्य पद ग्रहण किया।[5] इन्होंने अपने जीवन में राम विवाह के अवसर पर बड़ी धूमधाम से रामलीला करवाई थी। इनके शिष्य श्रियाचार्य ने रास की यह परम्परा कायम रखी।[6]

हर्याचार्य ने हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में रचनाएं की हैं। हिन्दी में इनका 'अष्टयाम' एवं फुटकर पद तथा संस्कृत में 'जानकी गीत' प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओं में

---

१ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डॉ० भगवतीसिंह, पृ. ३९९
२ रसिक प्रकाश भक्तमाल पृ. २०
३ जनकपुर की झांकी—पृ. ४८
४ मिथिला माहात्म्य—सूर किशोर, छंद संख्या, ६
५ रसिक प्रकाश भक्तमाल पृ. ३२
६ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डॉ० भगवती सिंह पृ. ४०८

इन्होंने स्वयं को हरिसहचरि, हरि तथा हरिकवि आदि लिखे हैं। इनकी कविता का नमूना यह है—

जनक लली को सोहिलो गाऊं।
धन्य जनक धनि रानी सुनैना, निरखि लली मुख नयन जुड़ाऊं॥
या कन्या कुल प्रगट कियो है सुर नर मुनि जाको सुमिरत नाऊं।
हरिसहचरि वारति तन मन धन भक्ति बधाई नितनई पाऊं॥[1]

८ सियासखी

इनका जन्म जयपुर के पास हरसोली नामक गांव में हुआ था। डॉ० सिंह ने इनका निवासस्थान बड़ा गांव माना है और इन्हें झांझूदासजी का शिष्य बताया है।[2] खोज करने से विदित हुआ है कि ये दोनों ही बातें सही नहीं है क्योंकि झांझूदास का आविर्भाव सियासखि से बहुत पूर्व ही हो गया था। ये तो उनकी नवीं पीढ़ी में है।[3] जयपुर के प्रसिद्ध सेठ लूणकरण ने चांदपोल बाजार में सीतारामजी का मंदिर बनवाया था और उसके महंत सियासखी बनाये गये थे। इनका मूल नाम गोपालदास था। लेकिन सखी भाव से उपासना करने के कारण ये "सियासखी" के नाम से अपने सम्प्रदाय में अभिहित किये जाते थे। जयपुर में इनका मन नहीं लगा और केवल १७ दिन तक महन्ती करके, गद्दी का भार अपने छोटे भाई "चन्द्रअली" को सौंप कर स्वयं चित्रकूट चले गये।[4] चित्रकूट के अलावा ये भरतपुर तथा प्रयाग में भी रहे थे। चित्रकूट रहकर इन्होंने ११ वर्ष तक गंगा-जल एवं दूध का सेवन किया था। अयोध्या में जयपुर मंदिर (रहस्य प्रमोदवन) इन्हीं की शिष्य-परम्परा द्वारा स्थापित किया गया है।[5] इनकी मृत्यु फाल्गुन कृष्ण ६ सं० १६०२ को शिष्यों को उपदेश देते हुई।[6] इनके १०० पद उपलब्ध हुए हैं जो विभिन्न अवसरों पर गाये जाते हैं। इनका एक पद दृष्टव्य है—

चलीं गज गामिनी सज के। नगोरे नोबतें बज के॥
दिये दधि दूब गोरोचन। सुमुखी राजीव नव लोचन॥

---

१ फुटकर पद—हर्षाचार्य
२ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डॉ० सिंह पृ. ४१३
३ झांझूदासजी की शिष्य परम्परा इस प्रकार है—झांझूदास-रामदत्त-रामऋषि-लक्ष्मीराम नारायणदास-रामकिशनदास-लक्ष्मणदास एवं गोपालदास (सियासखी)
४ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डॉ० सिंह
५ वही. पृ. ४१३
६ साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार

करें कल गान पिक बैंनी। झरे सुर सुमन की श्रेणी।।
जन्म श्री चारु शीला को। हेतु रसराज लीला को।।[1]

९ मनभावन

मनभावन का जन्म नरेडा (जयपुर राज्य) में हुआ था। सवाई प्रतापसिंह के प्रधानमंत्री कमान्डेन्ट इन चीफ तथा दूदू के तत्कालीन जागीरदार पहाड़सिंह ने दूदू में रघुनाथजी का मंदिर बनवाया था। मनभावन उसके सर्वप्रथम महन्त थे।[2] महन्त बनने के पश्चात् इनका निवासस्थान दूदू ही हो गया। ये काव्य मर्मज्ञ थे।[3] सीताजी की उपासना पुत्री भाव से करते थे। कहते हैं कि श्री सीताजी उनको प्रत्यक्ष थी। मन भावन के बहुत से शिष्य थे। स्वयं दूदू के ठाकुर पहाड़सिंह, ठकुराइने और अनेक पुरुष कवि और भक्त इनके शिष्य थे।[4] इनकी रचनाएं दूदू के मंदिर में सुरक्षित हैं। इन रचनाओं में "जानकी जी की वंशावली" तथा सीता-जन्मोत्सव के ३० पद हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

सिया आंगन में खेले नूपुर बाजे रून झुन।
डगमगात पग धरनि अवनि पर सखि कर सों कर झेलें।।
विमलादिक सखि हाथ खिलौना तोतलि वानी बोले।
"मनभावन" सखि लाड लडावे रंभागति रस पैले।।

१० चन्द्रअली

इनका व्यवहारिक नाम बलदेवदास तथा आन्तरिक नाम चन्द्रअली था। ये सियासखीजी के छोटे भाई थे और उनके चित्रकूट चले जाने पर ये ही सीतारामजी के मन्दिर के महन्त बने। ये राम व सीता से संबंधित उत्सवों में रूचि लिया करते थे एवं उन अवसरों पर पद बनाकर गाया करते थे। इनकी एक रचना "नवरस रहस्य प्रकाश" हरसोलो (जयपुर) गांव में सियारामशरणजी के पास सुरक्षित है जिसमें अष्टयाम लीला, वर्षाविहार, झूला, फूल श्रृंगार एवं रास आदि के पद संग्रहित है। इनकी कविता का नमूना यह है—

---

१ बधाई श्री हनुमानजीकी–पृ. ८२

२ ढूंढाड प्रदेश की साहित्यिक धाराएं–डॉ० गंगाराम गर्ग, पृ. १०४

३ ब्रजनिधि ग्रंथावलि–सं० पुरोहित हरिनारायण, पृ. ५४

४ वही, पृ. ५४-५५

लालन की छबि निहारि जनक रीझि रही चन्द्र चन्द्र प्रभु चकोरी लखि,
पलन यक टार ही।
अधर पान लगि विहार उर उर जनि मिलन सार भुज गरि उमगि,
उमगि विरह कूं निवारहि।
हंसि हंसि मृदु नैनन में छके मार तिरछी तकतकनि चिमत्कार भारी
दे दे रस कार ही।
"चन्द्रअली" अद्भुत सुख लूटत म्हाराज कुंवर अवलोकत
परिजन सब छिनछिन बलिहारहि ॥[1]

११ रूपसरस

ये सियासखी जी के दत्तक पुत्र थे।[2] इनका मूल नाम रामानुजदास एवं साधना नाम रूपसरस था। इनका जन्म हरसोली गांव में ही किसी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अपने चाचा चन्द्रअली के पश्चात् ये सीता रामजी के मन्दिर के महन्त बने थे। ये एक रसज्ञ संत एवं आचार्य के रूप में विख्यात थे। इनके असाधारण व्यक्तित्व से आकर्षित होकर चंदेरी के युवराज ने (जो आगे चलकर श्री सीतारामशरण के नाम से विख्यात हुए) इनसे दीक्षा ग्रहण कर विरक्त वेष धारण किया था। रूपसरस ने निम्नलिखित ५ ग्रन्थों की रचना की—

१ श्री सीताराम रहस्य चन्द्रिका
२ तत्वमंजरी
३ बालप्रबोधिनी वार्ता
४ गुरु परम्परा
५ गुरु प्रतापादर्श

इन ग्रन्थों में 'श्री सीताराम रहस्य चन्द्रिका" महत्वपूर्ण तथा विशालकाय ग्रन्थ है। ग्रन्थ की रचना कवि ने अपने गुरु की आज्ञा से की थी।[3] सम्पूर्ण कृति चार भागों में विभाजित है-धामप्रकाश, भावनाप्रकाश, षड्ऋतु प्रकाश एवं जुगल प्रकाश। डॉ० सिंह ने इन चारों भागों को भिन्न-भिन्न ग्रन्थ मानकर रूपसरस के ७ ग्रंथों का उल्लेख किया है।[4] इन चारों प्रकाशों में क्रमशः १४८, ५१२, २५२७ एवं १२९८ इस प्रकार कुल ४४८५ छंद हैं। इनमें जुगल प्रकाश को स्वतंत्र ग्रन्थ भी माना जा सकता है क्योंकि उसमें अलग से एक कथा का निर्वाह किया गया है। जिसका आदि अन्त इसी प्रकाश में निहित है।

---

१ श्री नवरस रहस्य प्रकाश—चन्द्रअली—छंद संख्या ४४०
२ गुरु परम्परा छंद संख्या ९४
३ श्री सीताराम रहस्य चन्द्रिका—धाम प्रकाश छंद ३-४
४ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय—डॉ० सिंह पृ. ४८३

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

शृंगार रस-माधुरी

(गतांक से आगे)

षष्टम् आस्वाद

॥ अथ भाव लछिनम् ॥

पिय प्यारी की प्रीति जो, प्रगटत तन मन आई।
ताहि सौं जग कहतु है, भाव कबिन के राई ॥१॥
पांच भांति को भाव है, इक विभाव अनुभाव।
थाई भाव अरु सात्विकी, अरु संचारी भाव ॥२॥

॥ अथ विभाव लछिनम् ॥

जिनकैं देखत ही प्रगट, बाढ़त अंतर प्रीति।
आलंबन उद्दीपन गि सो विभाव[1] रस रीति ॥३॥
प्रथम थान उत्पत्ति को दूजो करत बढ़ाउ[2]।
रस कौं जे ज्ञापित करैं ते बरने अनुभावु[3] ॥४॥

॥ अथ आलंबन स्थान वर्णनम् छप्पय छंद॥

प्यारी पिय बृजचंद सकल आनंदकंद अलि।
कोकिल कुल कल कुहक कुंज कुंजनि सगुंज अलि।
सरद चंद दीपनि अमंद छवि छंद-छंद सुख।
सौरभ सुमन-समूह सेज संगीत गुनिन मुख।
कल हास भास उज्जास गृह बिबिध बास भूषन सरस।
संपति समाज सब रितु सुखद आलंबन सिंगार रस ॥५॥

---

१ रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययो : सा. द. ३/२९
२ उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये " " ३/१३१
३ उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः " " ३/१३२-३३

॥ अथ उद्दीपन कथनम् ॥ दोहा ॥

देखनि बोलनि चलनि मुख-चुंबन औ परिरंभ ।
इनहि आदि सब बरनियें उद्दीपन आरंभ ॥ ६ ॥

॥ अथ अनुभाव लछिनम् ॥ दोहा ॥

आलंबन उद्दीपन के पाछैं जो बढ़ि जात ।
सो अनुभाव बखानियै पातम हित अधिकात ॥७॥

॥ अथ थाई भाव लछिनम् ॥ दोहा ॥

रति थाई सिंगार मैं, रहत हास में हास ।
करूना कै बिच सोक है, रौद्रहिं क्रोध विकास ॥ ८ ॥
वीर बीच उछाह है भयहि भयानक बास ।
वीभत्सामधि जुगुप्सा, विस्मय अद्भुत पास ॥९॥
नवौं सांत रस तासु मधि थाई है निर्वेद ।
सो सरूप वैराग कौ सब जन मांझ अभेद ॥१०॥[1]

॥ अथ सात्विक भेद निरूपणम् ॥ दोहा ॥

थंभ स्वेद रोमंच भंग, सुरकंप विवर्ण बखांनौं ।[2]
आंसू और प्रलाप आठहुं सात्विक[3] भाव वितानौं ॥११॥

॥ व्यभिचारी भाव निरूपणम् ॥ कवित्त ॥

निरवेद ग्लान अरु संका औ असूया मद,
श्रम कहि आरसरु दीनता बखानियै ।
चिंता मोह स्मृति धृति लाज औ चपलपनौ,
हरख आवेग जड़भाव गर्व जानियै ।
खेद उतकंठा नींद भूलिजैबो सोवनौं तरास,
औ बिबोधरु बितर्क उर आनियै ।
अमरख छिपावनौं उग्रतारु मति व्याधि ।
उन्माद मरन ये संचारी के मानियै ॥१२॥

---

१ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥ सा० द ३।१७५

२ स्तंभः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभंगोऽथ वेपथुः
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः । सा० द ३।१३४-३५

३ विकाराः सत्वसंभूताः सात्विकाः परिकीर्तिताः " ३।१३४
सत्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अपि अनुभावतः " ३।१५३

॥ अथ हाव लछिनम् ॥ दोहा ॥

थाई भाव प्रभाव तैं उपजत हाव[1] अनेक।
हेला लीला आदि दै तिनको करहु विवेक ॥१३॥
हेला लीला और ललित मद विभ्रम विहृति बिलास बखानऊ।
किलकिंचित विच्छित्र बरनिकैं अरु ता ढिग बिब्बोक कहि जानऊ॥
मोट्टायित कुटमित बोधवा ये सब हाव गने कवि जानऊ॥
न्यारे न्यारे लछिन लछि तातछन सकल विचछन मानऊ ॥१४॥

॥ हेला भाव लछिनम् ॥ दोहा ॥

नैंक न लाज समाज की जहाँ मांनियत कांनि।
हरत हियो पीतम पीया हेला[2] हाव सु मानि ॥१५॥

॥ श्री राधिका को हेला हाव ॥

कुंजनि की गैल कीयें सादी काम सैल बन्यो,
आवतु हो छैल भटु बीचि भेंट ह्वै गई।
ओझलि ह्वै आइ आगैं कोरि चंद चांदनी सी,
चंचला सी अंचला उठाइ कै चितैं गई।
मंद मुसकाई छिन छतियां छुवाइ ओठ,
अमी रस प्याई अपनैंई बसि कै गई।
सौरभ सुभाय गली गोकुल की छाई गर-
-बांही गर लाइ हरि मनु हरि लै गई ॥१६॥

पुनः

बंसीबट बाट नट मिलिगो अचानक ही,
दूहून के चित्त की उचित बात ह्वै गई।
एक ओर कारी घटा एक ओर चाँदनी सी,
गोकुल की गली तैं ही छिन छबि छ्वै गई।

---

१ भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः सा० द० ३।९४

२ हेला का अभिप्राय वह भाव ही है जो नायक-नायिका के हृदय में रत्युद्‌बोध के अनन्तर अंग-प्रत्यंग के विकार द्वारा सब पर प्रकट हो जाय। 'हेलात्यन्त समालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु' स एव भाव एव-सा० द० ३।९५। कृष्ण भट्ट ने हेला को हाव का भेद कहा है। संस्कृत का० शा० में भाव, हाव, हेला, शोभा आदि नायिकाओं के यौवनालंकार के रूप में परिगणित हैं।

आतुर ह्वै आइ अति चातुरता लाइ मुख,
घूंघट चलाय कैं चुराय मन लै गई।
नेह भरे नैनन सौं मीचो ये निहारि नारि,
नीची नारि कोरि सलाम काम कै गई।।१७।।

।। श्री कृष्ण जू को हेला हाव ।।

भारी भौंह भावनि मैं मंद-मंद आवनि मैं,
नैन उरझावनि मैं मन हरि लीनों है।
रूप दरसावनि मैं नेह सरसावनि मैं,
रस बरसावनि मैं परम प्रबीनो है।
मृदु मुसकावनि मैं छबि सौं छकावनि मैं,
छिनकि बिकावनि मैं सरबसु दीनों है।
भृकुटी नचावन मैं इन ललचावनि मैं,
प्यारे इन भावनि मैं कीनो है हकीनो है।।१८।।

पुनः
मंद मृदु हासनि मैं दसन प्रकासनि मैं,
आनन उजासन मैं मंजुनर मंजिगो।
अंग के त्रिभंगनि मैं बांकी भौंह भंगनि मैं,
कुंचित कुटिल कच संगनि मैं भंजिगो।
लटकत चाल अटकत बनमाल कटि तट,
लपटानें पटपीत रुचि गंजिगो।
देखत तिहारे मनमोहन हमारो मन,
मुरली अधरकर रंगनि सौं रंजिगो।।१९।।

।। लीला हाव लच्छिनम् दोहा ।।

पिय प्यारी लीला करत, अपनें चित कैं भाव।
बहुभांतन अभिलाष सौं, बरन्यो लीला[1] हाव।२०।।

।। श्री राधा जू को लीला हाव ।।

मृगमद लाइबे की स्यामपट भाइबे की,
अगनि छिपाइबे की चातुरी विशेषो है।

---

१ सा० द० में लीला का अर्थ है प्रेमोद्रेक के कारण अंग, वेष, आभूषण, वचन आदि से प्रियतम का अनुकरण करना—

अंगैर्वेषैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः।। सा० द० ३।९८-९९

हंसगति हू मैं धाइ पाइन चलाइवे की,
कुंजनि मैं जाइवे की बानि अवरेखी है।
नुपुर उतारिवे की नादन निबारवे की,
हार भार डारिवे की गति अति लेखी है।
आजु कालिह प्यारे मुखचंद के निहारिवे की,
निस अभिसारिवे की लीला दिन देखी है ।।२१।।

।।श्री कृष्ण को लीला हाव।।

तेरे बिन देखें उन्हें चैन कैसें होइ जिन,
लोचन चकोरनि पियूष रस चाख्यो है।
वेलिन मैं उझकि उझकि झांकि झांकि जात,
लाख भांति देखन कौं चित्त अभिलाख्यो है।
कबहुक चित्र मैं बिचित्र आपु चित्र लिखैं,
पाइ परि प्यारी मृदु बैंन मुख भाख्यो है।
आंगन तैं कुंज-भौंन कुंज तजि आंगन मैं,
आंगन औ कुंज-भौंन एकैं करि राख्यौ है ।।२२।।

।।अथ ललित हाव लछिनम्।।

बोलनि अवलोकनि चलनि, बिहसनि बानि बिकानि।
काम कलित अति रूचि बलित ललित[1] हाव उर आनि ।।२३।।

।। श्री राधा जू को ललित हाव ।।

अति ही अधीर कीने कोक पिक कीर बाजैं,
मंजुल मंजीर उठैं हंस कुल धाइ कें।
अमी के तरंगनि चलति मृदु पौंन आजु,
कीनो अति रौंनक ते कुंज भौंन आइकें।
स्याम चीर चारुता मैं चंचला चमक चाइ,
चातक चकित रहे चुहल मचाइकें।
कंचन चवेली चाइ चंचरीक चाचरहि,
नाचहि चकोर चारु चंद चाइ-चाइ कैं ।।२४।।

पुनः अति सरसाति पिय संग दरसाति औरें,
सुख कैं समाज भई औरें उजियारी सी।

---

१ 'सुकुमारतयांगानां विन्यासो ललितं भवेत्' सा. द. ३।१०५ (अंग प्रत्यंग का सुकुमार विन्यास ही ललित अलंकार है।)

गोल गुन गोरे लोल ललित कपोलनि मैं,
चौंका की चमक चकाचौंधी चख डारी सी।
गाढ़ी कंचुकी सौं लसैं उरज उतंग कसैं,
तंगनि अनंग के तुरंग छवि धारी सी।
जोबन के रंग मनिभूषण के संग ओप,
सहज कैं अंग दिपै दीपति दिवारी सी ।।२५।।

।। श्री कृष्ण को ललित हाव ।।

त्रिभुरी बनमाल बिसाल धरैं सब बालन कौं ललचावतु हैं ।।
लखि लाल रसाल सुहात हियैं तन अंकुर जाल बढ़ावतु हैं ।।
रुचि सौं रमणीक कियैं बनवीथि अली जन जा गुन गावतु हैं ।।
तजि माननी मान मनोभव को नित मंजुल माधव आवतु हैं ।।२६।।

पुनः

चित्त ललचावै काम भय तैं बचावै वन,
मोरनि नचावै रुचि ऐसी अंग अग की।
प्रीति उपजावै मृदु मुरली बजावै सर-
साई कौं लजावै नव सुधा के तरंग की।
मुख दरसावै त्यौं-त्यौं सुख परसावै,
दीह दुखहिं नसावै रीति धारै रंग-रंग की।
हियरा फिरावै घर बार बिसरावै लाज-
गिरि को गिरावै सिख मूरति त्रिभंग की ।।२७।।

पुनः

यह बनमाल उर बसत बिसाल यह,
बंसिका रसाल सुरजाल को निवास है।
बरसत रंग यह हरषत रंग दृग,
जीतत अनंग यह अंग को बिलास है।
यह मुखमंद हास जाको चंद दास सम,
यह कुंज-कुंज रास रति को उजास है।
यह माधुरी को सार रावरो अपार नैन,
करि कै अधार धरै आनंद विकास है ।।२८।।

।। अथ मद हाव लछिनम् ।।

उपजत मद अभिमान सौं पूरन प्रेम समाज।
ता ही को मद[1] हाव करि, बरनत सब कबिराज ।।२९।

---

१ 'मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः' सा० द० ३।१०५
सौभाग्य गर्व, यौवन गर्व आदि के कारण उत्पन्न विकार 'मद' कहा गया है।

॥ श्री राधा जू को मद हाव ॥

पिक बोलत पंचम की धुनियां दुनियां सब काम सौं दीन भई ॥
तजि मान यहै सयानप है बहु भाँतिन यौं सिखनै सिखई ॥
मन नैंक न होत दयाल इते मघि लालन आइ विलोकि लई ॥
ततकाल रसाल सुबाल उहि गर मालतीमालि सी लागि गई ॥३०॥

पुनः

फूल दुकूल अतूल सुगंध सिगार समाज सनी रजनी की ॥
लाखनि पूरति हैं अभिलाख सबै बृज मैं मृगनैनी घनी की ॥
भूषनभार बनावनि सौं अलि जानीये रीति धनी के मनो की ॥
औरन सौं उहि भांति रहै छकि मोसौं कहै तुम सादीयै नीकी ॥३१॥

पुनः लाल लसै ललना नव वेलि सी लागी मी लांक ललाम सी अंगनि ॥
मांन कैं बांनि कमांन सी तानति भौह के भग अनंग के रंगनि ॥
केसरि कैं रस रजित कंचुकी राजत यौं कुच हार के संगनि ॥
पंकज पीत पराग सने चकवा मधि मानौं सुधा के तरंगनि ॥३२॥

॥ श्री कृष्ण जू को मद हाव ॥

चंपक न चाख्यौ चित्त हू न अभिलाख्यौ रम,
सार करि राख्यौ मोऊ भाख्यौ कंज कौन है ।
मालती मुकुल मीजि डार्‌यौ मन मान्यौ है न,
सौंनजुही भौंन तजि लीनौ मन मौन है ।
माधुरी को मधुहू न मधुरो मधुर मन,
जा दिन तें चली बन चंदन की पौंन है ।
मोद न कुमोदन सौं मुदित मधूक सौं न,
छाक्यौ गुललाला ज्यौं गुलाब हू को गौन है ॥३३॥

॥अथ विभ्रम हाव लछिनम्॥

पिय अवलोकनि चाय सौं भूषन बसन बनाउ ।
करत और के और रग सो भनि विभ्रम[1] हाव ॥३४॥

---

१ त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रम मत ॥ सा. द. ३।१०४.

॥अस्योदाहरण॥

नेउर जराऊ मनि जे हरि बिसरि बोऊ,
पाइ अरबिंदन पै बंदन को धरिबो।
बांधे त्रिबलन बसि हेरत हियें पै हार,
हियें मन किंकनी की भासननि भरिबो।
जावक रंगीले मृग सावक से नैन इहि,
जावक अनोखें हरि तन-मन हरिबो।
कांनन मैं मुरली की तानन सुनत ही सु,
सीखी कहा कांनन मैं काजर को करिबो।।३५॥

॥श्री कृष्ण जू को विभ्रम हाव॥

पायन पलेटी पाग पेचनि को बांधगो न,
प्यारी तन पाइन सौं सीसहि लगाइबो।
सीस परि चंपक की माल कौ बनाइबो न,
एक-एक मूल अनुकूलता जनाइबो।
पंकज के पातन की बीरिनि को ओटनि,
छुवाइबो न वारि वार डारिबो सुहाइबो।
भूले जिनि कहो अति नीके है रानी के कान्ह,
नीकें चाइ नीके ही सिंगारनि बनाइबो ॥३६॥

॥अथ विच्छित हाव लछिनम्॥

जाहि न बोलन देत है लाज लपेटति आइ।
बिच्छिति हाव[1] सुवर्णीयै कविरायनि सिर नाइ ॥३७॥

॥ श्री राधिका को विच्छिति हाव ॥

कपट की बानी जिय आनी पहिचानी जानी,
जा मधि हमारो मन मेलि भरमाई है।
एरी भोरी भांम आपुही के हित हां तैं हठि,
को लग हितु की हितवाई हिवहाई है।

---

१ 'स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्' सा.द. ३/१८५ (बिच्छित्ति का अभिप्राय है सौन्दर्यवर्धक वेष रचना) किन्तु देवर्षि कृष्ण भट्ट का विच्छित्ति लक्षण इस परंपरागत लक्षण से नितांत भिन्न है।

पीरी परि आई झांई कपोलनि कहै देत,
कहि अब कैसें कांम कीरति दुराई है ।
तेरे चित चतुर सकोच की सचोटी चढ़ि,
चाह तन चल्यौ यहै कैसें बनि आई है ।।३८।।

।। श्री कृष्ण जू कौ विच्छिति हाव ।।

बोलै नही तिय रूठि रही करि लोइन कोइन की अरुनाई ।।
नूपुर कैं मधि लाल भए पिय होई रहें मन दीन महाई ।।
ऊँचे न बोलत, बीरी न खात नवाइ रहे मुख यौं सुखदाई ।।
सेज समीप पसीजत से कर बैठे गुहैं मनि माल कन्हाई ।।३९।।

।। अथ विलास[1] हाव लछिनम् ।।

अति चंचल खेलत हसत बोलत बिबिध हुलास ।
निसदिन पिय प्यारी दुहुं करत अनेक विलास ।।४०।।

।। श्री राधिका को विलास हाव ।।

बिराजत कंठ कल कोकिल मधुर धुनि,
राजत अधर नव पल्लव की भास सौं ।
लाल लखि लीजै अलकावलि चपल अलि,
फूले फूल फैले मंद हास के प्रकास सौं ।
आवति अतुल अति सौरभ की लपेटैं,
रुचिर रुचि राजै चारु चाँदनो उजास सौं ।
बाल कैं बिराजमान बारिज बदन बीचि,
बसति बसंत रितु बिबिध बिलास सौं ।।४१।।

पुनः

लोचन बदन कर चरन कमल फूले,
कल अलकावलि अलिन के निकर सी ।
कुच कैं कपट कोक-कोकी के जुगल लसैं,
हार लता ललित तरंगति दरसी ।
दीरघ नितंव दुहुं तीरनि विराजि रही,
त्यौं-त्यौं अति बाढ़ी ज्यौं-ज्यौं नेह घटा बरसी ।

---

१ प्रिय के दर्शन, आगमन आदि के कारण शरीर के अंगों में, व्यापारों में जो आनन्द सूचक विशेषताएं उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें विलास कहते हैं ।

सारी जरकसी की झलक सौं झकोरैं लेति,
सुंदरी लसति सोभा सुधारस सरसी ।।४२।।

।। श्री कृष्ण को विलास हाव ।।

अनियारे कोरनि मैं रन की झकोरनि मैं,
कहां ते चकोरनि मैं इती रुचि पाइए।
लाल रंग डोरनि मैं मदन मरोरनि मैं,
प्यारी चितचोरनि मैं चातुरी लखाइए।
मैंनसर बैननि मैं ऐसे ऐन मैननि मैं,
यहै बात सैंननि मैं सकल बताइए।
इन सुख दैननि मैं इन चित चैननि मैं,
प्यारे इन नैननि मैं तुरत बिकाइए ।।४३।।

पुन :

चंचल अनंग रंग सागर तरंग सम,
राखे विधि निधि कैधों मदन मरोर के।
इतने गुननि परिपूरन बिराजैं जिते,
गंजन कमल मीन खंजन चकोर के।
सरस बिलोकि हरि लेत हैं हरैई हिय,
जिनके मचे हैं चहचरचिहु ओर के।
दिन दिन दूनी दूनो लगनि कैं लागि रहे,
मेरैं चित्त लोचन चुभे हैं चितचोर के ।।४४।।

।। अथ किलकिंचित हाव लछिनम् ।।

स्रम अभिलाष गर्व अरु बिस्मय क्रोध हर्ष भय भारी।
एकहि बार होत तहँ बरनऊ किलकिंचित[1] सुखकारी ।।४५।।

।। अथ श्री राधिका कौ किलकिंचित हाव ।।

रहत झुके से परैं चौंकि बिझुके से पींज-
रानि रुके से रस लोभत रसाये हैं।

---

१ प्रियतम के संगम, आगमन आदि-आदि से संभूत आनंद के कारण मुस्कुराहट, अकारण रोदन, हँसी, त्रास, क्रोध, श्रम आदि-आदि के विचित्र मिश्रण को किलकिंचित कहा जाता है।

कुंज मग आगैं आगैं लखियत लागैं लागैं,
रैन दिन जागैं जागैं रंग उपजाये हैं।
घूंघट पटी के भट पूतरी नटी के नट,
जमुना तटी के बट निकट नटाये हैं।
मोपैं तेह पैंने पूरे पैम कहि दैने हरि,
नैंन हरि लैनें तेरे नैन लखि पाए हैं ॥४६॥

पुनः

आए लखि दूरि ही तैं दरबर दौरे उठि,
नीची अवलोकनि मौं करी है प्रणति तति।
लालच सौं मिले लाज आसन कौ छांड़ि तहां,
राखि उन्हें लागेई कटाछन की बातैं अति।
तरल तिरीछे टेढ़े सरल सुभाइन कैं,
भाइ अन्हवाइ अंगुछा इस तरौंही दति।
मान हिय रोपि रस दान हैं निदान,
प्यारी आजु तेरे नैननि पऊन गति ॥४७॥

पुनः

रूप तरव तामि करी जरी चाह कीलन सौं,
मोदन सौं मढ़ी कढ़ी बेरी गुर लाज हैं।
नेह पवमांन अभिलाष बादवान चित्त,
साह भरि राखे हित हीरन के साज हैं।
रंगभरी माधुरी के अंग-अंग दीपनि मैं,
बिहरत वाह कमला हरति राज हैं।
पिय रूचि वारिधि कें बीच जात अवतरी,
अखिया ये आजु तेरी राजत जिहाज हैं ॥४८॥

॥ श्री कृष्ण जू को किलकिंचित हाव ॥

रहि न सकत पल तकत तो आगम,
थकत उर कुंजनि थकत गति चाल की।
कर धरी बीरी लागे अधर लौं होत नारी,
उसासनि लेत लपटनि अलि माल की।
अटकी निपट कुंज महल कैं द्वार दृग,
लेत धुनि ऊंचे तुव किंकनी के जाल की।

सुंदरी सिरोमनि सी वृषभान नंदिनी जू,
विरह तिहारैं तन लालन बिहाल की ॥४९॥

॥ अथ बिब्बोक हाव ॥

रूप प्रेम अभिमान तैं, कपट अनादर होइ।
ताही कौं बिब्बोक[1] करि बरनत हैं कवि लोइ ॥५०॥

॥ राधिका को बिब्बोक हाव ॥

डोलत गोरस कैं लगि लाल चकांबरकारी यहै तन कारो ॥
मांखन दूध दही की कहा चली छाछि ही के रस कोरि भवारो ॥
बीथिन बैन विषान बजावत बाहर छैल बिलोकत बारो ॥
रीति न जानत प्रीति के फंद की नंद की गाई चरावन हारो ॥५१॥

॥ श्री कृष्ण जू को बिब्बोक हाव ॥

ए हो कान्ह कापर फिरत पटपीत काछैं,
वृंदावन मधुबन बिपन बनीन मैं।
मोहनी सी मेलि कत कीनी काम केलि वृज,
पाइन पछेलि बहु बिरह सनीन मैं।
लोचन अनीन अति चंचल कनीन कनि,
कै मनि कनीन कीनी हमहू गनीन मैं।
मुकुट मनीन रुचि मांनद मनीन कछु,
राखत मनीन आजु गोप रमनीन मैं ॥५२॥

पुनः

बंसी कैं बिसाल राग जाल उरभावत हौ,
ललित त्रिभंगनि करत चित्त भंगहू।
दूर ही के चंद नैंन चकोरनि नचावत,
पावत न कबहूं न भेटियत अंगहू।
छबिन छबीले लाल छिन बिसरों न छति-
यान छेक पारति हौ मूरति अनंगहू।
नैंसुक बिलोकि नजिभावत हौ या मैं कछु,
प्रीति है न रीति है न रस है न रंगहू ॥५३॥

---

[1] सौभाग्य गर्व के कारण प्रिय वस्तु के प्रति भी दिखावे का अनादर भाव बिब्बोक कहलाता है।

॥ अथ बिछित्त हाव लछिनम् ॥

सहज अंग की ओप सौं रहै न भूषन चाउ।
सो बिछित्त बखानीयै, परम रसीलो हाउ ॥५४॥

॥ श्री राधिका जू को बिछित्र हाव ॥

रंच न कीजत चंपक के तन कंचन जोति हू रंच न जागैं ॥
केसरि ले सहु क्यों सरि कै सकै दीपक दामिन की द्युति भागैं ॥
कोरिक बांनकहू मन मानिक मोतिन की रुचि मैलोयैं लागैं ॥
भूषन ही अलि भूषन की भये दूषन अंग की ओप के आगैं ॥५५॥

॥ पुनस्तथैवदर्शयति ॥

तो लौं गुन होति मनि मोतिन की जोति अलि,
जो लौं मुख चंद मंद जोति न बिसतारियै।
अंगनि की रंग देखि दामिनी बिरंग होति,
ओं हीं कहा कंचन को वचन बिचारीयै।
फूले फूले पंकज तो संक जु मुदेई जात,
सारी जरकसीहू की सादीये निवारीयै।
सहज सिंगारनि सिंगारहू सिंगारियत,
आजु कैं सिंगारनि तूं कैसे कै सिंगारियै ॥५६॥

॥ श्री कृष्ण जू को बिछित्त हाव ॥

कांधै धरें अति कारीयै कांबरिया छवि सौं न लुभावत को नहिं ॥
नीकैं लगें अति गोरज रंजित देखि गहैं रतिनायक मौनहिं ॥
राखत हैं बिन भूषन ही तन कान्ह गौंन सिखे परभौनहिं ॥
भूलि न अंजन लावति है नित देति जसोमति दीठ दिठौंनहिं ॥५७॥

॥ अथ मोटायित हाव लछिनम् ॥

भाव अनेकन सौं जहां उपजित सात्विक भाव।
ताहि छिपावन कीजियै सो मोटायित[1] हाव ॥५८॥

॥ श्री राधिका को मोटायित हाव ॥

बागैं बिनोद बिरीन बनाउ बने उस खेलत हैं बनवारी ॥
देखि अनंग तरंग भरी भलैं बोलि उठी वृषभांन दुखारी ॥

---

१ प्रियतम से संबद्ध आलाप संलाप के प्रसंगों में प्रेमलिप्त नायिका के कान खुलवाने आदि को मोट्टायित अलंकार कहते हैं।

एक यहै हिम रूप हिमंत चल्यौ तिहि ऊपरि पौन महा री ।।
नैननि नीर चलावत आवत अगनि कंप बढ़ावत भारी ।।५९।।

।। श्री कृष्ण जू कौ मोटायित हाव ।।

एक समैं वृषभान के मंदिर नंद महीपति न्यौंति बुलाए ।।
बागैं बिरी बलिदाऊ बने सब गोप अछेह उछाहनि छाए ।।
ऊँचे झरोखनि झाकति राधिका देखत ही हरि हीयैं हिराए ।।
आँखिन आइ गए अँसुवा तिन्हैं पंकज को रज मेलि छिपाए ।।६०।।

।। अथ कुटमित हाव लछिनम् ।।

केलि कलह की केलि मैं, जहाँ होत चित चाव ।
तहाँ सकल कबि कहतु है, होत कुट्टमित[1] हाव ।।६१।।

।। श्री राधिका कौ कुटमित हाव ।।

सौंहनि खात हियें सरसात मनावन कौं बहु बुद्धि बिसेखी ।।
हा हा करैं हरि पाइ परै तऊ तूं उनि त्यौं न कहुँ अलि पेखी ।।
नैंक चले उठि दोइक पैंड ही धाइ गहे गिरी नीबी न लेखी ।।
भैंटि भुजानि मनावत आपु ही प्रीति की रीति अनोखिये देखी ।।६२।।

।। श्री कृष्णजी कौ कुटमित हाव ।।

जोतिय अनोखी रूप गोरैं भरी बोलति न,
केते कुटिल कटु बोलत कौं भाषी है ।
जोई तिय कंजन सौं मारि मारि गारि दै दै,
काल्हि ही बिडार दये सखीजन साखी है ।
जो तिय अनेक मन हारिहू न मानैं पट,
घूंघट कौ ओट करि हीयैं अभिलाखी है ।
सोई तिय देखि तुम्हें लाडनि लडावत यौं,
आजु हरिजे हरि कौ लाल करि राखी है ।।६३।।

।। अथ बोधक हाव लछिनम् ।।

कोऊ बात जताइये करिकैं कोऊ भाव ।
तासौं बोधक हाव करि भाषत है कविराउ ।।६४।।

---

२ नायक के द्वारा केश, स्तन, अधर आदि के ग्रहण में आनंद लेने वाली भी नायिका संभ्रमवश अपने सिर, हाथ आदि से निषेध करे तो इस स्थिति में कुटमित अलंकार कहा जाता है ।

॥ श्री राधिका को बोधक हाव ॥

पूछत आइ संकेत समैं अति नंदकुमार कियैं अतुराई ॥
बैठी हुतो गुरलोग लोगनि बंचि करी इक उत्तर की चतुराई ॥
केलि सरोज सकोरि तिया पट अंबर भाल कौ लाल छिगाई ॥
केसरि के रस सौं रंग आननि लै वहियां उर सौं लपटाई ॥६५॥

॥ श्री कृष्ण को बोधक हाव ॥

चंपक फूल तमाल के पात लपेटि सखि कर प्यारी पठायौ ॥
ताहि लिये हसिकैं नंदनंदन देखत जीऊ सौ जीऊ मैं आयौ ॥
मेलि अली इक अंबुज अंतर भेजि दीयौ सु तिया लखि पायौ ॥
पूछ कहा तिय बोलै कहा पिय तासौं कहा मन मोद बढ़ायौ ॥६६॥

दोहा

पिय प्यारी चित चाउ के, ये सब बरने हाऊ ।
भूले चूके भाव कै कवि करि लेऊ बनाऊ ॥६७॥
हाव भाव के भेद सब कहे बुद्धि अनुसार ।
आठ भाँति की नाइका बरनों करि बिसतार ॥६८॥

॥ इति श्री मन्महाराजाधिराज श्री राउ राजेन्द्र श्री बुधसिंहजी देवाज्ञप्त कवि कोबिद चूड़ामणि सकल कलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट देवर्षि विरचितायां शृंगार रस माधुर्यां षष्ट आस्वाद: ॥ (क्रमशः)

हिन्दी विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

कुन्दनलाल जैन

जान कवि कृत
मोहन मोहिनी री वार्ता-एक खोज

'मोहन मोहिनी री वार्ता' एक छोटी सी रचना है जिसमें कुल ११६ दोहे हैं पर रचना है बड़ी सुपुष्ट एवं सरस। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल की निर्गुणधारा की प्रेममार्गीय परम्परा में प्रस्तुत रचना बड़ी ही महत्वपूर्ण है। ऐसी लुप्त कृतियां अनुसंधान करने पर और भी मिल सकती हैं।

जब सन् १९६२ में मैंने दिल्ली के जैन भण्डारों में स्थित हस्तलिखित पांडुलिपियों का सर्वेक्षण कार्य प्रारम्भ किया था और विस्तृत सूचीपत्र (जिसकी प्रेस कापी तैयार हो गई है) के लिए सामग्री संकलित की थी तो दि० जैन पंचायती मंदिर मस्जिद खजूर धर्मपुरा दिल्ली में एक गुटका मिला, जिसका क्रमांक हिन्दी गुटका नं० ३६ है इसके आदि के ४० पत्र नहीं हैं शेष ४१ से ८२ पत्रों में निम्न रचनाएं संग्रहित हैं :—

१	विषापहार स्तोत्र	हिन्दी	अचलकीर्ति कृत	४७ पत्र तक
२	अध्यात्म होली	,,	जगजीवन कृत	४८ ,,
३	मोहन मोहिनी री वार्ता	,,	जान कवि कृत	५८ ,,
४	पूजा	,,	वंसी हिसाखासी कृत	६० ,,
५	आरती	,,	द्यानतराय कृत	६१ ,,
६	बीकानेर की गजल	,,	जती उदै चंद्र कृत	७९ ,,
७	गोरे बादल की वार्ता	,,	जती जटमल सुपुत्र धर्मसिंह सवला ग्रामवासी	८२ ,,
८	फाग के ४ छंद	,,	अत में पत्र संख्या अस्त व्यस्त हो गई है	

इसके पत्रों की लंबाई चौड़ाई ११.३ × १० से० मी० है प्रत्येक पत्र पर १३-१३ पंक्तियां हैं तथा प्रत्येक-पंक्ति में १७-१७ अक्षर हैं।

प्रस्तुत लेख में केवल 'मोहन मोहिनी री वार्ता' की चर्चा की जा रही है इसके रचयिता श्री जान कवि थे जो न्यामत खां नाम से भी प्रसिद्ध थे; इन्होंने यह रचना अगहन सुदी ४ वि० सं० १६९४ में तीन पहर में रची थी। जान कवि शुद्ध निर्गुणोपासक थे जो कि इस रचना के आदि छंद मंगलाचरण से स्पष्ट ज्ञात होता है:—

आदि अगोचर अलख प्रभु निराकारि करतारि।
दैन हार जो सबल तन रचन हार संसारि ।।१।।

जान कवि की ७८ रचनाएं प्राप्त होती है जिनमें से ५१ में रचनाकाल का उल्लेख है शेष में नहीं, वे आशु कवि थे; कुछ रचनाएं तो दो–दो तीन–तीन पहर की रचित हैं। जान कवि अपने समय के विख्यात प्रमुख साहित्यकार थे, उनकी भाषा और शैली बड़ी सुन्दर और रोचक है, वे अरबी और फारसी के साथ–साथ संस्कृत के भी प्रकांड पंडित थे अलंकार, रस, काव्य शास्त्र, वैद्यक, इतिहास आदि गम्भीर विषयों पर उनकी लेखिनी अबाध गति से भागा करती थी, जायसी आदि सूफी संतों की भांति इन्होने भी २८ प्रेमाख्यानक कथाओं की रचना की, इन्होंने जितनी विविध विधाओं में जितनी अधिक रचनाएं की उतनी तत्कालीन किसी अन्य विद्वान् ने न की होगी। इनका अपने विषय, भाषा एवं भावों पर पूर्ण अधिकार था। कवि का स्वभाव बड़ा उदार था, यद्यपि वे मुसलमान थे पर उनकी रचनाओं को पढ़कर पाठक उन्हें हिन्दू ही समझेगा। इसीलिए तो ऐसे श्रेष्ठ कवियों को उल्लेख कर भारतेन्दु बाबू भाव विभोर हो कह उठे थे "इन मुसलमान कविजनन पर कोटिक हिन्दु बारिए"

कवि के पूर्वज चौहान वंशी थे, इनका जन्म फतेहपुर (शेखावटी) के राजघराने में हुआ था, उनके पिता आलिफ खां हांसी (राजस्थान) के नवाब थे जो अपने समय के प्रसिद्ध पराक्रमी योद्धा एवं कुशल शासक थे। जान कवि के गुरु हांसी निवासी शेख मुहम्मद चिश्ती थे जो अपने समय के प्रख्यात विद्वान थे, कवि ने श्रद्धा स्वरूप इनका नाम अपनी रचनाओं में जगह जगह उल्लेख किया है। जान कवि शृंगार के ही नहीं अपितु वीर रस के भी सफल लेखक थे। विस्तृत परिचय के लिए 'क्यामखां रासा' की भूमिका तथा सन् १९४५ की हिन्दुस्तानी, सरस्वती, विश्ववाणी, राजस्थानी आदि पत्रिकाओं के अंक देखें।

'मोहन मोहिनी री वार्ता' का अविकल मूलपाठ प्रस्तुत किया जा रहा है अतः तत्संबंधी विशेष चर्चा न कर उसका सारांश ही प्रस्तुत कर रहा हूँ:—

पश्चिम देश के राजा जगमंडन की पुत्री मोहिनी अति रूपवती और गुणवती थी उसकी प्रतिज्ञा थी कि जो उसके १० प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देगा उसी से व्याह करेगी अन्यथा उनके सिर काटकर महल के कंगूरे पर लटका देगी। देश-देशांतर के राजाओं ने मोहिनी को वरण करने का प्रयास किया पर असफल रहे और सिर कटा दिए। जब पूर्व देश के राजा प्राचीराय के पुत्र मोहन को पता चला तो प्रेमासक्त हो मार्ग की नाना बाधाओं को भोगता हुआ मोहिनी के महल पर जा पहुंचा और दासी द्वारा व्याह का संदेशा भिजवाया, मोहिनी ने अपनी प्रतिज्ञा की याद दिलाई पर मोहन तनिक भी विचलित न हुआ और सब कुछ भोगने को तैयार हो गया। तब मोहिनी ने मोहन को अपने महल में बुलाकर प्रहेलिका स्वरूप दस प्रश्न पूछे, जिनका सरलतापूर्वक उत्तर देकर मोहन ने मोहिनी को अपनी विद्वत्ता

से परास्त कर दिया, जिससे वह बड़ी लज्जित हुई। अब मोहन अपने प्रश्न पूछना चाहता था जिनके लिये मोहिनी ने दूसरे दिन सुबह आने पर उत्तर देने को कहा, उत्तर न दे पाने की दशा में या तो शादी कर लेगी या फिर सिर कटा लेगी, इस आश्वासन पर मोहन अपने डेरे पर लौट आया। इधर मोहिनी परेशान हो उठी, पता नहीं मोहन क्या पूछेगा ? अतः वह वेश बदल कर सखी के साथ मोहन के पास आई और उसे प्रलोभित कर पृष्टव्य प्रश्न के विषय में जानने की चेष्टा की पर मोहन चतुर था उसे पहचान गया और गोद में बिठाने लगा पर मोहिनी उसे काटकर चतुराई से भाग निकली। प्रातःकाल मोहन जब मोहिनी के पास गया और प्रश्न पूछे तो मोहिनी ने अपनी पराजय स्वीकार की और ब्याह के लिए तैयार हो गई। जब मोहिनी के पिता राजा जगमंडन को पता चला तो वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़ी धूमधाम से ब्याह कर बेटी को विदा कर दिया। मोहन अपने राज्य में आकर विदुषी पत्नी के साथ सुख से कालयापन करने लगा। शेष रसास्वादन मूल पाठ से कीजिए—

मोहन मोहिनी री वार्ता

आदि अगोचर अलख प्रभु निराकारि करतारि।
दैन हार जो सकल तन रचनहार संसारि ।।१।।

रवि ससि उडत अकाश सम पल में करत प्रकास।
देते हुलास उदास कूं पूजव आस निरास ।।२।।

नांव महमद लीजिये तन मन व्है आनंद।
पूजे मन की इच्छ सब उर होय दुख दंद।३।

अबह वखानूं 'जान' कहि सुलख कथा चितलाय।
पढ़त न द्वारस सजिह लिखत न कर अरसाइ।४।

गंजमंडन खंजन खलन पच्छिम दिस को राय।
हय गय दल बल लक्ष्मी गिनत न लेखे आय।५।

ताके तनया मोहिनी रूप व्रान्त अभिराम।
बुध को बुधी ही जान कहि छांव को काम न काम।६।

जिह मंदर में रैन कूं रहत मोहिनी नारि।
बिन दीपक बिन राति नहीं होत तिहां उजियारि।७।

जो बाके दिग आनीये कहि कवि जान चकोर।
तो वै धोखे चंद के सब निस भ्रां (ढ़ां) के बोर।८।

अंधियारी निस मोहिनी ज्यो सर न्हावन जात।
खिले कमोदनि जान ससि फूले अग न मात।९।

जो दिन को जैय ताल परि छवि न रइ रवि मांहि
इंद भस्म जे अ न कै ई (इं) दीवर खिल जांहि।१०।

कनक डारियतु अग्नि मे सु तो ताईइतु नांहि।
तीय तन वरन न हरिकै मिल मिल·······गम जराहि।११।

अधिक क्रांति तिय अंग देखत जुग मिह जांहि।
संपा वादर में हुरी अरु चंपा वन मांहि।१२।

बार तिया के देखिकै अहि न रहो निइ हेत।
घरन वरन सो जान वहि जीवत माटी लेत।१३।

मधुकरि लकरि मंहि बरत को जाने कहा हेत।
बार नारि देखत लजो काठ जान के लेत।१४।

अति कारे लांबे अधिक बार सुचिकने बाम।
तिस दुक को निस होइ गइ घटो कही जगनाम।१५।

कस्तूरी कच देख लजि वरी नाम मृग मांहि।
हरनन पै मांगै चरन ज्यों कछु छालै नांहि।१६।

मीलम मोले मृगि पुनि निरखत सकल लजात।
मुख पानिपु मैं नैन यों जो जल में जल जात।१७।

लागे कटाक्ष करण छिद्र गुजवहि संचरचो मैन।
जैसे मधुकर भार तें नीरज भैलें अैन।१८।

फूलज फूले देख ससि सोइ दीप रते न।
कहित जान मुख चंद तैं ना गठत तामैं अैन।१९।

फूल फूले देख ससि सो इंदीवर नैन।
वहि जा मुख चंद तैं ता बिछुरे दिन रैन।२०।

कुच कंचन संपुट जडे लालन को मन लाल।
तारी भारी प्रेमदधि नाहिन कारत बाल।२१।

कंचन की तच कुचन की रुचि रति बुढ़वन हारि।
गाठां लंगन दीजिए तउ ह्वै जाय दुसारि।२२।

अति कठोर निकसे सिहून अपनी छतिया फारि।
फारत छतीयो ऊरं की कहा लगावत बारि।२३।

कुच कंचन के सीस पर यह जु स्यामता आहि।
निकसो डर हीये वस्यो छाया प्रगटी ताहि।२४।

निपट तुच्छ कटि जानि कहि बोहत रह्यो निरभाय।
तो हो कछु उपमा कहूं जो कहूं वा दिठ राय।२५।

विद्र, घंट का बंधि है कटि पर बाम बनाय।
कहित जान भूषन सहत मुठी मांहि समाय ।२६।
नूपुर मुक्ताहल जडत उपजत ऐसो भाई।
हंस चाल पर हंस है मनुहु बनिता पाई ।२७।
मतवारो कुंजर लजो देख चाल तिय भेद ।
लोक कहत मद बहत सो आयो है प्रस्वेद ।२८।
जबहिं मोहिनी करत है ऊंचो सबद उचार ।
बिन ऋतु वो बोलि कोकिला मर्म परत संसार ।२९।
रुपवंत अति मोहिनी मोहो सब संसार ।
और इते परिग्यान को आवत नाहिन पार ।३०।
समस्या अन पुन्यशक्ति पढ़ी बढ़ी ग्यान की जोत।
कोबिद जिते जहान में कोउ ना सम होत ।३१।
गूढ़ा अर्थ को प्रौढ़ मति दिष्ट कूट जानंत ।
पावत ते प्रहेलिका कैपी को आनंत ।३२।
बाकी बातें अति विकट अर्थ लहत घट कोय ।
बुध आगर नागर सुभा असी हुई न होय ।३३।
यहै कहत है मोहिनी व्याह कर की आन ।
व्याहूं ताहि जो होत है सब गुन मोहि समान ।३४।
जो ब्याहन कूं आत है ता पूछूं दम बात।
अर्थ कहै तो जीत हैं नातर जीव तें जात ।३५।
बात मोहिनी की चली सकल चरा-चर मांहि।
अति स्वरुप चतुरा अधिक सम को दूजी नांहि।३६।
जेते ग्यानी जगत में सब को उपजी होंस ।
जपै मोहिनी मोहिनी रोवत है निस द्योस ।३७।
चल आये ढग मोहिनी पंडित गुनी अनेक ।
अर्थ न पायो बात को जीवतन गयो न एक।३८।
मारे जे हारे सकल तिनके सीस कटाईं ।
गढ़ कागर पर मोहिनी राखे हैं लटकाईं ।३९।
रोर पडी सब जगत में कोऊ आवत नांहि ।
हाथ न आवत मोहिनी काहे जीव तें जाहि।४०।
प्राचीराज को नदन मोहन जाको नाम ।
बात मोहिनी की सुनि रोवत आठूं जाम ।४१।
विद्या गुरु मोहन महा रुपवंत अभिराम ।
यहै कहै तहो जीत हो है सु कहा बुध वाम ।४२।

जो कबहूं हूं हारऊं तो उचिता नांहि ।
लहूं परम पद जो मरुं प्रेम मोहिनी मांहि ।४३।
नींद भूख तिस्ना मिटी चित बढ़ी चीत मांहि ।
जो उत जाऊं न जीव उर तो उचिता नाहि ।४४।
मोहन मन सोचै इहै उर है न जीऊ मुरभूरि ।
मरन तें है चलगो मरवोमीत हुजूरि ।४५।
वोहु जीवत है मुवो पिव सु नांहि पहिचानि ।
लहो परम पद जो मरो प्रेम मोहिनी मांहि ।४६।
कांहू सू नांहिन कहै मोहन मन की बात ।
दुगो दुरो दुख पाव हे जानत मन के गात ।४७।
एक रैन मोहन कुंवर जब वीति अधराति ।
पवन वैग चढ़कें चल्यो लखो न काहू जाति ।४८।
मोहन सुमरन गोहिनी रसन लगी त्यूं नाम ।
निस नींद न द्योस कल चल है आठों जाम ।४९।
मग छिरकत चलो वरसत घन जु आंखि ।
लाए वेग उडाय उत विरह प्रेम द्वै पांखि ।५०।
देखो नगर सुहावनो मन भावन की टोर ।
उतरो मोहन जाय कें ऐन मोहिनी पोर ।५१।
चेरी से ऐसे कहो कहो मोहिनी - जाय ।
आयो मोहन मिलनकूं प्राचीदिस को राय ।५२।
वो रानो तुझ रूप सूं निसग न लीनो कोय ।
दरसन शरस तुव परस को तरसत नैना दोय ।५३।
कही मोहिनी सूं सकल दासी मोहन बात ।
कहो जइ कहुं बावरे कह जीवतें जात ।५४।
पहले गढ़ के कांगुरे नी के कर निरझाई ।
जो सिर वो डर ना करे तो फिर मोपैं आइ ।५५।
मो आने घर ही सुनी नारि तुम्हारी बात ।
हुतो उत होतें चलो भर सिख जीवनी वारि ।५६।
ओरन को सिर काटि कर गर्व करो हो जिन बाम ।
अब है परो है मोहिनी मोहना सेती काम ।५७।
वे दस बात जे विषम है राखो भेद दुराय ।
सो मुझ धों पूंछ अब देहूं अर्थ बनाय ।५८।
चक्र तरही सोहना मोहिनी नीकी भाव नाई ।
ऐक जमे का विचंदे लीनो कुंवर बुलाई ५९।

मोहन देखत मोहिनी रीझी कही ए बात।
गुन की हों जानत नहीं भोतन अद्‌भुत गात।६०।
ऐसो भाखो मोहिनी सुन मोहन दे कान।
दुगम बात हूं पूंछऊं तू करि सुगम वखान।६१।
मोहिनी— कलजुग या संसार में कहि ऐसो को आहि।
एक बात जो सोच है दे दस गुन कर ताहि।६२।
मोहन— सुनह अर्थ मन मोहिनी है यह धरा स्वभाव।
बोइ एकहि बीजकें दे दस गुन उपजाइ।६३।
मोहिनी— ऐसो बहुमुक कौन हैं भखत जु नांहि अघाइ।
खात खात भोजन घटे तव आपन भर जाइ।६४।
मोहन— वोहुमुक ज्वल जानीयो तिन लकरी बहुक खाइ।
जब भोजन घट जात हैं तब आपुन भर जाइ।६५।
मोहिनी— दृग मूंदे सब देखिए कौन मुकुट सो ईठ।
जो चख खोलि निहारिए कछु न आवै दीठ।६६।
मोहन— वोहु सुपुने को मुकुट है सोवत सब दिठ आइ।
जागे कछु सूझै नहीं जब दृग जुग खुल जाइ।६७।
मोहिनी— रहे भाकसी में सदा चिंता कछु न जताइ।
रुदन करे जब छूट हैं वाको नाम बताई।६८।
मोहन— बालक वाको नाम है गर्भ भाकसी जान।
जब निकसे तब रोइ हैं याको यही बखान।६९।
मोहिनी— न्यारे न्यारे पुरुष हैं सकल होइ इकनाम।
तब सब कोऊ कहत है उनको नारि नाम।७०।
मोहन— मन के तोलूं पुरुष है न्यारे न्यारे आहि।
धागे माँहि पोइए माला वाको नामि।७१।
मोहिनी— न्यारी न्यारी रहत हैं मिलै जु पुरुषन मांहि।
तब सबको नर भाष हैं नारी कहियत नांहि।७२।
मोहन— अश्विनी अश्वे एक संग ह्वै जब है कहु दल होइ।
कहैं इतने धौरे जुरैं घोरी कहै न कोई।७३।
मोहिनी— तिय विगार नर सिर परै नर विगार सिर तीय।
चारों धौ कौन है कहो सोच कै जीय।७४।
मोहन— जो उजार है स्वाननि नांव स्वान के लेति।
हान करै मंजार ज्यों दोस मंजारी देति।७५।

मोहिनी-नारि पूरन पिय रसन तिय रसना पिय नांहि।
कहियो कैसे कै वनी जो कह भुल कै मांहि।७६।
मोहन–नारि रसना को शब्द बीय रसना को नांहि।
चूमत है जानांग को राखत अधरन मांहि।७७।
मोहिनी–ना निस कबहुं सोइ है ना सोवत है भोर।
ककही साथी एक ही कबहु होइ की रोर।७८।
मोहन–निस के साथी उडित वहू दिन साथी एक मान।
चले जात सोवत नहीं सौठे रैन विहान।७९।
मोहिनी-बिन जोवन चरनन चलत चखै रसा विन बैन।
विन ही मुख हस हस परत रूदन करत बिन नैन।८०।
मोहन-वाद जो विनु पगु चलै गर्ज रस्न विनु वैन।
बीजु छटा विन मुख हंसत श्रवन रुदन विन नैन।८१।
कही बात दस मोहिनी महाविकट जिय जानि।
अर्थ कहो तिन सबन को मोहन नीहै छानि।८२।
सबन कहो जीतो कुंवर हारी निहचे बाम।
गहरन कीजै व्याह की वनी जो टरकट काम।८३।
भई खिसानी मोहिनी ऐसे कही लजात।
अबही कुंवर उठ जाइ तुम फिरहित आवहु प्रात।८४।
कछु विकट मोहि पूछइउ जो ना होइ विचार।
तो कछु धोखो ना कहे तुम नर हो हम नार।८५।
अर्थ लहुं इक सोम हम तुम विश्वावीन।
ना तो हमको व्याह है नाहुं काटतु सीस।८६।
मोहन उठ डेरे गयो मन में उपजी चंत।
देखो भोर कहा वनै लह ए कहा नहीं गंत।८७।
चिता उपजी मोहिनो लीनी सखी बुलाइ।
ना जानै पूछै कहा कुंवर जोह कूं आइ।८८।
चालो हे आजनी कुंवर के डेरे मिल के जांहि।
मति वारो करि पूछि है जो वाके मन मांहि।८९।
गई मोहिनी कुंवर पै च्यार सखी ले संग।
भूषन बहु भूषे नहीं मेले अंबर अंग।९०।
भोजन भर लेके गई जब बीती अधरात।
कहो कुंवर ज्यों दूर तें इम सुन आई बात।९१।
सुनो तिहारो रूप गुन बढ़ी चित में चाहि।
जिन जीती है मोहिनो सो को मोहन आहि।९२।

भोजन भत्र पीत्रो सुरा प्रगटी दृग मति वारि।
गांतो लिखके कुंवर कुं कुंवर कूं पूछन लागि नारि।९३।
कुंवर अर्थ दस बात के इनह कहो समुझाई।
भोर कहा जाइ पूछ हो वा प्यारी सू जाई।९४।
सोच करो मोहन इहै इन सूं कहूं न बात।
ना जानूं या कौन है इत आइ कहा घात।९५।
कहो भोर जब जायहु मन मोहन के संग।
सही वाको पूछहुं उटत जु मनह तरंग।९६।
ह्वै नीरा सी उठ चली देखी मोहन जात।
पहिचानी जब मोहिनी वो हय कोमल जात।९७।
मैले अंबर विमल तन दुरत दुरायो नांहि।
जैसे दामिनी वो दमकि दिखइ तब बादर मांहि।९८।
नवला आंख दुराइ है भस्म लाय है अंग।
कहत जान नाहिन मिटे निपु विमल अनंग।९९।
मोहन पकरी मोहिनी छांडी नाहि वांहि।
कोर किए झकझोर पै अबला छटत नांहि।१००।
अति आतुर ह्वै मोहिनी काटो मोहन हाथ।
छोड दई जब भाजि कै मीली आपने साथ।१०१।
भोर भयो मोहन गयो जिहां मोहिनी नारि।
कहै बात इक बूझहू ताको देहु विचारि।१०२।
सभा बनाई मोहिनी बीच जु मनिका बानि।
तब सोरह सिंगार करि अपुनै बैठी आनि।१०३।
कुंबर कहै दस बात कै मै तुम रहो अर्थ।
एक बात तुप पै हो जाने ग्यान समर्थ।१०४।
को पंछी मज्या भखै वर को भषै कोने।
ना भख जाई कोऊ करै जी भखतु है कोउ सहत न खाइ।१०५।
बिन हाथा कछु न भखै जाको इहै सुभाव।
सो पछी वो कौन है मोहि कहो समझाई।१०६।
सुन श्रवनन जब मोहिनी जानी निस की बात
झूठी ह्वै जो ना कहै क हानि जात।१०७।
अर्थ कहै तो वो ह्वै कत निकसी हो रात।
औ जो कही झूठी रही भेदन कहो न जात।१०८।
जीतो मोहन कुंबर तब कहो सर्व संसार।
हारी नारि मोहिनी दियो न अर्थ विचार।१०९।

जगमंडन सूं सुख भयो जीतो प्राचीराइ।
याकूं व्याहत मोहिनी मोकूं लाज न आई।११०।
विद्या वर को नीच जो जीत मोहिनी लेत।
तो मोकूं सब गोत मील झार पांत तें देत।१११।
ब्याह रचायो चोर सों जगमंडन आनंद।
व्याह दई रति मोहन को कोधो रोहिणी चंद।११२।
मोहन अंग न माह हैं लही मोहिनी बाम।
काम किलोल अमोल सुखकरि है आठो जाम।११३।
दयो अमृत तब दायजो कीनो बिदा नरेस।
मोहन लेके मोहिनी गयो आपने देस।११४।
आनंद उपजो अति फूलो अंग न माइ।
अरुन वो देस प्राची वरन त्यों मुख प्राची राइ।११५।
राइ कहै सोधो जगत जिहां प्रीतम के काज।
सो कर नारि दयाल व्है आनि मिलावो आज।११६।
रुपे कंचन नगर तन जहां भावत सो लेत।
राजा रानी कुंवर पै न्योछावर करि देत।११७।
जो लों मोहन मोहनी जीवे इही संसारि।
एक अंग संग ही कहे रंचक घटो न प्यारि।११८।
सोरह सै चौरानवै हो अगहन सुदो चारि।
पहर तीन में कथा कीनी 'जान' विचारि।११९।

[पंचायती मंदिर मस्जिद खजूर के जैन भंडार में हि० ग्रं० न० ३६ के पत्र ४८ से ५८ पर। पंक्ति १३, अक्षर १७, लबाई ४"×४" चौड़ाई ११.३×१०.१ C.M.]

६८ कुन्तीमार्ग
विश्वास नगर–शाहदरा
दिल्ली-३२

डिंगल गीतों की अनुक्रमणिका

शोध पत्रिका, वर्ष २३, अंक २ में
प्रकाशित अनुक्रमणिका से आगे

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
८७	अज्ञात	राजराणा बैरीसालजी झाला (देलवाड़ा) की प्रशंसा
८९	किशनजी आढा	जवानसिंह चूंडावत (कुराबड़) की प्रशंसा
३३१	अज्ञात	राजराणा वेरिसाल (देलवाड़े) की प्रशंसा
१४१	दुर्साजी आढा	कचरा कूंपावत की प्रशंसा
२०३	हरिसिंह खिड़िया	सूजा राठौड़ का यश
३७६	अज्ञात	भीमसिंह राठौड़ की वीरगति
३१	"	ईश महिमा
४४१	"	महाराणा जवानसिंह की प्रशंसा
१०१	महेशदास आढा	रावत पद्मसिंह (सलूम्बर) का यश
३४	अज्ञात	महाराणा राजसिंह की प्रशंसा
५३	"	सवाईसिंह चौहाण की वीरता
६१	"	खेंगारोत भगवतसिंह कछवाहा की प्रशंसा
१८४	"	महाराजा रायसिंह (बीकानेर) की दानवीरता
१५७	"	श्यामसिंह सोनीगरा का युद्ध
२६	"	रायसिंह राठौड़ (बीकानेर) की दानवीरता
४१	"	" " "
१४८	द्वारकादास दधवाडिया	म० अभयसिंह (जोधपुर) का आजम को सहयोग
९८	" "	" " "
१७	" "	" " "
११९	अज्ञात	महाराणा स्वरूपसिंह की प्रशंसा
२०९	किशनजी आढ़ा	महाराणा भीमसिंह की तारीफ
३६	अज्ञात	रतनसिंह (आसोप) का मरसिया
२१४	"	राजा उमेदसिंह (शाहपुरा) की प्रशंसा
१३७	जाड़ाजी मेहडू	महाराणा प्रतापसिंह का यश
५६	" "	" " "
५९	अज्ञात	रामसिंह की प्रशंसा
२९२	नन्दलाल भादा	रावत उरजणसिंह कुराबड़ की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
२६७०	३१२	पालटे ताबी जठै तै अछा बीरूकां	१६८
२६७१	३३२	पालटिया कोट वालिया पर हूँस	८५
२६७२	३१२	पाला नत वहे सहे अत परलो	१
२६७३	३५५	पावड़िया कुनण पगां बेहुं पहरण	४७
२६७४	३३५	पावड़ियां कुनण पगां बेहुँ पहरण	१७८
२६७५	३२२	पावां वाटका उरोजां ढाल चाल रा मिजाजी पंथां	१२०
२६७६	३१३	पासो झाले तरवार सारी संसार सु दांव प्रथी	१४४
२६७७	३१२	पासो झाले तरवार सारी संसार सु दांव प्रथी	१६८
२६७८	३२१	पासो झाले तरवार सारी संसार सू दांव प्रथी	६८
२६७९	३२३	पाहाड़ चढै असमाग पाकड़े	२७
२६८०	३२२	पाहाड़ चढै असमाग पाकड़े	११०
२६८१	३२४	प हड़ चढे असमान पाकड़े	६२
२६८२	३३२	पाहाडां बन बिकट रह्यो अण मजियो	६८
२६८३	३३५	पिंड कहै पवन पुलि पवन सिथर पिंड	६५
२६८४	३१८	पिंड कहै पवन पुलि पवन सिथर पिंड	८३
२६८५	३२६	पिंड चढियौ जसौ सीस पतसाहां	१५४
२६८६	३२२	पिख किसूं भखै कारगन प्रहासे	११
२६८७	३१३	पिड पिडै नहीं पाडता पेखे	६१
२६८८	३१२	पिडि साझि पठांण परसि पुरिसोतम	११५
२६८९	३२३	पिथ राजा जेम धरा पाथरते	३८
२६९०	३:२	पिय पिथ राजा जेम धरा पाथरते	१३०
२६९१	३३५	पिय पिथराज जेम धरा पाथरते	७३
२६९२	३२८	पीजरते हसति वचै पतिसाही	१२३
२६९३	३३५	पीजरते हसति वचै पतिसाही	१३६
२६९४	३२५	पीठा डूंगरां उघड़े चाढां चढीजे उतंग पाजां	८७
२६९५	३२७	पीडी पालियो हरामी खोर आयौ ऊंकारियौ पाजी	१३२
२६९६	३५५	पीड़ी पालियौ हरामी खौर आयौ ऊंकारियौ पाजी	१३१

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
४१४	नन्दलाल महियारिया	राजा मानसिंह और केसरीसिंह राठौड़ का युद्ध
१७१	अज्ञात	सुजानसिंह राठौड़ का युद्ध कौशल
१	ओपाजी आढा	ईशभक्ति
५६	नरसिंघदान खिड़िया	श्री भेरूजी की स्तुति
१३५	,, ,,	भेरूजी के स्वरूप का वर्णन
१२१	स्वरूपसिंह राव	रावत भूपालसिंह (भदेसर) की प्रशंसा
१३३	अज्ञात	राजराणा राघोदेव (देलवाड़ा) की वीरता
३५२	,,	,, ,, ,,
१०१	,,	,, ,, ,,
८२	,,	महाराणा अमरसिंह (प्रथम) का यश
२३९	,,	,, ,, ,,
७६	,,	,, ,, ,,
१९७	,,	सिंह का शिकार
२५	,,	रामसिंह सीसोदिया की वीरता
८१	,,	,, ,, ,,
३४३	,,	जसवंतसिंह का युद्ध कौशल
११	,,	जसराज की वीरगति
५७	,,	रावत सूरजमल की वीरगति
२४५	गोपाल मिश्रण	मानसिंह (जयपुर) का यश वर्णन
१२७	जोगीदास (कुंआरिया)	महा० जगतसिंह (प्रथम) की बादशाह पर चढ़ाई
२७७	,, ,,	,, ,, ,,
३०	,, ,,	,, ,, ,,
२५५	अज्ञात	नारायणदास शक्तावत की वीरता
१०७	,,	,, ,,
१७०	वखतराम आशिया	केसर सागर की प्रशसा
१४०	चमनजी	किशोरजी की निन्दा
१४३	,,	दलेलसिंह चूंडावत की वीरगति

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
२९९७	३५५	पीतल ऊजलो तो ही कनक न पुगे	१२२
२९९८	३२८	पीधा ए एकां कीरति छाकां ओमणा बेछाड़ी पणै	६८
२९९९	३३३	पुगी दिगंत्रा चो फेर घाड़ा भड़ां समाज रे प्रभा	७२
३०००	३१४	पुगी माला पै मंडलीक पुगी	१४३
३००१	३१४	पुजन करै गचर तणां पग पूजे	६
३००२	३१८	पुजन करे गवर तणां पग पूजे	१११
३००३	३२०	पुड़ ऊपड़े दिली दखिणा धरे पाधरे	१४५
३००४	३२४	पुणि हंस पाइ गति 'लाक वन पति' गात जै गणि मणिग्रीहा'	५४
३००५	३३४	पुनमथ तोड़ो मार कडाह मालपुर	१०७
३००६	३३५	पुनमथ तोडो मार कड़ाह मालपुर	१२४
३००७	३२९	पुरषारथ समथ पराक्रम पीथल	४६
३००८	३२९	पुरलक प्रजालि पलास प्रलै करि	१६
३००९	३३०	पुरलक प्रजालि पलास प्रलै करि	७२
३०१०	३१३	पुरलंक प्रजालि पलास प्रलै करि	१७६
३०११	३३२	पुलिमा पंड वेस सुपह संचरिया	३४
३०१२	३२३	पुले काल की होयबो जको जटीस कोपत्रो कना	१६४
३०१३	३५४	पुह रावत घनो पराक्रम पीथल	१२०
३०१४	३२०	पूगा अहिलांण धमंकी पाखर	८२
३०१५	३२१	पूगां अहिलाण धमंकी पाखर	४२
३०१६	३१५	पूगी तिण भार अढारह पुजा	१३३
३०१७	३१५	पूगी माला मंडलीक पूगी	३८
३०१८	३२७	पूगीये मालीये मंडली के पूगी	१८७
३०१९	३३३	पूछे कुण गुणा करे कुण पारख	२८
३०२०	३३४	पूछे की वेद हकीमा पाछे	१२३
३०२१	३३४	पूछो भव वेद कना कोई पंडत	१२९
३०२२	३३३	पूरब उतरादि पछमदल पछटण	४
३०२३	३१२	पूरब जनम भज्यां लछमीपत	१५०

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
१३४	अज्ञात	महाराणा भीमसिंह की प्रशंसा
१३६	बदनजी मिश्रण	महाराणा अरसी की वीरता
७६	सुरजन गाडण	रावत रणजीतसिंह चूंडावत (देवगढ़) का दान
२८६	हरिसूर बारहठ	सत्ता भाटी की वीरता
१५	अज्ञात	महाराजा मानसिंह (जोधपुर) की वीरता
११२	,,	,, ,,
३१६	,,	दला चहुआण की वीरता
६८	मेहा वीठू	कूंपा राठौड़ की वीरता
२०३	अज्ञात	महाराणा राजसिंह की वीरता
२४५	,,	,, ,,
८५	,,	राठौड़ पृथ्वीसिंह का युद्ध कौशल
६६	ईश्वरदास बारहठ	ईश महिमा
१४८	,,	,,
१६५	,,	,,
६८	अज्ञात	भोजराज की वीरगति
६२१	तगत्ता सांड	रावत रणजीतसिंह (देवगढ़) के भाले की प्रशंसा
२६०	अज्ञात	रावत प्रथीसिंह की वीरता
१८२	,,	पद्मा चौहान की वीरता
४६	,,	,, ,,
१३०	कलाजी संडायच	रावत सीधा (देवलिया) की वीरता
१४	हरिसूर बारहठ	सत्ता भाटी की वीरता
१६६	,,	सत्ता लूणकरणोत का यश
२८	अज्ञात	महाराजा मानसिंह का मरसिया
२२३	गुलजी आढा	ईश भक्ति
२३५	अज्ञात	,,
४	,,	जगतसिंह की वीरता
३१५	,,	राजराणा वेरिसाल झाला की प्रशंसा

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
१०२४	३३२	पूरबजां तणी अग्या जण पाली	१२२
१०२५	३२०	पूरब दिशि काम आकरे पडीयौ	५५
१०२६	३३२	पूराँ सादूलां गोपाला	५६
१०२७	३२४	पूरियौ परवाडे पेट पंचामृत	१०५
१०२८	३१६	पूरियो परवाडे पेट पचाम्रित	४८
१०२९	३२०	पेखंता प्रिथी पाथतां अनिपह	१७४
१०३०	३५५	पेखे सुत्राटा खरीदै मोल बयाना लाख रा पुठा	६१
०३१	३२८	पेखै पिंड पिसण जिकां रौ पूठौ	११६
१०३२	३२५	पेखो सभा मे सल्ला मे बोले सार रे पाडले पती	८६
१०३३	३१६	पेखो संभुरी ज्वालाझी भूनो अनंग री सोभा पायो	३
१०३४	३३१	पेणी चामंडा त्रसूल देणी आराम पलासी पखाँ·	१८
१०३५	३२५	पेला दगारी वचारी तठे बीबारी न धारी पाछी	१८६
१०३६	३२५	पेला दगारी वचारी तठे जोवारी न धारी पाछी	५४
१०३७	३१५	पेले कवादी तिलंगा वाड़ा जंगी राग घोरे पोख	३४
१०३८	३२४	पैणी चामंडा त्रसूल देणी आराम पलासी पखां	१८१
१०३९	३१७	पेत······ संभाले पमंग पाखरे	१०
१०४०	३२३	पोकार महाउत करे प्राणियां	१४८
१०४१	३५४	पोकार महाउत करे प्राणीयो	१५६
१०४२	३१४	पोकार महाउत करे प्राणियो	१७६
१०४३	३२४	पोकार महाउत करे प्राणियौ	१८६
१०४४	३२४	पोमांए किसूं वहे सत्र पाछे	१६१
१०४५	३२१	पोरसचो पांण राण केलपुरा	१५६
१०४६	३३१	पोहर रात आई खबरी मेर आया परा	१४२
१०४७	३२१	पोहमी अंगरेज हुकम पलटाणा	१६७
१०४८	३१६	पोहमी अंगरेज हुकम पलटाणा	६३
१०४९	३२३	पो होकर असनान राम रस पीधो	१०८
१०५०	३१६	पोहोकरण बीज खेत रजपूती	१३१

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
२६१	अज्ञात	बापा रावल का प्रताप
१२४	,,	अचला वीदाउत की वीरता
११०	दला जी आशिया	रायसिंह राठौड़ की वीरता
११६	पांतोजी बारहठ	दूदा जोधाउत की वीरता
४८	,,	,, ,,
३७३	भाणाजी मिश्रण	सूरजमल हाड़ा की वीरगति
१०२	चमनजी	महाराणा स्वरूपसिंह का गज दान
२४७	अज्ञात	किशनसिंह गौड़ की वीरगति
१६८	चमनसिंह मेहडू	उमेदसिंह चूंडावत (पाडला) की प्रशंसा
३	गुलाबसिंह मेहडू	महाराणा सज्जनसिंह की प्रशंसा
२४	कविया करनीदान	सालिमसिंह (देवलिया) के तलवार की प्रशंसा
३५८	अज्ञात	गुलाबसिंह चूंडावत की वीरगति
१०४	,,	,, ,,
३४	,,	भरतपुर नरेश की वीरता
१९६	कविया करनीदान	सालमसिंह (देवलिया) के तरवार की प्रशंसा
२०२	अज्ञात	अखैराज की वीरता
५५७	कान्हा बारहठ	ईश प्रार्थना
३४१	,,	,,
३२८	,,	,,
२०४	,,	,,
१७७	नादण बारहठ	परबत रीदा की वीरगति
२७७	गोरधन बोगसा	महाराणा राजसिंह की वीरता
१५७	अज्ञात	दूदा खूंडसी की वीरता
३५३	मेघसिंह मेहडू	महाराणा सज्जनसिंह का यश
१०३	,,	,, ,,
४१६	अज्ञात	महाराणा भीमसिंह के प्रति प्रेमोद्गार
१४८	परमानंद देथा	लालसिंह राठौड़ की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३०५१	३२७	पोहो कीरत बीज खेत रजपूती	८१
३०५२	३५५	पोहकर असनान राम रस पीधो	१२६
३०५३	३३४	पोहोकर बीज खेत रजपूती	६९
३०५४	३११	पोहोकर बीज खेत रजपूती	५०
३०५५	३२४	पोहोकीरत बीज खेत रजपूती	२
३०५६	३१५	पोहो पोरिस भाव वड़ाला पालग	५९
३०५७	३२२	पोहोव करण प्रतपाल बांहाल धन पंचोली	१३५
३०५८	३३४	पौढियो सोहियो पिड संगमि	५३
३०५९	३३०	प्याला भर रुघर खला चा पावे	५८
३०६०	३२९	प्याला पीवरण अनोखा दारु लेवरण हमेसां मांगी	६३
३०६१	३१६	प्याला भर रुघर खलांचा पावे	४७
३०६२	३२७	प्रगट आभ लागै भुजां रहे किम पालियौ	१५७
३०६३	३३५	प्रगट करे उपट पला बांबला पसारा	५३
३०६४	३२८	प्रगट करे उपट पलां बांवला पासारा	१४०
३०६५	३२६	प्रगट जोस अणमाव खग चाव आठूं पहर	१९८
३०६६	३२३	प्रगट देस पंडवेस चा नेस परजालते	९८
३०६७	३२४	प्रगट देस पंडवेस चानेस परजालते	१२१
३०६८	३३५	प्रगट देस पंडवेस चानेस परजालते	७१
३०६९	३१६	प्रगट धारीया सूर तन भुजां माझी अपल	१९
३०७०	३५५	प्रगट बेण सरताज जसकाज हद पालियो	४३
३०७१	३१७	प्रगट बंधु कामैत भडरैत आणंद परम	१४
३०७२	३३१	प्रगट भीड़जे जरद सोहोडां सुबप हपटां	९४
३०७३	३३५	प्रगट राखणो वात वडगात माहे पोहवी	४८
३०७४	३२८	प्रगट राखणो वात वडगात माहे पोहवी	१६७
३०७५	३३३	प्रगट सार आचार सिरहर यला अनपहो	७१
३०७६	३२०	प्रगट हरामी खोर साह खड़ग पलटतां	११६
३०७७	३३३	प्रगटे खग तेज मजेज पराक्रम	४६

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
८४	परमानंद देथा	लालसिंह राठौड़ को वीरता
१३८	अज्ञात	महाराणा भीमसिंह की प्रशंसा
१४३	परमानंद देथा	लालसिंह राठौड़ की वीरता
९३	,, ,,	,,
१	,, ,,	,,
५६	अज्ञात	बिहारीदास राठौड़ का दान
१३६	,,	बिहारीदास पंचोली का यश
१०७	प्रथीराज राठौड़ (बीकानेर)	द्वारकादास जैमलोत राठौड़ की वीरगति
११८	अज्ञात	भगवतसिंह राठौड़ का युद्ध
११७	,,	जीवराज राठौड़ की वीरता
४७	,,	भगवंतसिंह राठौड़ की वीरता
१६७	,,	रावत अर्जुनसिंह की प्रशंसा
२१	पत्ताजी आशिया	सामलदास शक्तावत का यश
२८६	,, ,,	,,
४३५	अज्ञात	समरथसिंह का गुण वर्णन
३७६	कल्लाजी सिंढायच	राणा कर्णसिंह की वीरता
१३५	,, ,,	,,
३०	,, ,,	,,
१६	अज्ञात	प्रथीराज राठौड़ की प्रशंसा
५१	,,	श्री करनी माताजी से प्रार्थना
१५	,,	उमेदसिंह (कानोड़) की प्रशंसा
१२६	बखताजी खिड़िया	शिवदानसिंह की वीरता
१६	पत्ताजी आशिया	पृथ्वीराज की प्रशंसा
३४३	,, ,,	,,
७५	देवीदान पालावत	रावत रयणसिंह चूंडावत (देवगढ़) का दान
२५३	अज्ञात	महाराव रामसिंह हाड़ा (कोटा) की वीरता
४७	,,	राव राजा बुधसिंह की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३०७८	३२२	प्रगड़ ग्राम लागै भुजां रहे कण पालियौ	१७६
३०७९	३२५	प्रगड़ ग्राम लागै भुजां रहै कण पालीयो	१८३
३०८०	३२५	प्रगड ग्राम लागे भुजां रहे कण पालीयो	७१
३०८१	३३३	प्रघल् गिर मिसटाण आंटा अनां पहाडां	७०
३०८२	३१८	प्रचंड केल को जीप सर पयोनिधि पारिया	६९
३०८३	३१८	प्रचंड फल फोजां पसर पयोनद पारीया	६८
३०८४	३१९	प्रजा चल्वली तुझ विण कसूं झाखी पड़ी	२९
३०८५	३५५	प्रण ग्रहियो जैतनू मिलण कव पाता	६
३०८६	३२५	प्रत दिन दिन लपट रहे बंदण पर	५६
३०८७	३२५	प्रथड़ ग्राभ लाग भुजां रहे किण पालियो	८२
३०८८	३३०	प्रथड़ ग्राभ लागा भुजां रहे पालियो	६५
३०८९	३२३	प्रथम कम चढिये मुसिये गणपत	८२
३०९०	३१२	प्रथम पलट नागोर जालोर जद पलटियो	१७८
३०९१	३२२	प्रथम प्रथु लायो प्रथवी पर	५७
३०९२	३१६	प्रथम बाहादर खाग राजा हुवो प्रोढ पती	१६४
३०९३	३२६	प्रथम बहादुर खाग राजा हुग्रो प्रौढ़ पती	१६३
३०९४	३५४	प्रथम बोल परियां तणा पेज सुध पालीया	३८
३०९५	३५४	प्रथम बोल परियां तणा तेज सुध पालिया	२९
३०९६	३१८	प्रथम बोल परीयां तणा पेज सुध पालीया	१५
३०९७	३३०	प्रयम भाज खुरसाण जोधाण राखे पगां	१४
३०९८	३२२	प्रथम भुज पूजिया ग्रमर हिंदू पति	१४८
३०९९	३१३	प्रथम मारि सिरदार चहुग्राण वहियो पछां	६
३१००	३१५	प्रथम मारि सिरदार चहुआण वहियो पछां	६१
३१०१	३३३	प्रथम मुहण मुकन ग्रणी तणी जूझार पण	१५४
३१०२	३२८	प्रथम मोहण मुकन अणी तणी जुंझार पण	८३
३१०३	३१८	प्रथम नरा ग्रह नांण मोटां तके परखीया	९६
३१०४	३२५	प्रथम नाम संभार दिल धार प्रभता प्रगट	८५

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
१७८	बद्रीदास खिड़िया	रावत अर्जुनसिंह चूंडावत की प्रशंसा
३५३	,,	,, ,,
१३८	,,	,, ,,
७४	राजूराम मेहडू	विवाह–वर्णन
६५	हुकमीचंद खिड़िया	महाराजा माधोसिंह (जयपुर] की प्रशंसा
६४	बद्रीदास खिड़िया	,, ,, ,, की वीरता
४१	ईसरदास बारहठ	श्री कल्याणरायजी से प्रार्थना
१४	पीठवा कवि	जेतसिंह राठौड़ की प्रशंसा
११४	अज्ञात	रावत रणजीतसिंह की प्रशंसा
१६०	बद्रीदास खिड़िया	रावत उरजणसिंह चूंडावत की प्रशंसा
१९४	,,	,, ,,
३०७	अज्ञात	महाराणा भीमसिंह की प्रशंसा
३७४	,,	तेजसिंह राठौड़ की वीरता
५७	शार्दूलसिंह मेहडू	कंवर मानसिंह (देवलिया) का यश
१५८	रुपजी मोतीसर	महाराजा बादरसिंघ की वीरता
३५९	,,	,, ,,
८९	अज्ञात	गोकुलदास आदि की वीरता
७१	,,	,, ,,
१५	,,	,, ,,
४८	बाघजी बारहठ	संभूसिह राठौड़ की वीरता
१५०	अज्ञात	गीरधर पंचोली का यश
७	,,	सेखा सूजावत राठौड़ की वीरता
६१	,,	,, ,,
१६७	देवीदान महियारिया	हाड़ा मुकुन्दसिंह आदि की प्रशंसा
१७१	,,	,, ,,
९७	अज्ञात	नेतसी गहलोत की वीरता
१६६	दलपत सांदू	रावत रतनसिंह का दान

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३१०५	३५४	प्रथम सिलह सझे हमीरे भड़ां थट पेरीया	६३
३१०६	३३२	प्रथम कम चढिये मुसिये गणपत	१२३
३१०७	३२५	प्रथम जसे कर ज्याग अखीयात ऊ प्रवट पणे	६४
३१०८	३२२	प्रथम नीति ध्रमनेम पातां बिहद पारखू	१६१
३१०९	३२५	प्रथम सिलह सझ हमीरे भडां थट पेरीया	१४२
३११०	३१६	प्रथम सिलह सझ हमीरे भडां थट पेरीया	६३
३१११	३३५	प्रथम हुग्रो रतियाव जोरी सभर साहपुर	१८७
३११२	३५५	प्रथमी थरके लीलरे धोप से सुमेर धूजे	७
३११३	३१८	प्रथी आकास प्रडवे उथल पुथल	६
३११४	३१५	प्रथी करे वाखाण राव राण रावत पता	१७०/१
३११५	३२२	प्रथी दाखियो धुरंती नमो एकाध पत	१७२
३११६	३२५	प्रथी आकास पुडवे उथल पुथल	३४
३११७	३१२	प्रथी दाखीयो धुरती नमो एकाधपत	१५१
३११८	३३५	प्रथी दाखियो धुरती नमो एकाधपत	५०
३११९	३१५	प्रथी धेराणो पिलेक चहूँ डराणो भर नवी पूरो	५०
३१२०	३३१	प्रथीनाथ पधारतां दिली सूं जोधपुर	७८
३१२१	३३४	प्रथीनाथ पधारतां दिली सु जोधपुर	४०
३१२२	३१४	प्रथीनाथ मानसिघ जोम साजिया कटका पेले	१६१
३१२३	३३०	प्रथीनाथ समराथ धनु दुरग बांहा प्रलंब	२५
३१२४	३२८	प्रथीवाला पराक्रमी पंडपुर झोक पाणां	३७
३१२५	३१७	प्रथी समाही सेसरी पीठे जेती दीठ छाइ पांगी	१६७
३१२६	३२३	प्रथी सराहे दान तीरां उदध पाजरी	१३६
३१२७	३२७	प्रथी सराहे दांन तीरां उदध पाजरी	८३
३१२८	३२३	प्रथी सराहे दान तीरां उदध पाजरी	१४३
३१२९	३३३	प्रथी सराहे दांन दान तारा उदध पाजरी	६८
३१३०	३१६	प्रथु सत्य व्रत जनक श्री व्रत अने परीछत	३
३१३१	३२१	प्रथु राजा जेम धरा पाथरते	२

फार्म ४
(नियम ८ देखिए)

१ प्रकाशन स्थान	साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर
२ प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
३ मुद्रक का नाम	श्री नारायणलाल गुर्जरगौड़
(क्या भारत का नागरिक है ?	हां
यदि विदेशी है तो मूल देश)	—
पता	विद्यापीठ प्रेस, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर
४ प्रकाशक का नाम	उमाशंकर शुक्ल
(क्या भारत का नागरिक है ?	हां
यदि विदेशी है तो मूल देश)	—
पता	साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर
५ सम्पादक का नाम	(i) डॉ० शान्ति भारद्वाज 'राकेश' (ii) देव कोठारी
(क्या भारत का नागरिक है ?	हां
यदि विदेशी है तो मूल देश)	—
पता	साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर
६ उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

मैं उमाशंकर शुक्ल एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

ता० १-३-७३

ह०— उमाशंकर शुक्ल

विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर।

शोध पत्रिका
वर्ष २४
अङ्क २
साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

शोध पत्रिका के बारे में—

१ पत्रिका का प्रकाशन वर्ष में चार बार होता है—[क] जनवरी–मार्च [ख] अप्रेल–जून [ग] जुलाई–सितम्बर [घ] अक्तूबर–दिसम्बर।

२ लेख की पांडुलिपि कागज के एक ओर टंकित या सुपाठ्य लिखी होनी चाहिए।

३ लेख प्राप्ति, स्वीकृति, अस्वीकृति की सूचना एक माह के भीतर दे दी जाती है।

४ लेख प्रकाशित होने पर लेखक को पत्रिका के सम्बन्धित अङ्क की एक प्रति और लेख के बीस अनुमुद्रण दिये जाते हैं।

५ पत्रिका में समीक्षा के लिये पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है।

★

अतिरिक्त संचालक, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा, राजस्थान, बीकानेर के परिपत्र [क्रमांक–ई डी बी/स० शि०/साधा०/डी/जी/ १/ विशेष /६५–६६, [दिनांक २२-३-६६ द्वारा] उच्च, उच्चतर व बुनियादी शिक्षण–प्रशिक्षण विद्यालयों तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

शोध पत्रिका

वर्ष २४, अंक २

अप्रेल-जून १९७३

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, भाषा, दर्शन, कला व संस्कृति की त्रैमासिक अनुसंधानिका

एक अंक का मूल्य : तीन रुपया

वार्षिक — देश में— दस रुपया

विदेश में— पन्द्रह रुपया

साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ,
उदयपुर

विषयानुक्रम

लेख	पृष्ठ	लेखक
हस्तलिखित ग्रन्थों की सुरक्षा (सम्पादकीय)	३–४	श्री देव कोठारी
आबू पर्वत पर अल्लाउद्दीन खिलजी का आक्रमण	५–८	श्री रामवल्लभ सोमानी
जयपुर राज्य के मध्यकालीन कर	९–१६	कु. सुभद्रा दरयानी
सिद्ध कवि लालनाथ कृत 'हररस' ग्रन्थ	१७–२२	श्री सूर्यशंकर पारीक
ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ओसियां का जैन मंदिर	२३–३४	श्रीमती नीलिमा वशिष्ठ
शोध सामग्री : सर्वेक्षण		
देवर्षि कृष्ण भट्ट रचित शृंगार-रस-माधुरी	३५–४६	डॉ. कृष्णकुमार शर्मा
मेवाड़ महाराणाओं सम्बन्धी नवीन ज्ञातव्य-मेघविजय प्रणीत श्रीराणभूमीशवंश प्रकाश	४७–५७	श्री अगरचन्द नाहटा
कुंभनदास के कुछ अप्रकाशित पद	५८–६०	डॉ. ओमप्रकाश सक्सेना
विमर्श		
क्या आर्य बाहर से नहीं आये ?	६१–७४	श्री उपेन्द्रनाथ राय
ग्रन्थ		
डिंगल गीतों की अनुक्रमणिका	२३३–२४४	क्रमशः

[handwritten signature/logo: सम्पादकीय]

हस्तलिखित ग्रन्थों की सुरक्षा ?

देश के अनेक मंदिरों, मठों, उपाश्रयों, राजकीय संग्रहालयों एवं व्यक्तिगत भण्डारों में सुरक्षित लाखों हस्तलिखित ग्रन्थों की सुरक्षा का प्रश्न आज के शोध जगत की सबसे बड़ी समस्या है। यद्यपि राजकीय एवं निजी स्तरों पर इन ग्रन्थों की सुरक्षा एवं प्रकाशन के प्रयास अवश्य हुए हैं, लेकिन वे इतने अत्यल्प हैं कि विशाल मात्रा में उपलब्ध इन हस्तलिखित ग्रन्थों को यथास्थिति में अथवा अधिक उन्नत रूप में रखने की आज अनिवार्य आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

सुरक्षा के अभाव में ये ग्रन्थ हवा की नमी से नष्ट हो रहे हैं, दीमकों, कीड़ों व मकोड़ों की भोजन सामग्री बन रहे हैं या रद्दी में बिक कर इनमे दुकानदार पुड़िया बांध रहा है अथवा इनकी तस्करी हो रही है व विदेशों में लेजाकर ऊंचे मूल्यों पर बेचा जा रहा है। आखिर ऐसा क्यों है? क्यों ये भण्डारों में व संग्रहालयों में अव्यवस्थित रूप से पड़े हुए हैं और सड़ रहे हैं? क्या इनकी सुरक्षा के लिये जो कुछ भी अत्यल्प प्रयास किये जा रहे हैं वे काफी हैं? क्या वे समय सापेक्ष है अथवा इनके महत्त्व व मूल्य की दृष्टि से और भी कुछ किया जाना आवयश्क है?

इन सबका उत्तर यही है कि उचित रीति-नीति के अभाव में इन हस्तलिखित ग्रंथों की सुरक्षा नहीं हो पा रही है। एक ओर सरकार पाश्चात्य प्रगतिशीलता को आयात कर रही है तो दूसरी ओर शोध जगत किंकर्त्तव्यविमूढ है। हस्तलिखित ग्रन्थों की लिपि व भाषा को समझने वाली पुरानी पीढ़ी खप रही है और नई पीढ़ी अन्धकारमय भविष्य को देख कर निश्चित स्तर नहीं बना पा रही है। इन ग्रन्थों का संग्रह सम्पादन करने वाली जो संस्थाएं हैं उनके पास अर्थ की कमी है अथवा आधुनिक साधन–सुविधाओं के अभाव में ग्रन्थों को सरक्षित नहीं कर पा रही है या सम्पादन के बाद विज्ञापन-प्रचारबाजी की कमी से उन्हें बेच नहीं पा रही है अनेक ऐसी संस्थाएं हैं, जिनके पास ग्रन्थ तो हैं किन्तु उन्हें रखने

के लिये लकड़ी की अलमारी व बांधने का कपड़ा तक नहीं है। ऐसी हालत में यह कैसे अपेक्षा की जा सकती है कि ये संस्थाएं आधुनिकतम सुविधाओं से युक्त इन ग्रन्थों को सुरक्षित रख सकेंगी? या माइक्रोफिल्म विधि द्वारा इन्हें सुरक्षित रखा जा सकेगा? यही नहीं, इन ग्रन्थों को वर्गीकृत करके जो केटेलॉग बनाए जा रहे हैं, वे या तो अवैज्ञानिक हैं अथवा वे वैज्ञानिक तो हैं किन्तु उनके मुद्रण-प्रकाशन की उचित व्यवस्था नहीं है और अगर वे छप भी गये हैं तो उनकी बिक्री नगण्य है। यद्यपि भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा इन ग्रन्थों की सुरक्षा व सम्पादन की दृष्टि से कुछ कदम उठाए गये हैं किन्तु वे अत्यन्त सीमित हैं। राज्य सरकारें भी ग्रन्थों की खरीद में अत्यल्प अनुदान देती हैं, परन्तु सही रीति नीति के अभाव में इन सबका उपयोग नहीं के बराबर है। राज्यों द्वारा स्थापित संग्रहालयों की भी यही स्थिति है। विश्वविद्यालय स्तर पर जो कार्य हो रहे हैं, एक सीमा तक वे सराहनीय अवश्य है परन्तु उन कार्यों में भी परिपक्वता का स्पष्ट अभाव परिलक्षित होता है। सम्पादन कार्य में मूलपाठ का निर्धारण, पाठान्तर, शब्दार्थ एवं आलोचनात्मक विवेचन में जितनी अधिक सावधानी, विषय की पकड़ तथा तटस्थ दृष्टि की आवश्यकता है, वैसा प्रायः नहीं पाया जाता। कभी-कभी तो साम्प्रदायिक व धार्मिक संकीर्णता को सम्पादन कार्य में प्रश्रय दिया जाता है, ऐसी स्थिति अत्यन्त कष्टकर है और ग्रन्थों की सुरक्षा के नाम पर किया जाने वाला ऐसा कार्य ग्रन्थ की वास्तविक महत्ता को ही समाप्त कर देता है।

यह एक ऐसी स्थिति है, जिसे अगर समय रहते नहीं सुधारा गया तो भारतीय ज्ञान विज्ञान की अमूल्य निधि और भारतीय सभ्यता के ये प्रामाणिक अवशेष सदा के लिये लुप्त हो जायेंगे। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सर्वप्रथम ग्रन्थों की तस्करी रोक कर उन्हें आधुनिक तरीकों से संग्रहालयों में सुरक्षित किया जाय, उनकी विस्तृत एवं वर्गीकृत विवरण सूचियां निर्धारित व एकरूपता युक्त प्रारूप में प्रकाशित की जाय। सम्पादन योग्य ग्रन्थों का सम्पादन निश्चित् विधि के अनुरूप करके उनका प्रकाशन किया जाय। आर्थिक कष्ट इस मार्ग को कंटकाकीर्ण न बनाएं इस दृष्टि से राज्य सरकार इसके लिये विशेष व्यवस्था करे। विश्वविद्यालयों के कला संकाय स्नातकोत्तर कोर्स में हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रह एव सम्पादन विधि का अध्ययन कराया जाय तथा सम्पादन कार्य उन्हीं विद्वानों से कराया जाय जो इस कार्य के लिये सक्षम हो। अच्छा तो यह होगा कि केन्द्रीय व राज्य सरकारों के शिक्षा मंत्रालय विशेष प्रकोष्ठ या बोर्ड द्वारा इन कार्यों में सामंजस्य पैदा करे। निजी क्षेत्रों में कार्य करने वाली संस्थाओं को भी चाहिये कि वे संगठित होकर इस ओर कदम उठाएं, तब ही कहीं जाकर हस्तलिखित ग्रन्थों की सुरक्षा का प्रश्न हल हो सकता है।

देव कोठारी

● रामवल्लभ सोमानी

आबू पर्वत पर अल्लाउद्दीन खिलजी का आक्रमण

'विविध तीर्थ कल्प' के अर्बुद कल्प में वर्णित है कि तुरूष्कों ने आबू पर्वत स्थित जैन मंदिरों को विध्वंस कर दिया जिनका जीर्णोद्धार शक सं० १२४३ (वि० सं० १३७२) में महणसिंह आदि ने किया।

यवन आक्रमणकारी की पहिचान

'विविध तीर्थ कल्प' में उल्लेखित यवन[1] आक्रमणकारी कौन है? इसके सम्बन्ध में उसमें कुछ भी लिखा हुआ नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित् रूप से और भी प्रचुर सामग्री अन्यत्र उपलब्ध है। अर्बुद क्षेत्र में अरब आक्रमण के बाद सबसे पहला ज्ञात यवन आक्रमण मोहम्मद गज़नी का हुआ, जिसने समसामयिक कृति धनपाल के "सत्यपुरीय महावीर उत्साह[2]" के अनुसार देलवाड़ा और चन्द्रावती नगरी खंडित की थी। उस समय इन मन्दिरों के खंडित करने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि इनका निर्माण बाद में हुआ था। दूसरा आक्रमण वि० सं० १२३४ में मोहम्मद गौरी का हुआ। उस समय वह आबू के आगे कासद्रा नामक स्थान तक बढ़ गया। वहां राजपूतों ने उसे हराने में सफलता प्राप्त[3]

---

१ तीर्थद्वयेऽपि भग्नेऽस्मिन् दैवान्म्लेच्छैः प्रचक्रतुः
अस्योद्धारं द्वौ शकाब्दे वह्निवेदार्कसंमिते (१२४३) ।।४८।।
विविध तीर्थ कल्प, पृ० १६।

२ भंजेवि णु सिरिमाल देसु अनु अणहिल वाडउं।
घड्डावली सोरट्ठु भग्गु पुणु देउलवाडउं ।।

जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अंक ३

३ (i) अरली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ८०–८१ (ii) चालुक्याज आफ गुजरात पृ० १३५।

किराड़ू के मन्दिर में स्थित मूर्ति भी इसी समय भग्न की गई थी यथा "मूर्तिरासीत् स्म तुरुष्कैर्भग्नता"। फलोधी पार्श्वनाथ मंदिर पर भी आक्रमण हुआ था (ऐतिहासिक शोध संग्रह, पृ० २०१ से २०२)।

की थी। तीसरा महत्त्वपूर्ण आक्रमण1 वि० सं० १३४२ के आसपास में हुआ। इस आक्रमण का उल्लेख आबू के महारावल समरसिंह के वि० सं० १३४२ के अचलेश्वर के शिलालेख2 और वि० सं० १३४४ के पाटनारायण के मंदिर के परमार प्रतापसिंह आदि के लेखों में है। इस काल में आबू के आसपास कई मन्दिर विध्वंस हुए थे जिनका जीर्णोद्वार कुछ समय बाद ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु इस आक्रमण के समय देलवाड़ा के जैन मन्दिर प्रभावित नहीं हुए होंगे। इसका कारण यह है कि वि० सं० १३६३ में विरचित प्रज्ञातिलक के "कच्छुली रास" नामक ग्रन्थ में आबू के मंदिरों का जो वर्णन किया गया है उससे प्रतीत होता है कि मन्दिर3 उस समय तक भग्न नहीं हुए थे। इसके बाद वि० सं० १३६८ में अल्लाउद्दीन खिलजी का जालोर पर आक्रमण हुआ। जालोर जीतने के बाद सुल्तान की सेनायें गुजरात की ओर बढ़ी। इसी आक्रमण के समय आबू के देलवाड़ा के मन्दिर, मूंगथला के मन्दिर आदि विध्वंस किये गये थे। 'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' नामक4 समसामयिक कृति में अल्लाउद्दीन खिलजी की सेना का जालोर की विजय के बाद जगह-जगह भयंकर कृत्य करने का उल्लेख मिलता है। अतएव मेरी राय में यह घटना इसी आक्रमण काल की है।

प्रश्न उठता है कि समसामयिक फारसी ग्रंथों में इसका उल्लेख क्यों नहीं किया गया है? इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि अल्लाउद्दीन के शासन काल में निबद्ध राजकीय इतिहास "फतहनामा" जो कबीरुद्दीन द्वारा लिखा गया था अब तक मिला नहीं है। ऐसी मान्यता है कि इसमें मुगलों के प्रति अत्यन्त घृणापूर्ण वर्णन होने से मुगलशासन काल में इसे नष्ट कर दिया गया है। खजाइन-उल-फतुह में उत्तरी भारत की विजयों का उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में किया हुआ है। अतएव मंदिरों के विध्वंस का वर्णन इस ग्रन्थ में छोड़ दिया गया प्रतीत होता है। स्मरण रहे कि इस5 ग्रन्थ में और भी कई वृत्तान्त जैसे अल्लाउद्दीन की जैसलमेर विजय आदि छोड़ दिये गये है।

आबू के तत्कालीन शासक

वि. सं. १३४४ के महारावल पाता के पाटनारायण के बाद आबू पर कौन-कौन शासक राज्य कर रहे थे, कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती है। वीसलदेव नामक एक शासक के ४ लेख निम्नांकित मिले है:—

---

१ आद्यकोड वपुः कृपाण विलसद्दंष्ट्रां कुऐ यः क्षरणा-
स्मग्नायुद्धरति स्म गुर्जरमही मुच्चैस्तुरुष्काणर्णवात् ।-।।४६।।
इन्डियन एंटिक्वेरी, भाग-१६ पृ० ३५०

२ ग्लोरिज आफ मारवाड़ एण्ड ग्लोरियस राठौड़ में मुद्रित

३ डॉ० महावीरसिंह गेहलोत-प्राचीन जैन रास काव्य, सौरभ, पृ० ३३ से ३८

४ नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध, ३।८-६

५ ऐतिहासिक शोध संग्रह, पृ० ५१-५४

१) पाटनारायण का लेख वि. सं. १३४४
२) दंताणी का वि. सं. १३४५ का लेख[1]
३) आबू का वि. सं. १३५० का लेख[2]
४) मडार गांव का वि. सं, १३५२ का सुरह लेख

इससे प्रतीत होता है कि वि. सं. १३५२ तक वीसलदेव का वहां अधिकार था। किन्तु इसके परिवार के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती है। प्रतापसिंह का उत्तराधिकारी अर्जुन था, जिसका लेख वि. सं. १३४७ का धाँधगांव से मिला है। यह झूझार लेख है। अतएव किसी युद्ध का सूचक है। इसी समय[3] बरमाण के मंदिर में वि. सं. १३५६ का लेख लग रहा है जिसमें विक्रमसिंह नामक शासक का उल्लेख है। इस समय चौहान भी शक्ति एकत्रित कर रहे थे। 'कछुली रास' के अनुसार वि. सं. १३६३ में परमारवंशी शासक ही आबू पर राज्य कर रहे थे। इस प्रकार उस समय स्थिति बड़ी अस्पष्ट सी रही प्रतीत होती है। इसी कारण संगठित होकर अल्लाउद्दीन का सामना नहीं कर सके प्रतीत होते हैं।

अल्लाउद्दीन खिलजी के इस आक्रमण का बड़ा दूरगामी परिणाम हुआ। खिलजी आक्रमण ने कई राजवंशों को समाप्त कर दिया था। इनमें आबू के शासक भी थे। इसके बाद एक नये राजवंश का वहां अधिकार हो गया जिसको इतिहास में चौहान[4] कहा जाता है। इसका शासक राव लुम्भा था। इसके वि. सं. १३७२ से १३७८ तक के शिलालेख मिले हैं। इसने संभवतः वहां अधिकार करते ही पात्रियों से लिये जाने वाले करों में आवश्यक छूट की थी। इसके सुरह लेख विमलवसही के बाहर देलवाड़ा में लग रहे हैं। अतएव अल्लाउद्दीन के आक्रमण से जो राजनैनिक परिवर्तन हुआ वह महत्वपूर्ण था। फरिश्ता आदि मुसलमान लेखकों के अनुसार सुलतान के अन्तिम दिनों में राजपूतों ने कई स्थलों पर विद्रोह कर दिये थे। इस वर्णन की पुष्टि आबू के मिले राव लुम्भा के लेखों से भी होती है।

---

१ अबुर्दाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह, लेख सं० ५५

२ अर्बुद प्राचीन जैन लेख संग्रह, लेख सं. २

३ 'वरदा' पत्रिका में श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल द्वारा सम्पादित

४ अर्बुद प्रा. लेख संग्रह, लेख, सं० २४०–२४३.

आबू के मन्दिरों का खंडन एवं जीर्णोद्धार

विमलवसही और लुणिगवसही के कौन-कौन से भाग खंडित हुये थे यह सूचना ज्ञात नहीं है किन्तु जीर्णोद्धार के समय जो कार्य हुआ, उससे प्रतीत होता है कि सबसे अधिक नुकसान विमलवसही में हुआ था। इसका गर्भगृह, गूढ मंडप, मंडोवर आदि गिरा दिये गये थे। कई देवकुलिकायें भी इससे प्रभावित हुई थी। लुणिगवसहि में देवकुलिकायें सभा मण्डप का कुछ भाग ही इससे प्रभावित हो सका प्रतीत होता है।

इन मंदिरों का जीर्णोद्धार कार्य वि. सं. १३७८ में पूरा हो गया प्रतीत होता है।[1]

—कानूनगो हाऊस,
कल्याणजी का रास्ता, जयपुर

---

१ (i) विविध तीर्थ कल्प, पृ० १६ (ii) अर्बुद प्रा. लेख संग्रह. लेख सं. १, ३,४, १३, २०, २६, ३१, ३२, ३६, ३७, ३८, ४२, ४४, ५८, ६५, ६६, ७५, ८१, ८३, ८६, ८८, ८६, ९०, ६७, ११०, ११६, १२०, १२३, १२८, १३१, १३३, १३६, १३६, १४३, १५४, १५७, १६२, १६६, २३२.

● कु० सुभद्रा दरयानी

जयपुर राज्य के मध्यकालीन कर

मध्यकाल में राज्य और कृषकों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का 'कर' एक माध्यम होता था। साधारणतः कृषक से उपज का एक तिहाई या एक चौथाई भाग लगान के रूप में लिया जाता था। यह भाग 'लाटा' 'कूंता' आदि तरीकों से उपज का भाग निर्धारित करके लिया जाता था। कृषकों को उपज के इस भाग के अलावा भी अन्य कई प्रकार के कर देने पड़ते थे जो कई बराड़ों के रूप में लिये जाते थे। साधारणतः उपज अच्छी होने पर कृषक की स्थिति अच्छी होती थी लेकिन करों की अधिकता से तथा कई कृषकों के पास अपनी जमीन न होने से या राज्य द्वारा विशेष अवसरों पर कर वृद्धि से कृषकों को हानि भी उठानी पड़ती थी। इस पर दुष्काल की स्थिति में तो कृषकों का जीवन और भी संकटमय हो जाता था।[1] कृषकों के जीवन का उल्लेख करते हुए डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने अपनी पुस्तक 'सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान' में लिखा है कि राजस्थान में खेती से परिश्रम की तुलना में लाभ कम होता था। किसान को थोड़ी उपज में ही संतोष करना पड़ता था जो भी वह पैदा करता था या बचा पाता था वह युद्ध, बीमारी या 'कर' द्वारा नष्ट अथवा व्यय हो जाता था। ऐसी स्थिति में मध्ययुग में कृषक की स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती।[2] इसी तरह के कई 'करों' का विवरण मुझे अपनी शोध सामग्री एकत्रित करते समय राजस्थान राज्य अभिलेखागार और आमेर रिकार्ड भंडार, बीकानेर से प्राप्त हुआ है। ये कर मध्यकाल में जयपुर राज्य में लिये जाते थे। इनमें से कतिपय करों का उल्लेख निम्नलिखित है—

आगरखारी

नमक बनाने पर लिये जाने वाले कर को आगरखारी[3] कहते हैं। मोजाबाद के नाथू खारवाल को नमक बनाने की मनाई थी लेकिन फिर भी बनाने पर उसे दरबार में

---

१ राजस्थान का इतिहास-डॉ० गोपीनाथ शर्मा, पृ० ४६१-४९२

२ Social life in Medieval Rajasthan-Dr. G. N. sharma, Pub. 1968 Page 301.

३ क. मुजमिल प्रगना टोडा भीव संवत् १७६३, पृ० २६, तथा संवत् १७८१ पृ० १२६-१३२।

बुलाया गया, पश्चात् उसके बहुत कहने पर छोड़ दिया गया। जयपुर में नमक बनाने के लिये ईजारदारों को ईजारा दिया जाता था। मौजा मथुरादासपुर व गुवारड़ी में ईजारे के वसूवसत सरकार को १२॥) रु० ठहराये गये, जिसमें असली १०॥) रु० और ईजाफे के २) रु० ठहराये गये। रामगढ़ में साल का ३१) रु० और मौजा घीरामैंही में रु० ४८६) जिसमें असली ४३५) और ईजाफे के ५१ रु० ठहराये गये थे।

तमाखु

यह कर तम्बाकू पर लिया जाता था। इसका भी ईजारदार को ईजारा दिया जाता था। कसबा लालसोट से संवत् १७८० में अमरो महाजन से दर रोजीना टका १।) लिया गया था। टोड़ा भीम में संवत् १७६३ में लालु पुरोहित से माह ५ रोज २० का रोजीना टका १२।) १॥ के हिसाब से टका २०८२।२५ लिया गया था।

तुलाई[1]

वस्तुओं के तोलने पर लिया जाने वाला कर तुलाई[2] कहलाता था। कसबा सांगानेर में रुई, नील व तेल पर लिया जाता था। परगना कुवावा में संवत् १७६८ में फूलों पर (गुल के फूलों पर) वाड़ बीघा १) के पीछे ६ आने तुलाई के लिये जाते थे।

ख. अठसठे पोतदार प्रगना मौजाबाद संवत् १७२३ पृ० ४४।

ग. अठसठे प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७६० पृ० २०६६, २०६७, २०६८, २०७४ और २०७५।

घ. रोजनामा पोतदार प्रगना चाटसू संवत् १७६७ पृ० ½ और २।

१ क. रोजनामा पोतदार प्रगना टोड़ा भीव संवत् १७८६ पृ० ½, २ तथा संवत् १७६६ पृ० ½, २।

ख. रोजनामा पोतदार प्रगना लालसोट संवत् १७८० पृ० ½, २।

ग. मुजमिल प्रगना टोडा भीव संवत् १७६३ पृ० ३३ तथा संवत् १७८१ पृ० १११।

२ क. जमाखरच पोतदार कसबा सांगानेर संवत् १७७८ पृ. २३४;

ख. रोजनामो पोतदार कसबा सांगानेर संवत् १७७६ पृ. २

ग. अठसठे प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७८५ पृ. ३३–६२

घ. मुजमिल प्रगना कुवावा संवत् १७६८ पृ० ७३

ङ. जमावंदी प्रगना आंवेर तथा काकड़ संवत् १७३७ पृ. ५५;

च. जमावंदी प्रगना आंवेर तथा हवेली संवत् १७३७ पृ० ६४ से ७१.

दसराहा

दशहरे के त्यौहार पर ली जाने वाली भेंट को दसराहा कहते थे।[1] ग्रामेर में संवत् १७३७ में सब मौजों में से १)-१) रु. दसराहा का लिया गया था। इसी तरह संवत् १७५७ में भी एक ही रुपया लिया गया था। इसी तरह 'दसतूर' भी दिया जाता था।

छेली

यह पशुओं पर विशेषकर बकरियों पर लिया जाता था। संवत् १७७५ में कसबा सांगानेर में यह ६।) टके एक रासी पर लिया जाता था। उदाहरणार्थ रासी ७२६ दर १ पाछै ६ मुकररा टका ९०।४४ लेकिन संवत् १७३७ में ग्रामेर में १। टका लिया जाता था जैसे मौजा मालपुर डूंगरका में 'छेली'[2] ४० दर टका १। मुकररा टका ४०। मौजा नंदाणा में छेली २३८ दर टका १। मुकररा टका २३८। उसमें आधा हिस्सा जागीरदार का अर्थात् टका ११९। तथा टका ११९। खालसा का था। ग्रामेर के ही मौजा दौड़ाचौड़ा में छेली के पैसे जागीरदार ही खा गया।

वरदा फरोसी

वरदा फरोसी[3] लड़के अथवा लड़कियों का व्यापार करने वालों से लिया जाता था। संवत् १७७५ में सांगानेर कसबे में रु० ५१।।।) के दर रुपया १) का लार टका१। लगा जिसके टके ५१।३७ हुए। ग्रामिलों के हुकुम से १३।२५ टके माफ करके बाकी ३८।१२।। टके जमा किये गये।

---

१ क. जमाखरच पोतदार प्रगना ग्रांवेर संवत् १७५७ पृ. १७३-१७६;
  ख. जमाबंदी प्रगना ग्रांवेर तथा काकड़ संवत् १७३७ पृ. १३, १६, २० ग्रौर ३१;
  ग. ग्रठसठै प्रगना मौजाबाद संवत् १७२३ पृ० सं० २७-८७;
  घ. जमाखरच पोतदार कसबा सांगानेर संवत् १७७८ पृ. ५, ६

२ क. स्याहै बकाया संवत् १७७० बंडल नं० ४;
  ख. जमाबंदी भौमी कसबा सांगानेर संवत् १७७५ पृ. ५२;
  ग. जमाबंदी प्रगना आंवेर तथा हवेली संवत् १७३७, मौजा नंदाणा पृ० ८ तथा
  घ. मौजा दौड़ा चौड़ा पृ० १३.

३ क. रोजनामा पोतदार प्रगना लालसोट संवत् १७८० पृ. ३;
  ख. ग्रठसठै प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७८६ पृ० ३१७; तथा
  ग. जमाबंदी भौमी कसबा सांगानेर संवत् १७७५ पृ० ४९.

हलट

हलट,[1] हलटकी अथवा हलौतो किसानों से प्रति हल पर लिया जाता था। आमेर में संवत् १७५७ में रु० ९२२।।)।। संवत् १७८४ में २५७ गांवों में से ५४२।।।) प्राप्त हुए। इसी तरह जयपुर में सवत् १७८५ में ३३ =) रु० संवत् १७८६ में ८४।।) रु० प्राप्त हुए तथा संवत् १७२३ में मौजाबाद में ६६ मौजों के १३२। = रु० जमा हुए।

धरेचा

निम्न जाति के लोगों में विधवा से विवाह करने पर यह कर लिया जाता था। इसे धरेचा[2] या कुछ प्रगनों में छाली अथवा छयालीका भी कहा जाता था। यह कर सब प्रगनों में समान रूप से रु० १)५। लिया जाता था।

हाटभाड़ा

हाटभाड़ा[3] या हाटीभाड़ा दुकानों से किराये के रूप में लिया जाता था। इस कर से व्यापारिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह किन २ दुकानों से कितना लिया जाता था, दुकाने कहां-कहां स्थित थी, किस प्रकार के लोग कैसा व्यवसाय करते थे आदि। साधारणतः प्रत्येक दुकान से साल में ३।।) रु० लिये जाते थे परन्तु कुछ दुकानों से जैसे बिहारी अग्रवाल की थी उससे सालीना रु० १।।) लिया गया था।

---

१ क. मुजमिल प्रगना आंवेरी संवत् १७८४ पृ० ६०२।
ख. अठसठे प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७८५ पृ० ११६; संवत् १७८६ पृ० सं० २३५, २३६।
ग. जमाखरच पोतदार प्रगना आंवेर संवत् १७५७ पृ० १६२ तथा
घ. अठसठे प्रगना मौजाबाद संवत् १७२३ पृ० ११४।

२ क. Mughal Administration-J. N. Sarkar, Pup. 1935, P. 101.
ख. जमाबंदी प्रगना आंवेर तथा हवेली संवत् १७३७ पृ० १४।
ग जमाखरच पोतदार प्रगना आंवेर संवत् १७५७ पृ० २२६ से २४०।
घ. जमाबंदी भोमी कसबा सांगानेर संवत् १७७५ पृ० ४८।

३ क. जमाबंदी प्रगना आंवेर तथा हवेली संवत् १७३७ पृ० ४६ से ५४;
ख. जमाबंदी भोमी कसबा सांगानेर १७७५ पृ० ४३, ४४।
ग. जमाखरच पोतदार कसबा सांगानेर संवत् १७७८ पृ० ६।
घ. मुजमिल प्रगना टोडा भीव संवत् १७६३ पृ० ३१
ङ. जमाबंदी प्रगना आंवेर तथा काकड़ संवत् १७३७ पृ० ५६ से ६१।

नालवट

नालवट[१] अथवा नालीवट सरकार की बावड़ी या कुएं के पास की जमीन पर की गई उपज पर लिया जाने वाला कर था। जयपुर में संवत् १७९० में नालवट के १०२॥।≡ रु. जमा हुए। इसी तरह आंबेर कस्बे से संवत् १७८७ में २१४॥≡॥ रु. जमा किये गये थे।

खोलड़ी

निम्नवर्ग जैसे कोली, चमार, छींपा, भड़भुजा, ठठेरा, तेली, कुंमकार आदि लोगों से प्रत्येक घर की दर से कर लिया जाता था, जिसे खोलड़ी[२] कहते थे। संवत् १७३७ में आंबेर में प्रति घर से ५। टके से लेकर १२। टके तक लिये जाते थे जबकि आंबेर के ही मौजा आकाहेड़ा, डूंगरका, जरख्या और देहुरी से ।) रु. से १) रु. तक लिये जाने का उल्लेख है।

राहदारी[३]

यह प्रत्येक परगने में व्यापारियों एवं मार्ग की सुरक्षा हेतु लिया जाता था। इसका ईजारदार को ईजारा दिया जाता था। कई अवसरों पर जैसे पातसाही गरीदी के सबब इसमें तफकीक भी कर दी जाती थी।

---

१ क. अठसठे प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७९० पृ० १२९; १३०–१३२, २०८३ से २०८८।

ख. अठसठे प्रगनो आंबेर–संवत् १७८७ पृ० २८५६, २८५८, २८६० और पृ० २८६१।

२ क. जमाबंदी प्रगना आंबेर तथा हवेली कसबा आंबेर संवत् १७३७ पृ० ५६–६०।

ख. जमाबंदी प्रगना आंबेर तथा काकड़ संवत १७३७ पृ० ३२–४८।

ग. अठसठे प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७८५ पृ० ३१–१२७ तथा संवत् १७८६ पृ० ७२–१९७।

३ क. रोजनामा पोतदार प्रगना हिंडोण संवत् १७६९ पृ० ३

ख. मुजमिल प्रगना कुवावा संवत् १७६८ पृ० ६३।

ग. रोजनामा पोतदार प्रगना दौसा संवत् १७६८ पृ० ६ तथा

घ. Social life in Medieval Rajasthan-Dr. G.N. Sharma, Pub. 1968 page 298.

दरख्ता की बीचौंती[1]

यह 'कर' पेड़ों के बेचने पर लिया जाता था। साधारणतः पेड़ के बेचने पर आधी धनराशि दीवानी विभाग में और आधी रैय्यत (Fund of public utility) में जाती थी। उदाहरणार्थ आमेर के निवाऊ मौजे में ७९ पेड़ बेचें, जिसके ४९६। टके हासिल हुए, जिसमें से २४८। टके दीवान को और २४८। टके रैति को दिये।

कुहाड़ी

जंगल से लकड़ी काटने पर लगने वाले कर को हासिल कुहाड़ी[2] या कुरहाड़ी कहते थे। संवत् १७७० में परगने कुवावा में मोजा मौरोली का डूंगर से लकड़ी काट कर कोयला बनाने पर कर लिया जाता था।

घासचराई

पशुओं के घास चरने पर लिया जाने वाला कर घासचराई[3], चराई तथा चरी कहलाता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर पशुओं के चराने पर भी कर लिया जाता

---

१ क. जमावंदी प्रगना आंबेर तथा हवेली संवत् १७३७ पृ० ८, ३६।
   ख. जमावंदी प्रगना आंबेर तथा काकड़ संवत् १७३७ पृ० ३१, १६, २१
   ग. अठसठै प्रगना आंबेर संवत् १७८७ पृ० २८५४
   घ. मुजमिल प्रगना-कुवावै संवत् १७७० पृ० १६९
   ङ. अठसठै प्रगना सवाई जैपुर–संवत् १७८५ पृ० ४३६, २६९, ७१ और ८० तथा संवत् १७८६ पृ० ८७, ९३, १०५, ११७, १४०, १५४, १६९, १७८ १८३, २१२, २१६ और पृ० २१८।

२ जमाखरच पोतदार प्रगनै कुवावै संवत् १७७० पृ० ४६, १७६, १७७ तथा संवत् १७६९ पृ० संख्या ३८।

३ क. मुजमिल प्रगना कुवावै (गीजगढ़) संवत् १७७० पृ० ५३-५५; तथा संवत् १७६८ पृ० ५५-५८;
   ख. जमाखरच पोतदार प्रगना चाटसू संवत् १७६८ पृ० ४५;
   ग. अठसठै प्रगना मौजाबाद देहाई संवत् १७२३ पृ० २७ से ८९; तथा पृ० ९६–१००
   घ. जमावंदी प्रगना आंबेर तथा हवेली संवत् १७३७ पृ० ९, २६, १७, १३, १२ ११, ९;

था। घास चराई का ईजारा दिया जाता था और नाज की गीरानी अथवा अन्य कारण से इसमें तकफीफ भी कर दी जाती थी। कई बार चरी माफ कर दी जाती थी। इसमें आधा हिस्सा जागीरदार का और आधा हिस्सा खालसा का होता था जैसाकि संवत् १७३७ में आमेर में था।

बागायत

बाग पर लिया जाने वाला कर बागायत[1] कहलाता था। संवत् १७९३ में टोडा भीव से बागायत के ९२) हासिल हुए। इसी तरह सांगानेर से संवत् १७४४ में ७ महीने १५ रोज के बागों से नकद रु. ७०)।। टका १६६।१२।। हासिल हुए।

घुघरी सहैणा

फसल में से कुछ भाग सहैणां को दिया जाता था। इसी को कहीं हासिल चाक सहैणा[2] भी कहा गया है। टोडा भीव में यह सैंकड़े पर १) रु० लिया जाता था जैसे माल का रु. ४१००१।। = दर सैंकड़ा रु. १) मुकररा रु. ४११ ≡।।), लेकिन प्रगना कुबावै में यह प्रत्येक मौजे पर १। टका लिया जाता था, जैसे मौजा ४३ वादि उदिक व जागीरदार मौजा २२ बाकी मौजा २१ उसका जमा टका २२। संवत् १७८२ में आमेर में सहणां को घुघरी का दसतूर मण एक लार सेर एक की थी। इसलिये आमिलों को यह ताकीद की गई थी कि इससे ज्यादा घुघरी जमा होने पर सहैणां से वापिस ली जाये। यह भी कहा गया था कि हिंडौण में सहैणा को घुघरी के नकद रुपये साख उन्हालु के एक महीने के ५) रु. दिये जाये। टोडा भीव में भी महीने के ५) रु. दिये जाते थे।

ङ. अठसठै प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७८५ प. ३१-७७ संवत् १७८६ पृ. ८२-११८

च. रोजनामा पोतदार प्रगना लालसोट संवत् १७८० पृ० २, ३, ६/१

छ. जमाखरच पोतदार प्रगना आंबेर संवत् १७५७ पृ० २७०-२९८.

१ क. मुजमिल प्रगना टोडा भीव संवत् १७९३ पृ० ३५; जमाखरच बागायत-कसबा सांगानेर संवत् १७४४ पृ० १ से १४.

२ क. मुजमिल प्रगना टोडा भीव संवत् १७९३ पृ० ३६-३८, २४,

ख. रोजनामै पोतदार प्रगना हिंडौण संवत् १७६९ पृ० २,

ग. रोजनामै पोतदार प्रगना–दौसा संवत् १७७७ पृ० २४,

घ. मुजमिल प्रगना कुबावै संवत् १७७० पृ० १६२,१६३,

ङ. खरीता-नवीस, संवत् १७८३ मिती भादवा सुदी ८,

च. मुजमिल प्रगना टोडा भीव संवत् १७८१ पृ० १५८–१६४।

घाणा तेली[1]

यह तेलियों से अथवा तेल की वस्तुएं बनाने वालों से लिया जाता था। टोंक में संवत् १७६६ में एक घाणे का माफ कर बाकी ७ घाणों का दर प्रति घाणा रु. १।।) के हिसाब से रु. १०।') बसूल किये गये थे।

इसी तरह अन्य भी कई प्रकार के कर लिये जाते थे। जैसे:—कयाली[2] कलाल से, हासिल खान पत्थर[3]- खानों में से पत्थर निकालने पर, हासिल छापा[4]- कपड़े छापने अथवा रंगने पर, हासिल ऊँट चराई[5]- ऊँटों के चरने पर, हासिल अड़रुई[6]--रुई पर, हासिल सीवाई[7]-कपड़े सीने पर, हासिल पाईणा[8]-पिनाई करने पर, हासिल[9] चमारपट्ट- चमड़े पर, हासिल करवान[10]-यात्रा करने वाले काफिलों अथवा समूह से लिया जाता था तथा हासिल तलवाना[11]-सरकार द्वारा किसी व्यक्ति को बुलाने पर लिया जाता था।

शोध छात्रा—इतिहास
महारानी महाविद्यालय,
राजस्थानी विश्वविद्यालय,
जयपुर (राजस्थान)

---

१ मुजमिली प्रगना टोंक संवत् १७६६ पृ० २००, २०४, २०५.
२ रोजनामा पोतदार प्रगना दौसा संवत् १७७७ पृ० $\frac{1}{3}$, ६.
३ वहीं, पृ० सं०, ६.
४ क. जमाखरच पोतदार कसबा सांगानेर संवत् १७७८ पृ० २;
ख. रोजनामा पोतदार कसबा सांगानेर संवत् १७७६, पृ० २.
५ वही, पृ० २ और ६
६ वही, पृ० २
७ वही, पृ० ४
८ वही, पृ० २ और ३
९ मुजमिली प्रगना टोंक संवत् १७६६ पृ० २०४ और २०५.
१० अठसठे प्रगना सवाई जैपुर संवत् १७८५ पृ० १२०
११ मुजमिल प्रगना कुवावा संवत् १७७०, पृ० १६१.

● सूर्यशंकर पारीक

सिद्ध कवि लालनाथ कृत 'हररस' ग्रंथ

राजस्थानी भाषा में साहित्य का निर्माण करने वाले संत कवियों में लालनाथ का स्थान गौरवपूर्ण है। राजस्थानी, अनेकशः, संत कवियों ने जहां अपना साहित्य ब्रजभाषा प्रभावित सधुक्कड़ी भाषा में लिखा है वहां जसनाथी संप्रदाय के संत कवि लालनाथ ने विशुद्ध राजस्थानी भाषा में अपने साहित्य का निर्माण कर मरु-भाषा भंडार की श्रीवृद्धि की है।

कवि के निम्नलिखित छः ग्रन्थ मिलते हैं—

(१) जीव समझोतरी
(२) वर्ण विद्या
(३) हरि लीला
(४) निकलंक पुराण
(५) सूरज स्तोत्र
(६) हररस

उपर्युक्त सभी ग्रंथों का निर्माण काल १८ वीं शती का अंतिम चरण एवं उन्नीसवीं शती का प्रथम चरण माना जा सकता है। ये सभी ग्रंथ तथा कुछ फुटकल 'सबद' सं० १९०५ वि० की एक हस्तलिखित प्रति में उल्लिखित हैं। आजकल यह प्रति कालड़ी (बीकानेर) ग्राम के जसनाथजी के मंदिर में रखी हुई है।

संत कवि का प्रस्तुत 'हररस' ग्रंथ अद्वैतवाद, भक्तिवाद, योग तथा पाखंड-खंडन का प्रतिपादन करने वाला है। यह दोहा, भुजंगप्रयात एवं चौपाई छंदों में लिखा गया है। इसमें कहीं-कहीं ठीक से छंद का निर्वाह भी नहीं हो पाया है, फिर भी यह छंद-स्वीकृति आग्रह के साथ लिखा गया है।

अद्यावधि राजस्थानी भाषा में लिखा हुआ संत-साहित्य बहुत ही कम प्रकाश में आया है जिससे उसका उचित मूल्यांकन भी नहीं हो पाया है। मूल्यवान से भी मूल्यवान वस्तु जब तक आंखों से ओझल रहती है तब तक उसकी उचित स्थान पर प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर नीचे 'हररस' अपने मूल रूप में प्रकाशित किया जाता है। पाद टिप्पणी में कठिन शब्दों का अर्थ भी दे दिया गया है। आशा है राजस्थानी संत साहित्य के अध्येताओं को इससे कुछ लाभ मिलेगा।

श्री गणेशायनमः

दूहा

निमसकार गुरु देव कूं, जसवंत लागूं पाय ।
गवरी सुत बंदन करूं, सुरसुत आवो भाय ॥ १ ॥

भुजंगप्रयात

(ॐ) तुही जोग ध्यांनी, तुही ब्रह्म ज्ञानी ।
तुही संत सेवा, तुही आद देवा ॥ २ ॥

[तुहीं सावण भाद्र, तुही मोर दाद्र ।]
तुही संग साथी, तुही दिन्न राती ॥ ३ ॥

तुही पोंन पाणी, तुही जोग जाणी ।
तुही ज्ञांन गीता, तुही राम सीता ॥ ४ ॥

तुही दा(मोदर) विहारी, तुही जोत थारी ।
तुही सांमि साल[ा](ग) तुही गोपि गाल[ा](ग) ॥ ५ ॥

तुही संत सीला, तुही आद लीला ।
तुही नाथ गाजै, तुही रण्ण भाजै ॥ ६ ॥

तुही वेद दीया, तुही छल्ल लीया ।
तुही चोरि लावै, तुही बाह ध्यावै ॥ ७ ॥
तुही जोत जागी, तुही आप पागी ।
तुही सेखसल्ली, तुही आप बल्ली ॥ ८ ॥

---

१ जसवंत—सिद्ध जसनाथ । भाय—अनुकूल ।
२ आद देवा—आदि देव ।
४ पोंन—पवन ।
५ जोत थारी—स्वयं ज्योति । सांमि—स्वामी । सालग—शालग्राम । गालग—ग्वाला ।
६ रण्ण—रण, युद्धभूमि । भाजै-दौड़े (रणभूमि से दौड़ने के कारण भगवान श्रीकृष्ण का नाम रणछोड़ पड़ा) ।
७ वार-सहाता, चोर डाकुओं के पीछे बहुत से लोगों का एक साथ दौड़ पड़ना, प्रत्याक्रमण
८ पागी—पद चिन्हों की पहचान करने वाला, खोजी । सेखसल्ली—शेखचिल्ली, बड़ी-बड़ी हवाई योजना बनाने वाला व्यक्ति । बल्ली (बली)-मालिक ।

तुही लंक हेरी, तुही सीत घेरी।
तुही लंक तोड़ी, तुही पाज फोड़ी ॥ ९ ॥
तुही ख्याल खेल्या, तुही मल्ल ठेल्या।
तुही कान कायो, तुही कंस दायो ॥ १० ॥
तुही लुद्र ग्यारा, तुही मेघ बारा।
तुही ठौड़ ठांही, तुही सर्व मांही ॥११॥
तुही मेर लायो,.......................................।
जड़ी जोत जागी.... .... ॥१२॥
तुही नो नाथ गुरु ज्ञांन भारी।
तुही राम जत्ती, तुही घरर्बारी ॥१३॥
तुही नारसिंघा, तुही ना'र नारी।
तुही जोग जत्ती, तुही सेव(ा)धारी ॥१४॥
किणी बीध पूजा, करूं ह(ा)रि थारी।
....॥१५॥

चौपाई

गोरख ज्ञाता गुण कोहि दाता, सिवरांइ देवी आद विधाता।
ध्यांवां गोविंद गुरूहि गुणेस, आदी पुरुष का है उपदेस ॥१६॥

---

९ हेरी–देखो। घेरी–घेरा डाला। पाज (पाय)–पाया, खंभा। फोड़ी–फोड़ना, विदीर्ण करना।

१० ख्याल–तमाशा। खेल्या–खेला। ठेल्या–धक्का देकर पीछे हटाया। कान–कन्हैया। कायो–कहलाया। दायो–गिराया, पराजित किया।

११ लुद्र–रूद्र, एक प्रकार के गणदेवता (इनकी संख्या ग्यारह मानी जाती है–अजैक पाद, अहिब्रध्न, त्वष्टा, विश्वरूपहर, बहुरूप, त्र्यंबक, अपराजित, वृषाकपि, शंभु, कपर्दी और रैवत)। मेघ बारा–बारह मेघ, द्वादश मेघाधिप।

१३ नोनाथ–नवनाथ, आदिनाथ, उदयनाथ, प्राणनाथ, सत्यनाथ, मच्छंरनाथ, संतोषनाथ, अचंभेनाथ कंथड़नाथ और चौरंगीनाथ। घर्रबारी (घरबारी)–गृहस्थी।

१४ नारसिंघा–नृसिंह। नार–नाहर।

१५ किणी–कौनसी। बीध (बिध)–विधि। थारी–आपकी।

१६ सिवरांइ–स्मरण करते हैं। ध्यांवां–ध्यान करते हैं, बराबर स्मरण करना। गुणेस–गणेश। आदी–आदि, प्रथम।

गुरु निकलंक है धणी नरेस, जिण गुरुनै मानांहि आदेस ।
जुग जीवण जपां ही जसनाथ, माथैइ मोटै गुरु का हाथ ।।१७।।

सुर तेतीसों त्रीभण नाथ, भेष तणै सिर सिभूहि छात ।
पारबती सिव पिराण अधार, ब्रह्मा विसनु सिरजणहार ।।१८।।

आदी पुरषहि गुरु ओंकार, दीपक दीया हिये मंझार ।
जिण जोगीनै नीमसकार, जाप जपां नित बारो हि बार ।।१९।।

अमी बून्द का आया नाला, तन सूं मेटी तपती झाला ।
मोह भरम का भांज्या ठाला, सील सबद की राखो माला ।।२०।।

सिवरों संतो नाथ भुजाला, परम जोत का अतिहि उजाला ।
निराकार भजियो निरवाला, संतां स्वांमी नित रखवाला ।।२१।।

भांत भांत कर बीण बजाई, मुख सूं मीठी बाणी गाई ।
पिंडत वांचै कथा पराई, लालच में जो रैया लुभाई ।।२२।।

पढ पोथी पिरथी परचाई, तातैं समझ हिरदै न आई ।
दिढ करि ममता राखो देवल, रांम नांव थे जपोनि केवल ।।२३।।

काजी हुय अरु बांग पुकारै, सुवारथ कारण बकरि मारै ।
सुवारथ कारण सब जुग रिधा, राम नांव कोइ विरला विधा ।।२४।।

भैरूं पीतर भूत मनांवै, से जोगी कलु सिध कहावै ।
सिध भणीजै सुध नी काई, फिर फिर जोवै नारी पराई ।।२५।।

---

१७ निकलंक–निकलंक, कल्कि अवतार । मानांहि-करते हैं । आदेस–आदेश, नाथ-सिद्धों का अभिवादन वाक्य । मोटै–महान् के ।

१८ छात–राजा, आश्रय ।

१९ हिये–हृदय । मंझार–मध्य । जिण–उस । नीमसकार–नमस्कार

२० अमी–अमृत । नाला–नाला, स्रोत । तपती–उत्तप्त । झाला–ज्वाला, लपटें । भांज्या–भंजन किया या करना । ठाला–हिस्सा ।

२१ भुजाला–शक्तिशाली भुजाओं वाला, चतुर्भुज विष्णु । अंतिहि–अति ही । निरवाला-सब ओर से निवृत होकर ।

२२ पिंडत–पंडित । पराई–दूसरों की । लुभाई–लुभायमान ।

२३ पिरथी–पृथ्वी, संसार । परचाई–प्रसन्न की । देवल–शरीर ।

२४ जुग–संसार । रिधा-आपूरित (?), विधा–विधना ।

२५ कलु–कलियुग । सिध–सिद्ध । सुध–सुधी । काई–कोई । जोवै–देखे ।

चौरासीनै द्यैहैं साई, जम की त्रास सहैं बहु भाई।
कूकड़ माकड़ रीछ बघेरा, डहरे डूंगरे हुयसि डेरा ॥२६॥
आवागुवण का नितै फेरा, हरा सूं मुढ क्यूं ह्वैनि नेरा।
दास कबीरै बांणी गाई, जाकों सुण भगतण गरबाई ॥२७॥
बो बैरागी तत को रागी, परम जोत का साधु पागी।
गोपिचंद वैराग कमाया, सो जोगी कलु अमर कुहाया ॥२८॥
दास कबीरै कूंची लाई, अगम निगम की सोझी पाई।
ररंकार सेति धुन लगाई, ररै ममै सूं सुरत सुवाई ॥२९॥
लिख हुंडी लाखां पुंहचाई, गिगन मंडल में विलसैं भाई।
गिगन मंडल में अवचल थांणा, ज्हां पोंचै केई संत सुजाणां ॥३०॥
क्या रावत क्या राजा राणां, भजन बिना कोइ नहिं ठिकांणा।
संन्यासी कै सृष्ट उपाई, सारी में म्हारि आण दुहाई ॥३१॥
वैरागी कै' माया मोरी, मोय(ह) बिना काइ चिष न सेरी।
जोगी कै' संसार हमारा, राग दोष सूं खेलूं न्यारा ॥३२॥
बुध करि बांणी करैं उचारा, आप आप का बिड़द बधारा।
कणि देख्या स्वांमी किरतारा, पेड एक है डाला सारा ॥३३॥
न्हावो संतो सैंसरधारा, फिर देखो नवखंड संसारा।
भजन बिना कोयन निसतारा, हरनैं ध्यावैं से जन प्यारा ॥३४॥
क्या धोबी क्या नीच लखारा, डूबैंला (गा) पापी हित्यारा।
वसता सैंर करैं तूं थेड़ा, ऊभड़ वासैं सूंना खेड़ा ॥३५॥

---

२६ द्यैं हैं-देते हैं। साई-बयाना, अग्रिम-धन, कूकड़-कुक्कुट, मुर्गा । माकड़-बन्दर। बघेरा-व्याघ्र। डहरे-वह जगह जो चारों ओर से उठी हुई होती है तथा उसके बीच स्थान में वर्षा का पानी ठहर जाता है। डूंगरे-पहाड़ों। हुयसि-होगा।
२७ गरबाई-गर्वित हुई।
२८ तत-तत्व। रागी-प्रेमी। सो-वह।
२९ सोझी-दृष्टि। ररंकार-राम नाम का जपा। र रै म मै-राम राम।
३० गिगन मंडल-दशवां द्वार। थांणा-स्थान। पोंचै-पहुँचै।
३१ रावत-राजपूतों की एक उपाधि। कै-कह, कहता है।
३२ मोय-मेरे। चिष-चक्षु (?) सेरी-संकरी गली, छोटी दरार।
३३ बुध-बुद्धि। बिड़द-विरुद। बधारा-बढाया, वर्धन किया। कणि-किसने।
३५ थेड़ा-खंडहर। वासैं-आबाद करें। सूंना-रिक्त, शून्य, निर्जन। खेड़ा-ग्राम।

तुं देवक देवल् पोथि मांही, जल्लक थल्लक तीरथ थांही।
रंकां राव करै तूं सांई, रावां रंक करै छिन मांही ॥३६॥
हुय नरसिंघ हिरणाकस मार्यो, जल् डूबत गजराज उबार्यो।
कंटक देही खाधो काई, कुण कुण रूप धर्यो रुघराई ॥३७॥
हुय ब्रजलाल बिरज में खेल्यो, नख पर स्वांमी गिरवर झेल्यो।
कैरु दल म्हैं सता संघार्यौ, जुग जुग रूप चौगणों धार्यो ॥३८॥
हुय बिणजारो प्यादो धायो, घरि कबीरैं बाल्द लायो।
माहेरैगो राख्योहि मान, जुग जुग भीरी भगतां स्यांम ॥३९॥
सुरग मंडल् सोनै का मिंदर, जरूं न मरूं आरूं नहिं उंदर।
घाट बाट कंचन की मेड़ी, जरा न जोगण आवै नेड़ी ॥४०॥
उनमुनि मदरा सुरत उसारी, पांचूं मदरा जपूं सवारी।
माया ममता दोउं मारी, खुधिया त्रिस्ना परी बिडारी ॥४१॥
गिगन मंडल् में धूणी म्हारो, ज्हां कहियो गोरख निरकारी।
तज द्यो संतो चोरी जारी, हरकै नांव धरो इकतारी ॥४२॥

झड़

तूं साईं साचा गुरु मेरा, मैं बंदा कुड़यारी।
कूड़ा कपटी लोभी लपटी, सारा सरण तमारी ॥४३॥
कल्जुग पो'रै जलम दियो है, प्रभु पार उतारी।
'लालू' भणै परम गुरु सांभल् पत राखो गिरधारी ॥४४॥

इति श्री ग्रंथ हररस संपूर्णम् ॥ शुभं भवतु ॥छ॥

—भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान,
रतन बिहारी पार्क, बीकानेर (राज०)

---

३६ देवक–देव। देवल्–देवालय। जल्लक–जल। थल्लक–स्थल।
३७ कंटक देही–दुष्ट जन। खाधो–खाया।
३८ कैरु–कौरव।
३९ प्यादो–पैदल। धायो–दौड़ा। बाल्द–बैलों पर लादकर विक्रयार्थ सामान को यहां से वहां ले जाना। भीरी–सहायक।
४० जरूं–जर्जरित होना। जरा–वृद्धावस्था। जोगण–योगिनी। नेड़ी–नजदीक।
४१ उनमुनि–उन्मनी, हठयोग की पांच मुद्राओं में से एक। मदरा–मुद्रा। सवारी–प्रातः काल।
४३ कुड़यारी–मिथ्यावादी। सा'रा–सहारा। सरण–शरण। तमारी–तुम्हारी।
४४ पोर–समय में। जलम–जन्म। सांभल्–सुनो। पत–प्रतिज्ञा, लज्जा।

● श्रीमती नीलिमा वशिष्ठ

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ओसियां का जैन मन्दिर

राजस्थान में जोधपुर से ३२ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित ओसियां नामक छोटा सा ग्राम आज भी अपने भग्नावशेषों के माध्यम से अपनी प्राचीन गौरवगाथा व्यक्त करता है। यद्यपि आज उसकी आत्मा मात्र ही अवशिष्ट दिखाई पड़ती है, उसका प्राचीन गौरव अब केवल इतिहास एवं पुरातत्त्व के अध्ययन की सामग्री बन गया है, तथापि ओसियां नगर के कलावशेषों की ओर कला-मर्मज्ञों का ध्यान नहीं जा पाया है। दुर्भाग्यवश मन्दिर का जीर्णोद्धार करने वाले उत्साही जैन भक्तों ने कला की दृष्टि से मन्दिर की हानि ही अधिक की है। वर्तमान स्थिति में इसके स्तम्भों पर विचित्र कांच जटित है, एवं बाह्य स्थापत्य पर चूने की सफेदी कर दी गई है, जिससे वास्तविक सौन्दर्य नष्ट हो गया है।

ओसियां का जैन मन्दिर प्रतिहार राजाओं के राज्यपाल में (७००-८०० ई०शताब्दी बीच) जैन व्यापारियों के सम्मिलित प्रयास से निर्मित हुआ होगा। तत्कालीन उपकेशगच्छ का धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। चारों ओर से थार मरुस्थल से आक्रान्त होने पर भी उपकेशपुर, जालौर द्वारा गुजरात के उर्वर व्यापारिक मार्ग से जुड़ा हुआ था। उपकेशगच्छ की धार्मिक गतिविधियों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। मंदिर केवल पूजा का ही स्थान नहीं होता अपितु लोक जीवन की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र एवं नायक भी होता है। यह तथ्य इस मन्दिर के इतिहास से व्यक्त होता है। १२ वीं शती तक उपकेशगच्छ सांस्कृतिक एवं धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र रहा होगा।

विंसेन्ट स्मिथ[1], कुमारस्वामी[2], फर्ग्यूसन[3], हरमन गोइज[4] आदि विद्वानों ने ओसियां का विहंगम दृष्टि से केवल कुछ पंक्तियों में उल्लेख किया है। इस उपेक्षित मरुनगरी

---

१ विन्सेन्ट स्मिथ, ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एंड सीलोन, द्वितीय संस्करण पृ० १०५।

२ आनन्द कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ० १११।

३ फर्ग्यूसन, हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग २, पृ० ५६।

४ हरमन गोइज, आर्ट आफ दि वर्ल्ड-इंडिया, पृ० १४७।

को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री देवराज रामकृष्ण भंडारकर[1] को प्रदान किया जा सकता है, जिन्होंने ओसियां के मंदिरों का विस्तृत विवरण एवं विवेचन किया है इसके बाद ही अन्य विद्वानों का भी ओसियां की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल ने इसको "राजस्थान का खुजराहो" कहा है।[2] श्री ढाकी[3] ने अपने लेख में जैन मंदिर के वास्तु-शिल्प का तत्कालीन प्रचलित महागुर्जर-शैली के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन किया है। इन विद्वानों ने वास्तु एवं मूर्ति-शिल्प की शैली के आधार पर ही मंदिरों के कालक्रम एवं अन्य विलक्षणताओं का अध्ययन किया है, परन्तु ओसियां के तत्कालीन समाज में धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व के पक्ष की अब तक विद्वानों द्वारा उपेक्षा की गई है। यद्यपि ओसियां प्रतिहार राजाओं के राज्य की राजधानी नहीं था फिर भी जनमानस को प्रभावित करने में, धार्मिक एवं सांस्कृतिक तीर्थ के रूप में इसका महत्व प्रतिहार राजाओं की राजधानी मंडोर और जाबालिपुर (वर्तमान जालोर) से भी अधिक दृष्टिगत होता है।

प्रशस्तियों एवं शिलालेखों में ओसियां का प्राचीन नाम उवसीस,[4] उकेश,[5] उपकेशपुर[6] और ओसा[7] प्राप्त होते हैं। डी० आर० भंडारकर[8] के मतानुसार इस नगरी का ओसियां नामकरण "ओसला" (मारवाड़ी भाषा में जिसका अर्थ है आश्रय) शब्द से

---

१ डी० आर० भंडारकर, आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, एन्यूअल रिपोर्ट, १९०८-०९, पृ० १००–११५।

२ आर० सी० अग्रवाल, "दि खुजराहो आफ राजस्थान", आर्स एशियाटिक्स, टोम १०, १९६४, १।

३ एम० ए० ढाकी, "सम अर्ली जैन टेम्पलस इन वेस्टर्न इंडिया", श्री महावीर जैन विद्यालय स्वर्ण जयन्ती अंक, पृ० २९२–३२६।

४ सिद्धसेन सूरि, सकल तीर्थमाला, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, LXXVI, पृ० १५६।

५ पूरन चन्द नाहर, जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, नं० ७८८, पृ० १९२।

६ उपकेश गच्छ पट्टावली, अनु० डा० हार्नली, इंडियन एन्टीक्वेरी, भाग १९, पृ० २३३ तथा आगे।

७ डॉ० हार्नली, वही–पट्टावली में 'ओसा' नगरी का वर्णन है जहां से ओसवालों की उत्पत्ति हुई। उसे मुनि आत्मारामजी ने अपने 'अज्ञान तिमिर भास्कर' भाग २, पृ० १६ में जोधपुर से २० कोस दूर स्थित बताया है एवं वहां की विचित्र जैन मूर्ति का वर्णन किया है।

८ भंडारकर, आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०८–९, पृ० १००।

हुआ। इस संबंध में भंडारकर ने एक किंवदन्ती उद्धृत की है[1] जिसमें इस नगर के एक बार नष्ट होने तथा परमारवंशी उपलदेव द्वारा पुनर्स्थापना का उल्लेख है। उपलदेव पारिवारिक कलह के कारण प्रतिहार शासकों की शरण में आया था जो उस समय मारवाड़ के शासक थे। उसे आश्रय (ओसला) स्वरूप यह स्थान जागीर में प्राप्त हुआ था जिससे इसका ओसला नाम और तदनंतर ओसियां हो गया। उपकेश गच्छ की पट्टावली में यह कथा कुछ परिवर्तित रूप में दी गई है तथा इसी में यहां के निवासियों का जो पहले सच्चिका माता के उपासक थे, रत्नप्रभसूरि द्वारा जैन धर्म में दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है।[2]

इसी जैन तीर्थ के कारण उकेशवाल या ओसवाल यहां के निवासियों का नाम पड़ा।[3] ओसवाल जाति के लोग आज भी ओसियां को अपना तीर्थ एवं उत्पत्ति स्थान मानते हैं।[4] उपकेश गच्छ पट्टावली से हमें जैन मुनियों एवं धर्मानुयायियों की परम्परा एवं संगठन का परिचय मिलता है। ये संगठन धर्म प्रचार एवं शिक्षा का कार्य करते थे।[5] इस प्रकार ओसियां प्राचीन काल से जनमानस को प्रकाशित करने तथा धार्मिक मार्गदर्शन करने का महत्वपूर्ण केन्द्र था। इस गच्छ की गुरु-परम्परा एवं धर्मानुयायियों द्वारा धर्म प्रचार की व्यापकता का प्रमाण बंगाल से प्राप्त उत्कीर्ण जैन प्रतिमा है[6]। यद्यपि यह १५ वीं शताब्दी की है परन्तु इस तथ्य का यथेष्ट प्रमाण है कि उपकेशगच्छ का धर्म प्रचार समय एवं स्थान की परिधि का अतिक्रमण करके व्यापक क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था।

यद्यपि ओसियां में जैन मन्दिर के अतिरिक्त वैष्णव, शैव एवं शाक्त मंदिर भी हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मन्दिर का महत्व मदिर के मण्डप से उपलब्ध शिलालेख के आधार पर अन्य मंदिरों के काल-निर्णय में एवं उकेशनगर के विषय में हमें ओसियां के

---

१ भंडारकर, प्रोग्रेस रिपोर्ट, आर्कियोलोजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्किल, १९०६–७, पृ० ३६

२ डॉ० हार्नली, पूर्वोक्त।

३ टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास में ओसियां का ओसवालों के उत्पत्ति स्थान के रूप में वर्णन किया है।

४ एस० एल० भंडारी आदि, ओसवाल जाति का इतिहास, ओसवाल हिस्ट्री पब्लिशिंग हाऊस, भानपुरा, पृ० ५।

५ डॉ० हार्नली, पूर्वोक्त पुस्तक।

६ "संवत् १५५८ वर्षे माघ सुदी १२ गरौ ओकेश ज्ञातीय मारडावुत सेहाभार्या पदभाई श्रेयस [illegible]णशाली पताकेन श्री वासुपूज्यबिम्बं कारितं प्रतिष्ठितं खरतरगच्छे श्री जिनहंससूरिभिः देखिए, सुधीन डे, "टू यूनीक इन्सक्राइब्ड जैन स्कल्पचर्स", जैन जरनल भाग ५, अंक १, जुलाई १९७०, पृ० २४–२६।

इतिहास के कुछ सूत्र उपलब्ध होते हैं। उकेशनगर प्रतिहार राजाओं के राज्य के अन्तर्गत था, प्रतिहारवंशी वत्सराज राजा जिसकी कीर्ति 'तुषारहार विमला ज्योत्स्नातिरस्कारिणी' थी[1], के राज्य में पृथ्वी पर प्रसिद्ध उकेश नामक श्रेष्ठ नगर था। इस नगर के मध्य में जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर का मंदिर था।[2] वत्सराज का समय ईस्वी ७८३ जिनसेन प्रणीत 'हरिवंश पुराण' द्वारा निश्चित है।[3] बुचकला (जिला जोधपुर) के एक मन्दिर से हमें वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय (८१५ ई०)[4] का शिलालेख प्राप्त हुआ है। यद्यपि इस शिलालेख से राज्यारोहण की निश्चित् तिथि नहीं ज्ञात होती है, परन्तु यह तिथि लगभग ७९४ ई० होगी।[5] इन प्रमाणों से यह निश्चित् हो जाता है कि जैन मन्दिर आठवीं शताब्दी ईस्वी में विद्यमान था।

ओसियां के मन्दिरों के मूर्ति एवं वास्तुशिल्प को आंवा, झालरापाटन, एरण, तथा पठारी के मन्दिरों से सादृश्यता के आधार पर भंडारकर इन मन्दिरों का समय ७००-८०० ईस्वी ठहराते हैं।[6] जैन मन्दिर में शिलालेख की उपलब्धि के कारण भंडारकार की यह धारणा कि जैन मन्दिर का निर्माण वत्सराज ने ही करवाया था, उचित नहीं प्रतीत होती। मन्दिर में उपलब्ध शिलालेख के आधार पर ही भंडारकर इस निश्चय पर पहुंचे हैं।

भंडारकर के मत का अनुकरण करते हुए श्री ओझा[7], पर्सी ब्राउन,[8] रोलैंड,[9] एस० के० सरस्वती,[10] गोइज,[11] कुमारस्वामी,[12] आदि ने इन मंदिरों को आठवीं से नवीं शताब्दी

---

१ नाहर-पूर्वोक्त पुस्तक, सं० ७८८, पृ० १९२। इस शिलालेख का कुछ अंश नष्ट हो गया है। अतः पूरा शिलालेख पढ़ा नहीं जा सकता है।

वही।

३ जिनसेन, हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लोक ५२, पृ० ८१०

४ एपिग्राफिया इन्डिका, भाग ९, पृ० १९८-२००

५ डॉ० दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दी एजेज, भाग १, पृ० १३४।

६ भंडारकर, एनुअल रिपोर्ट आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०८-९, पृ० १११

७ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० २९।

८ पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू), पृ० ११५-१६।

९ रौलैंड, दि आर्ट एंड आर्किटेक्चर आफ इंडिया, पृ० १७५-७६।

१० एस० के० सरस्वती, "आर्किटेक्चर", दि० स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ५७६।

११ गोइज, आर्ट आफ दि वर्ल्ड–इंडिया, पृ० १४७

१२ कुमारस्वामी. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १११

के मध्य का निर्धारित किया। प्राप्त शिलालेख के आधार पर वत्सराज को मंदिर का कर्त्ता मानने में एक त्रुटि रह गई है। यह शिलालेख ९५६ ईस्वी में जिन्दक द्वारा जीर्णोद्धार के समय लगवाया गया था। इसमें वत्सराज का उल्लेख उकेश नगर के वत्सराज द्वारा बसाये जाने के कारण ही किया गया प्रतीत होता है, न कि मन्दिर के निर्माणकर्त्ता के रूप में। यदि ऐसा होता तो कवि निर्माणकर्त्ता को उचित सम्मान देने में त्रुटि न करता। अतः यह सम्भव है कि वत्सराज का मन्दिर निर्माण में कुछ योगदान रहा होगा तथा यह उपकेश गच्छ एवं वहां के वणिक वर्ग के सम्मिलित प्रयासों का परिणाम हो। इस प्रकार के सम्मिलित दान द्वारा स्तूप, चैत्यादि निर्माण के उदाहरण भारहुत व सांची से भी प्राप्त होते हैं।[1] यह सम्भव हो सकता है कि मन्दिर निर्माण में वत्सराज का कुछ योगदान रहा हो।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी ओसियां नगर की प्राचीनता एवं समृद्धिशालिता प्रमाणित होती है। श्री हरिभद्रसूरि कृत समराइच्चकहा में उपकेश नगरी का वर्णन है। हरिभद्रसूरि (७००-८०० ई०) का समय एवं उनकी कृति की ऐतिहासिक प्रामाणिकता स्वीकृत है।[2] समराइच्चकहा में एक श्लोक है—

> तस्मात् उकेशज्ञाति गुरवो ब्राह्मणः नही,
> उएस नगरं सर्वं करऋणसमृद्धिमत्।
> सर्वथा सर्वनिर्मुक्तमुएसा नगरं परम्,
> सत्प्रभृति सजातिविति लोकं प्रवीणम्॥[3]

अर्थात् उकेश नगरी के निवासी कर से मुक्त है एवं उपकेश जाति के गुरु ब्राह्मण नहीं हैं। यदि इस तथ्य को स्वीकार करें तो उपकेश नगर ईसा की आठवीं शताब्दी में पूर्ण समृद्धि पर था। अनुमानतः इस समृद्धि को प्राप्त करने में उसे १०० वर्षों का समय लगा होगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह प्रकाश में आता है कि आठवीं शती तक

---

१ देखिये, मार्शल एण्ड फूशे, मॉन्यूमेन्ट्स ऑफ सांची।

२ एम० सी० मोदी, "प्रस्तावना", समराइच्चकहा। उद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला की प्रस्तावना में हरिभद्रसूरि का तर्क एवं आगमशास्त्रों के गुरु के रूप में उल्लेख किया है। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला जाबालिपुर में शक संवत् ७०० (७७८ ई०) में सम्पूर्ण की। जिनविजय मुनि ने भी हरिभद्रसूरि का यही समय माना है।

३ हरिभद्रसूरि, समराइच्चकहा—एस० एस० भंडारी, ओसवाल जाति का इतिहास से उद्धृत, पृ० १६।

उपकेशगच्छ की स्थापना हो चुकी थी तथा जैन गुरुओं ने ब्राह्मण गुरुओं का स्थान ग्रहण कर लिया था।

ओसियां के विगत वैभव एवं विस्तृत क्षेत्रफल का वर्णन वहां की लोक कथाओं से भी प्राप्त होता है। प्राचीन नामों की समानता ओसियां के आसपास स्थित ग्रामों से भी होती है। इन लोक कथाओं के अनुसार[1] उपकेशपट्टन जब अपनी समृद्धि के शिखर पर था, तब इसका धान्यमहाट्ट मथानिया (१६ मील दक्षिण पश्चिम) ग्राम में, तैलिक आवास १३ मील दक्षिण में वर्तमान तिवरी ग्राम में एवं नगर का प्रवेश द्वार घटियाला (रोहिन्सकूप) में था। खेतार ग्राम इसका क्षत्रियपुर था। इससे यह ज्ञात होता है कि इस नगर के पास मथानिया में बड़ी धान्य की मंडी थी, एवं ओसियां में कर मुक्त जीवन प्राप्त करने का प्रवेश द्वार रोहिन्सकूप में था, जहां संभवतः प्रतिहारों का राज्य कार्यालय रहा होगा, जिससे नगर में कर मुक्त निवास की आज्ञा प्राप्त की जाती होगी।

इस समृद्धिपूर्ण सांस्कृतिक एवं धार्मिक केन्द्र की उत्पत्ति एवं बिध्वंस के संदर्भ में कई किंवदन्तियां प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख यद्यपि पिष्टपेषण मात्र है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसलिए भी आवश्यक है कि उनका अनुशीलन करने पर कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकाश में आते हैं। इन किंवदन्तियों का उल्लेख भंडारकर ने अपनी रिपोर्ट[2] में किया है। उपकेशगच्छ पट्टावली में भी जो ईस्वी १३२६ की रचना है, ओसियां के अधिवासन, एवं वहां के निवासियों की जैन धर्म में दीक्षा का उल्लेख है।

इन कथाओं में अन्तर होते हुए भी कुछ समानताएं दृष्टिगत होती है। यद्यपि सत्य का अंश कम और कल्पना का आवरण ही अधिक प्रतीत होता है, फिर भी इन कथाओं से यह आशय निकलता है कि (i) ओसियां को किसी उपलदेव या उत्पलदेव ने बसाया था जो प्रतिहार राजाओं का आश्रित था। (ii) यहां के निवासियों ने बाद में हिन्दू धर्म छोड़कर जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली तथा (iii) किसी प्रकार के राजनैतिक या प्राकृतिक संकट के कारण नगर का वैभव समाप्त हो गया।

उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इन तथ्यों की प्रामाणिकता की परीक्षा करने से ही सत्य एवं काल्पनिक तथ्यों का निर्णय किया जा सकता है। पट्टावली[3] के

---

१ इन लोक कथाओं के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—भंडारकर, एन्युअल रिपोर्ट आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०८–९, पृ० १००–१०१

२ वही, पृ० १००–१०१।

३ हार्नली, पूर्वोक्त, पृ० २३३।

अनुसार भीनमाल के राजा भीमसेन के पौत्र उत्पलकुमार और सुर-सुन्दर। सुर-सुन्दर के युवराज होने और पारस्परिक विवाद के कारण उत्पलकुमार भीनमाल छोड़ कर मंत्री ऊहड़ के साथ ओसियां चला आया। ओसियां का नगर, जिसका विस्तार बारह योजन था, उसे 'ढीलीपुर' (दिल्ली) के शासक श्री साधु से प्रसाद स्वरूप प्राप्त हो गया।

पट्टावली में ओसियां एवं जैन मन्दिर को पांचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व निर्मित कहा गया है जो काल्पनिक एवं जनसामान्य को अपने धर्म की प्राचीनता से प्रभावित करने के उद्देश्य से ही है। यह प्राचीनता ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों से सिद्ध नहीं होती।

भंडारकर द्वारा उद्धृत किंवदन्ती[1] के अनुसार पलराज परमारवंशी था। प्रतिहार राजाओं से आश्रय स्वरूप उसे ओसियां नगर (मेलपुरपट्टण) के अवशेष प्राप्त हुए थे जिन्हें उसने पुनः आवासित किया था। इसी प्रकार वहां के निवासियों के धर्म परिवर्तन के विषय में अत्यन्त रोचक विवरण दिया गया है। इस कथा में सत्य का अंश कम और काल्पनिकता ही अधिक प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्मानुयायियों ने धर्म की उत्कृष्टता एवं प्रसार के लिए कल्पना का समावेश कर लिया है। इस प्रकार के वर्णन का उद्देश्य धर्मभीरु भावनाप्रवण जनमानस को जैन-धर्म के प्रति आकृष्ट करना मात्र ही प्रतीत होता है। इतना अवश्य निश्चित है कि यहां के शासक ने जो पहले देवी का उपासक था किसी कारणवश धर्म परिवर्तन किया तथा प्रजा को भी नये धर्म में दीक्षित होने के लिए प्रोत्साहित किया। उस समय उपकेशपुर में जो हिन्दू जातियां थीं उनके जैनधर्म ग्रहण करने से ही आज भी जैन संप्रदाय में ऐसे विभिन्न गोत्र पाये जाते हैं जो इन जातियों के सूचक हैं।[2] इस प्रकार के सामूहिक धर्म परिवर्तन का प्रमाण एक अन्य स्रोत से भी मिलता है। ईस्वी सन् १९२०-२१ के आर्कियोलोजिकल सर्वे के अनुसार इस वर्ष जो शिलालेख प्राप्त हुए वे ईस्वी १०७८ से १४६७ के मध्य के जैन मन्दिरों की धातु प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण थे। इनसे दानकर्ता व्यक्तियों का नाम उनकी जाति एवं गच्छ के साथ, दान की तिथि तथा प्रतिष्ठा करने वाले जैन-गुरुओं के नाम उत्कीर्ण हैं। इनमें बलाही जाति जो कि हिन्दुओं में अछूत माने जाते हैं, उनका उपकेशगच्छ की एक जाति के रूप में उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि ओसियां नगर के निवासियों ने सामूहिक रूप से धर्म परिवर्तन स्वीकार किया था।[3]

---

१ भंडारकर, एन्यूअल रिपोर्ट आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, १९०८-९, पृ० १०१।

२ एस० एस० भंडारी, ओसवाल जाति का इतिहास, फुटनोट ७, पृ० १६।

३ विस्तृत विवरण के लिए देखिए, आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट १९२१-२२, राजपूताना म्यूजियम के शिलालेख पृ० ११९।

१८९१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार भी ओसवाल राजपूत जाति के थे तथा इनका मूल निवास-स्थान ओसियां ही बताया गया है।[1]

ओसियां नगर के राजा एवं उसके अधिवासन के संबंध में अभी तक पर्याप्त सामग्री प्रकाश में नहीं आई है। यह संभव है कि आबू के उत्पलराज परमार को कन्नौज के प्रतिहार महीपालदेव ने, जो उसका समकालीन[2] था, ओसियां की जागीर प्रदान की हो; ऐसी कोई निश्चित् धारणा नहीं बनाई जा सकती। परन्तु ९५६ ईस्वी के जिन्दक के शिलालेख एवं वत्सराज (७७८-७९४ ई०) के उल्लेख तथा प्राचीन मंदिरों के अवशेषों से ओसियां की प्राचीनता अवश्य सिद्ध है। ९५६ ईस्वी के बाद भी ९७८ ईस्वी में तोरण निर्माण तथा इसके बाद के अन्य उल्लेखों द्वारा भी ओसियां नगर की समृद्धि का परिचय हमें मिलता है।

यदि यह मान लिया जाय कि आबू के उत्पलराज परमार (९२७ ईस्वी) ने प्रतिहार वंशी महीपालदेव (९२२ ईस्वी) से ओसियां की जागीर प्राप्त करके उसे पुनः बसाया तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हरिभद्र सूरि कृत समराइच्चकहा में वर्णित उकेशा तथा वत्सराज कालीन (शिलालेख में वर्णित) समृद्ध उपकेशपुर की पुनर्स्थापना की आवश्यकता क्यों उपस्थित हुई? वत्सराज (७७८–७९४ ई०) के राज्यकाल में उपकेशपुर की समृद्धि के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् वहां कोई राजनैतिक उथल-पुथल हुई होगी जिसके परिणामस्वरूप नगर की समृद्धि को क्षति पहुंची और उत्पलराज ने उसे फिर से समृद्ध किया। इस समय में राष्ट्रकूटों के आक्रमणों के कारण भी प्रतिहार राजाओं को बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी। संभवत: इसी क्षति और अशान्ति के परिणामस्वरूप ओसियां में वास्तु एवं मूर्ति शिल्प की गतिविधियां कुछ समय के लिए बिल्कुल बन्द हो गई हों। ओसियां से हमें इस राजनीतिक संघर्ष का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता, परन्तु प्रतिहार राजा बाऊक के भाई कक्कुक का घटियाला से प्राप्त शिलालेख[3] जो वि० सं० ९१८ (८६१ ई०) में उत्कीर्ण कराया गया था, में कक्कुक द्वारा आभीर जाति से आक्रान्त रोहिन्सकूप को आभीरों से मुक्त कराने एवं इस विजय के स्मारक स्वरूप अपनी कीर्ति के स्तम्भ स्थापित करने का वर्णन है कक्कुक ने यहां शांति स्थापित करके एक हट्ट की स्थापना की।[4] रोहिन्सकूप ग्राम अनाश्रित, आभीरजनों से संत्रस्त एवं सज्जन निवासियों द्वारा परित्यक्त था। कक्कुक ने यहां विचित्र वीथियों से युक्त हट्ट एवं आवासगृहों का निर्माण करवा कर ब्राह्मण

---

१ हरदयालसिंह, सेंसस रिपोर्ट १८९१, भाग ३, पृ० ११३।

२ देखिए, डॉ० दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ५४०, ५५२।

३ एपिग्राफिया इंडिका, ९, पृ० २७९–८१. अभिलेख सं० १।

४ वही।

क्षत्रिय व वणिकों को फिर से बसाया।[1] यही रोहिन्सकूप ओसियां का प्रवेश द्वार भी कहलाता था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि आभीर जनों से आक्रान्त होने, एवं प्रतिहार राजाओं के राष्ट्रकूट संघर्ष में व्यस्त होने के कारण ही ओसियां नगर नष्ट हो गया होगा। ओसियां के कुछ वैष्णव मन्दिर[2] जो जैन मन्दिर से वास्तु की दृष्टि से प्राचीन हैं, उन पर व आभीर अभिप्राय भी अंकित है। हरिहर मन्दिर १, २ व ३ की बाहरी भित्तियों पर कृष्णलीला के दृश्य अंकित हैं, कृष्ण आभीरों के देवता थे। इसी आधार पर इन मंदिरों के निर्माण का श्रेय पूपल जयकर[3] ने आभीरों को दिया है।

प्रतिहार राजाओं को जैन धर्म के प्रति विशेष रुचि व आदर का भाव था। वैष्णव होते हुए भी धार्मिक सहिष्णुता से प्रेरित होकर इन राजाओं ने जैन धर्म को भी राजाश्रय प्रदान किया था। कन्नौज के प्रतिहार तथा मंडोर के गुर्जर प्रतिहार राजाओं के शिलालेखों एवं अन्य साहित्यिक स्रोतों से हमें इसका ज्ञान होता है। नागभट्ट प्रथम ने अपनी राजधानी जाबालिपुर में यक्षवसति प्रासाद का निर्माण अपने गुरु यक्षदत्तगणि के सम्मान में करवाया था।[4] प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि वत्सराज के पुत्र नागभट्ट या नागावलोक ने जैन गुरु बप्पसूरि के आदेशानुसार कई जैन मन्दिरों का निर्माण करवाया। नागभट्ट द्वितीय के पुत्र मिहिर भोज ने भी जैन धर्म को राजाश्रय प्रदान किया था। मंडोर शाखा के प्रतिहार काक्कुक ने ८६१ ईस्वी में घटियाला में जिन भवन का निर्माण करवाया और वहां के जाम्बव और आमरक जैन गुरुओं एवं वणिक भाकुट को मन्दिर की पूजा एवं संरक्षण का भार सौंपा था।[5]

साहित्यिक स्रोतों एवं मूर्तियों पर अंकित शिलालेखों द्वारा उपकेशगच्छ की धार्मिक गतिविधियों के प्रमाण हमें १६ वीं शताब्दी तक मिलते रहते है। ओसियां का जैन मन्दिर

---

१ वही, अभिलेख सं० २।

२ भंडारकर ने इन मन्दिरों को हरिहर मंदिर नाम दिया है जबकि ये विष्णु के मंदिर ही अधिक प्रतीत होते हैं। देखिए, एन्युअल रिपोर्ट आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०८–९, पृ० १००–११५।

३ पूपल जयकर, "ओसियां", मार्ग, भाग १२।

४ उद्योतनसूरि, कुवलयमाला प्रशस्ति, के० सी० जैन के शोध प्रबन्ध से उद्धृत, पृ० ५८।

५ घटियाला शिलालेख (प्राकृत) श्लोक सं० २२, १३, जे० आर० ए० एस०, १८९५, पृ० ५१३–५२१।

स्वयंमेव इन गतिविधियों का प्रमाण है। इसका निर्माण वत्सराज (७७८-७९४ ई०) के राज्य में हुआ।[1] नष्टप्राय शिलालेख के अंश से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं–मन्दिर का नालमंडप ध्वस्त हो गया था जिसका पुनर्निर्माण जिन्दक नामक व्यापारी ने करवाया। पुनर्निर्माण की निश्चित् तिथि भी शिलालेख से ज्ञात होती है। यह जीर्णोद्धार १०१३ वि० सं० में फाल्गुन मास की शुक्ल पक्ष की तृतीया को हुआ था। शिलालेख के प्रारम्भ में वत्सराज के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मन्दिर के निर्माण कार्य में वत्सराज का योगदान रहा होगा। यह सम्भव है कि जब वह राष्ट्रकूट राजा ध्रुव से पराजित होकर मारवाड़ में आ गया था (७०० शक संवत)[2], वह उकेशपुर भी गया हो, उसी आगमन के कारण यह उल्लेख किया हो, परन्तु इतना अवश्य निश्चित् है कि प्रतिहार राजाओं का संबंध उकेशपुर से अवश्य था।

मन्दिर के स्तम्भों एवं मूर्तियों के दान अभिलेखों द्वारा विभिन्न समय में ओसियां के मूर्ति शिल्प एवं धर्म प्रचार संबंधी गतिविधियों के प्रमाण मिलते हैं। स्तम्भ, मूर्तियां, तोरण द्वार और मन्दिर के अन्य अंग विभिन्न व्यक्तियों के दान द्वारा निर्मित हुए हैं। ये लेख १० वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक के प्राप्त होते हैं। इनमें १०३५ वि० सं० में तोरण निर्माण[3], १०८८ संवत् की राखदेव निर्मित मूर्ति,[4] ११०० सं. की धर्मशाला की नींव से प्राप्त प्रतिमा[5], संवत् १२३१ का बांधलपुत्र यशोधर द्वारा निर्मित स्तम्भ[6], १२३४ का नागदेव के पुत्र द्वारा दान में दी गई मूर्ति[7], संवत् १६८३ की तेजपाल द्वारा प्रतिष्ठित संभवनाथ की मूर्ति[8], उल्लेखनीय है। संवत् १२५९ के शिलालेख में

---

१ यहां से प्राप्त शिलालेख में जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ की स्तुति, वत्सराज के राज्य में उकेशपुर एवं महावीर के मन्दिर का उल्लेख है।

२ उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला को (जाबालिपुर में लिखित) ७०० शक संवत् में पूर्ण करते समय वत्सराज का मारवाड़ के शासक के रूप में उल्लेख किया है। वानी और राधनपुर के दानपत्रों में वत्सराज का ध्रुव के आक्रमण से पराजित होकर मरुभूमि में शरण लेने का उल्लेख मिलता है। एपिग्राफिया इन्डिका, १२, पृ० १६४।

३ नाहर, जैन शिलालेख, सं० ७८९।

४ वही, सं० ७९२।

५ वही, सं० ८०३।

६ वही, सं० ७९०।

७ नाहर, जैन शिलालेख, सं० ७९४

८ वही, सं० ८०१।

उपकेशगच्छीय कक्कसूरि द्वारा २४ जिनमातृपट्टिकाएँ अपनी माता के श्रेयार्थ बनवाई एवं प्रतिष्ठित की गई थीं।[1] उपकेशगच्छ का प्रसार जैसलमेर, मेवाड़, सिरोही में भी हुआ। इसके प्रमाण यहां के संग्रहित[2] अभिलेखों से मिलते हैं। १६ वीं शताब्दी तक उपकेशगच्छ राजस्थान में अत्यधिक प्रसिद्ध रहा।

साहित्यिक वर्णनों द्वारा भी हमें ओसियां के वैभवपूर्ण इतिहास का ज्ञान होता है। यद्यपि ये जैन ग्रन्थ ओसियां की प्राचीनता के विषय में अन्धकार में हैं। परन्तु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि इन ग्रन्थों की रचना के समय तक ओसियां का जैन धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

संवत् १३३७ में कक्कसूरि विरचित 'नाभिनन्दन जिर्णोद्धार प्रबन्ध' में ओसियां नगर का विस्तृत वर्णन किया गया है एवं मन्दिर की निर्माण तिथि वि० सं० ९६१ दी गई है, जिसकी पुष्टि अम्बालाल शाह[3] द्वारा की गई है। यह तिथि जिन्दक द्वारा किए गए जीर्णोद्धार के अधिक निकट प्रतीत होती है। ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता कि इतने थोड़े समय में ही मन्दिर में जीर्णोद्धार की आवश्यकता पड़ गई हो।

मंदिर के जीर्णोद्धार का इतिहास, एवं विभिन्न समयों में निर्मित होने के कारण मूर्तिकला के विकास के अध्ययन के लिए यह मंदिर २०० वर्षों का इतिहास उपस्थित करता है।[4] नालमण्डप का जीर्णोद्धार (१०१३ संवत्), तोरण के स्तम्भ (१०३५ संवत्) एवं तोरण शीर्ष इसके कुछ बाद में बने प्रतीत होते हैं। मन्दिर के चारों ओर की देव-कुलिकाएं भी वास्तु की दृष्टि से इसी समय की प्रतीत होती हैं। मुख्य मंदिर के शिखर के विषय में भंडारकर की यह धारणा है कि यह प्राचीन अवशेषों से ही १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में फिर से बनाया गया होगा क्योंकि ग्रामीणों ने भी उन्हें बताया था कि १०० वर्ष पहले यह टूटा हुआ था। इसके अतिरिक्त आमलक के नीचे प्रत्येक दिशा में एक मानव-मुख अंकित है, जो कि गुजरात तथा राजस्थान के आधुनिक मंदिरों की विशेषता है।[5] परन्तु भंडारकर का यह अनुमान ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि मन्दिर का शिखर प्राचीन है यद्यपि वह मूल रूप में नहीं है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि इसका पुनरुद्धार ११ वीं शताब्दी के आसपास हुआ है।

---

१ वही, सं० ७९१।

२ वही, भाग २, ३।

३ अम्बालाल शाह, जैन तीर्थ सर्व संग्रह (गुजराती), ढाकी के लेख से उद्धृत–पूर्वोक्त।

पर्सी ब्राउन, पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ११५।

५ भंडारकर, एन्युअल रिपोर्ट, आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०८-९, पृ.१०८-९

६ इस तथ्य को ढाकी तथा कृष्णदेव भी स्वीकार करते हैं।

ओसियां के जैन मन्दिर की मूर्तिकला जैन प्रतिमा विज्ञान एवं वास्तुशास्त्र के अध्ययन के लिए अमूल्य देन है, यद्यपि जैन वास्तुकला जैसी वास्तु की कोई अलग शाखा नहीं है। हिन्दू वास्तु का ही अनुकरण जैन मन्दिरों में भी किया गया है, फिर भी राजस्थान एवं गुजरात के पूर्णतः सुरक्षित इतने प्राचीन मंदिरों में इसका स्थान प्रमुख है। अतः ८ वीं शताब्दी की प्रासाद-वास्तु की परम्पराओं का अध्ययन करने में यह मन्दिर विशेष सहायक है।

मन्दिर के निर्माण में जो पत्थर प्रयुक्त हुआ है वह ओसियां के अन्य वैष्णव मंदिरों से भिन्न प्रकार का है। यह अन्य मंदिरों के पाषाण के समान भुरभुरा नहीं है। मंदिर एवं देवकुलिकाओं के बाह्यभाग सुन्दर अप्सराओं, विद्याधरों तथा नर्तकियों की मूर्तियों से अलंकृत है। अप्सराओं की विभिन्न नृत्य मुद्राएं खुजराहो का स्मरण कराती हैं। यद्यपि जैन मंदिर होने के कारण अधिकांश दृश्य जैन तीर्थंकरों के जीवन से संबद्ध विषयों पर हैं, परन्तु कुछ कृष्ण के जीवन-वृत्त से संबंधित दृश्य भी यहां अंकित हैं, जो आभीर-संस्कृति के प्रभाव की पुष्टि करते हैं।

मन्दिर के मुख्य मण्डप के स्तम्भ अत्यंत सौन्दर्यपूर्ण अलंकरण का परिचय देते हैं। स्तम्भों के अलंकरण की शैली गुप्तकाल के अंत तक अपने चरम विकास पर पहुंच चुकी थी। घट पल्लव अभिप्रायों से मंडित इन स्तम्भों की तुलना करने पर मंदिर के समय निर्धारण के तथ्य की पुष्टि होती है। इस प्रकार के घट-पल्लव युक्त स्तम्भ उत्तर गुप्त काल में अत्यधिक प्रचलित थे। मध्य प्रदेश के ग्यारसपुर के 'मालादे' मंदिर में, जो सम्भवतः दसवीं शताब्दी के आसपास के समय का है, ओसियां के जैन मंदिर जैसे ही स्तम्भ उत्कीर्ण है।[1] इसी प्रकार के अलंकरण युक्त स्तम्भ कोटा राज्य में स्थित आंवा के वैष्णव मंदिर एवं चित्तौड़ के कालिका माता के मन्दिर में भी मिलते हैं।[2]

१९५ बी, बशिष्ठ भवन,
बिश्वविद्यालय मार्ग,
बापूनगर, जयपुर (राज.)

१　पर्सी ब्राउन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११५।

२　भंडारकर, एन्यूअल रिपोर्ट, आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०८-९, पृ० ११२।

शोध सामग्री : सर्वेक्षण

● डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

शृंगार-रस-माधुरी

(गतांक से आगे)

सप्तम आस्वाद

स्वाधीनीकृत भर्तृका. कलहंतरिता नाम।
विप्रलब्ध उत्कंठिता, बासकसज्जा बाम ।।१।।
प्रोषितपतिका खंडिता, अभिसारिका विचारि।
ये प्यारी वृजचंद की, आठ भांति की नारि ।।२।।[1]

।।अथ स्वाधीनपतिका लछिनम् ।।दोहा।।

जाकें हुकम सदा रहैं, पीतम गिनै न आन।
सो स्वाधीन पिया तिया, बरनी प्रान समान ।।३।।[2]

।। प्रछन्न स्वाधीनपतिका ।।यथा।।

आऊँ न सेज बढ़ाऊँ महा हठ नांही करौं रति रंगनि केतो ।।
हाथ छुड़ाई रहौं गहि नीबि राखति दूरि करैं छल जेतो ।।
मेरी सबै इतरानि की बांनि सौं हीयैं महासुख मानत ये तो ।।
जेतो करौं अपमान कछु मनमोहन के मन मोहन ते तो ।।४।।

।।यथा।।

राजति अजौं न मृगराज कैसी छीन कटि,
अजौं न उरोज गजकुंभ सम पीन हैं।

---

१ दशरूपककार ने इन भेदों का आधार अवस्था भेद माना है; ये स्वाधीनभर्तृका आदि अवस्थाएं विशेषण हैं। ये अवस्थाएं आठ ही हैं-आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः-दश० २।२३

२ 'आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका'-दश० २।२४
जिस नायिका का पिय समीप रहता है तथा उसके अधीन होता है, एवं जो नायक के पास रहने के कारण प्रसन्न रहती है, वह स्वाधीनभर्तृका कहलाती है।

अजौं न सुहाई नितंबनि गुरुताई गति,
देखैं न अजौं राजहंस लाज लीन हैं।
हौंनी अजौं माधुरी कैं सागर उजागरता,
अजौं नैंन मीन दिन हौंने रसभीन हैं।
बानी सुर बीन सम हौनीये प्रवीन तऊ,
भावक नवीन ही सौं पीतम अधीन हैं ॥५॥

॥ प्रकाश स्वाधीनपतिका ॥यथा॥

राजत अनंग के तुरंग से तरल नैंन,
देखि गति मति सब नसी कान्ह रसी की।
तूं ही उरबसी तेरी चेरी हू न उरबसी,
राजै उरवसी अति आभा उरवसी की।
आनन उजास आसपास भासमान भास,
सोहति है समता न सरद के ससी की।
लालन कै ऐसी कौन बाल सुखसाल जाकैं,
अंग ओप सारी सारी होत जरकसी की ॥६॥

॥ यथा ॥

वेधति है वृजबालन को मन रूप बिसेष बिलासनि जागी ॥
पान करै अधरामृत कौ निसबासर पानि परै रस पागी ॥
काम कतूहल की मनु धाम रहै नित ही बहु रंगनि रागी ॥
कुंजनि कुंज रमावति है मन मोहन कै मुरली मुहलागी ॥७॥

॥ कलहंतरिता[1] लछिनम् ॥

पहलै पियहिं न आदरै पाछै जो पछिताई।
कलहंतरिता नाम कहि बरनत ताहि बनाई ॥८॥

॥ प्रच्छन कलहंतरिता ॥

जो कहियै न हितून हूं सौं तौ मनोज सकोप सतावत भारी ॥
जो कहियै तु तिही छिन मो मन आवतु है चढ़ि लाज अटारी ॥
सोच संकोच दुहुंन कैं बीच भई गति दोइ तुरी असवारी ॥
सोई कटेरी को पान भयौ जु उठाइ दिये रिस कैं बनवारी ॥९।

---

१ 'कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्' दस० २।२६।
नायक के अपराध करने पर पहले तो क्रोध से उसका तिरस्कार करे, फिर अपने व्यवहार पर पश्चाताप करे।

॥ प्रकाश कलहंतरिता ॥

जीभ लपेटी है लाज कै पाट मनाइ न ले बिनती करि लालहिं ॥
आपनें दोस निवार सरोसनि मार मसोसनि है हिय हालहिं ॥
सौरभ सार भरे मलयानिल संग लगाइ चले भल भालहिं ॥
देखि बसंत समै को समागम आगिलौ मान सतावत बालहिं ॥१०॥

॥अथ विप्रलब्धा लछिनम ॥ दोहा ॥

पिय परिरंभ न पावई, लहि संकेत निकेत।
दुचित उचित चित सोच रचि विप्रलब्ध तिहि हेत ॥११॥

॥ प्रच्छन्न विप्रलब्धा ॥ यथा ॥

चित्रसारी देखन कैं चाइ भोरैं भाइ भरी,
हियैं सरसाइ मुख कीये मृदुहास कौं।
सोंहनि बिसासि कोरि कपट बिकासि आनी,
हुती रसरासि केलि महल बिलास कौं।
सूनौं लखि नैननि सौं ऊंनो मनि मान चली,
रही हू न ठाढ़ी भई लई न उसास कौं।
कुंज मधु लोभ-लीन चंचल अलीन सम,
कुंचित कटाछनि बिलोकी आस पास कौं ॥१२॥

॥यथा॥

घूंघट कैं ओट छिपी भरति उसासनि कौं,
धरत पिराई अति आनन अमल मैं।
अधरन नीरी ह्वै विरयाई कर बीरी निरी,
एती नाज कीन कहूं कंजहू के दल मैं।
आई हुती और चाइ औरैं भाइ होइ गई,
सौनैं की सी बेली मुरझाई परी पल मैं।
चली आधे पाइन सौं बोली आधे बैंननि सौं,
देखी आधे नैननि सौं केलि कै महल मैं ॥१३॥

॥प्रकाश विप्रलब्ध॥

मनभांवन कीजहं आवन आस सौं चंदमुखी करि चाइ गई ॥
तहं कुंज कुटी मुकतावलि छुटी लखि को बरनैं जिहिं भांति गई ॥
मुख पैं मधुपावलि आवत जो वह दीह उसासनि सौं तचई ॥
तन तापनि कौं न लता बचई मधुमैं रितु ग्रीषम की रचई ॥१४॥

॥यथा॥

घोरघटा घुमड़ी चिहुं ओरनि दीरघ दामिनि देत दिखाई॥
भादव की अति कारी निसा भय भारी लगै अंधियारी सौं छाई॥
बाल गई उहिं केलि के कुंज तहां न लखे बृजराज कन्हाई॥
ता समैं पावस पावक औ रतिराज चमू हू समूहनि धाई॥१५॥

॥अथ उत्कंठिता॥

चिंतति चित संकेतघर अनआवन कै हित।
सोई है उत्कंठिता, आलस ताप समेत॥१६[1]

॥प्रच्छन्न उत्कंठिता॥यथा॥

कहूं अटके हैं, किधौं काहू अटकाये हरि,
अजहूं न आये घरी घरी यौं टरत है।
पूछ न सकति सखी जन सौं सोच भरी,
अंखियां तो नीर भरी धीर न धरत हैं।
दीरघ उसांस नीरी होति न अधर बीरी,
पीरी झांई ऊजरे कपोलनि भरत हैं।
मंदिर तैं पौरि लौं पौरि तैं मन्दिर लौं,
हेरत हो जात नैंक नींद न परत है॥१७॥

॥यथा॥

ईठ तजी कै गई न बसीठि किधौ बसि काहू कै डीठि भये हैं॥
नाहीं करी कै गये बन मांहि कै काहू तिया गहि बांही लये हैं॥
आए न लाल बिचारति बाल बिहाल कै धीरज छूटि गये हैं॥
आंसू छिपाय तिया मिस सौं दृग छावत पंकज के रजये है॥१८॥

॥प्रकाश उत्कंठिता॥

कबहूं रसाल की लतान सौं करत बात,
कबहूंक मालती के जालनि विरति है।
कबहूंक चाइ भरी चंपा के समीप जाइ,
धाई परी भौंरन की भीरनि भिरति है।

---

१ दशरूपककार ने 'विरहोत्कंठिता' कहा है, परन्तु देवर्षि कृष्ण भट्ट की उत्कंठिता का लक्षण भी लगभग वही है।
'चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कंठितोन्मनाः' दश० २।२५

आली ! आली केलनि सौं फूली राय बेलिन सौं,
रंग भरी बेलनि सौं बोली जिम रति है।
दै गये बिसास भौंन आए घनश्याम क्यों न,
पौन हले रूखन सौं पूछति फिरति है ॥१९॥

॥यथा॥

कामिनि जामिनि नैंक करै हित वै अपने तम जाल बढ़ावै ॥
नींद धरै गुरु लोगनि मैं विधि राज छपाकरि तो लौं छिपावै ॥
जो लगु आपनि कौल धरै मनभांवन केलि के मंदिर आवै ॥
यौं ही विचार बिलोकै चिहूँ दिस मैंनमइ चित चैंन न पावै ॥२०॥

॥बासकसज्जा लछिनम्॥

मनभावन आवन दिवस करत सुरत को साज।
बासकसज्जा कहतु हैं, तासौं सकबि समाज ॥२१॥[1]

॥अथ प्रच्छन्न बासकसज्जा॥

कहूं मनि मोतिन के गहनां बनाइयत,
कहूं माल लाइयत केलि के कमल की।
कहूं लाल ललित अलापु करैं आलीजन,
कहूँ सेज कीजत गुलाबन के दल की।
काहू सुभ काज कै कपट सौं सिंगारियत,
मति भरमाईयति वा तिय चपल की।
और तो महल सब सहल लखेई लाल,
पहल के संग सोभा आजु के महल को ॥२२॥

॥ यथा ॥

अपने कर की चतुराई दिखावनि कंजनि केलि की माल बनावै ॥
चाह सौं चित्र बिलोकन कै मिस द्वार ही कैं ढिग नैंन लगावै ॥
होड़ ही होड़ सहेलिन सौं हसि यौं नव भूषन देह छिपावै ॥
ख्याल ही साज सजै सबही तिय बासक के न बिलास लखावै ॥२३॥

प्रकाश ॥ बासकसज्जा ॥

केसरि कै संग कसतूरी सौं उबटि अंग,
सौंधे सौं अन्हाइ खरी अति ही उमाहि कैं।

---

१ 'मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये' दश० २।२४।
जो प्रिय के आगमन के समय हर्ष से स्वयं को सजाती है।

सकल सिंगारनि सौं सखिन सिंगारी प्यारी,
पहिरी किनारीदार सारी यौं सराहि कैं।
तैसीये कुचनि कसि बाँधी कस कंचुकी की,
जोबन की जेब तन रही अनगाहि कैं।
केलि के महल मांझ मदन के मद छकी,
रावरीयै चाह अब रही मग चाहि कैं ।।२४।।

।। यथा ।।

प्रात महापरबी सुनियैं इहि बात सौं वेगीयै सासुहिं स्वावति ।।
थोरे ही नेह सौं दीप संजोइ ढकै पिंजरा मैं सुबाहि छिपावति ।।
नंदकुमार के आगम बासर नागर नारि बिनोद बढ़ावति ।।
जोबन रंग अनंग तरंग दुंहुं मिलि अंगनि ओप बढ़ावति ।।२५।।

।। प्रोषितपतिका लछिनम् ।।

जाके पिय परदेस सो, प्रोषितपतिका सोई।
अति संताप सनीर हैं, सहज दूबरी होई ।।२६[1]

।। प्रच्छन्न प्रोषितपतिका ।।

नागर नवल नेह सागर बिदेस निस,
उजागर परत न पलको परति हैं।
झूठी मुसकानि जानि पूछै आली, आनि, आनि,
तिन सौं लगौंही नेह बातैं निदराति हैं।
आपु ही मैं आपु छिपावत लग्यौ वही जापु,
दीह परितापु तन तन मैं धरति हैं।
हितु जन हू जानैं मनहू न पहिचानैं,
ऐसैं पिय मिलन की आस पजरति है ।।२७।।

।। प्रकाश प्रोषितपतिका ।।

राखति न बाल मुकताहल की माल उर,
कोमल गुलाब दल हाथ न लगावई।
देत पूछी बातन कौ उत्तर सखीन मुख,
अंगन को रंग अंगरागनि छिपावई।

---

१ 'दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया' दश० २।२७।
प्रिय का विदेशगमन कार्यवश होना चाहिए, देवर्षि कृष्ण भट्ट ने इस अनिवार्य शर्त का उल्लेख नहीं किया है।

केते बहु त्रासहु न काढ़ति उसास घर,
सासु ननदीय डर हियहि बितावई।
बालम विदेस बस बाल मदनेस बस,
बाल बसि बिरहु सु नैंक न लखावई ॥२८॥

॥ यथा ॥

आजु काल्हि आवन कहे ते मनभावन,
दये हो बिछुरावन को जानत कपट है।
रावरे तो ख्याल इहां बीतें कौंन हाल तिन्हैं,
पूछत न लाल चित खरी चटपट है।
पागत विरह जग लागत अनैसो कहूं,
भागत बनै न चहुँ ओर तैं झपट है।
व्योम धूम घोरनी है तारागन चिनगी है,
चंद्र बिम्ब पावक है चांदनी लपट है ॥२९॥

॥यथा॥

जलधर दूर देस तातैं मुरझानी अति,
दूबरी लसति इक लता सुबरन की।
सोने के सरोज पर सोवत सरद चंद,
आसपास धरैं भास तिमिर के गन की।
परसि परसि तिल कुसुम समीर धीर,
चचलिता होत वंधु जीव के सुमन की।
खंजन जुगल सुरसरि जल बिंदु जिमि,
उगिलत नवल अवलि मुकतन की ॥३०॥

॥ खंडिता लछिनम् ॥

अति चिन्ता संताप जुत वहै खंडिता तीय।
आन सुन्दरी सुरत करि आवत जाकै पीय ॥३१॥ [1]

प्रच्छन्न खंडिता ॥

रतिरंग रंगे इत बालम आए इतैं अरुनोदय भास लही॥
लखि भाम मनोभव के भय सौं न कछु वै कही मन मौन रही॥
अंसुवानि भरी अंखियांनि बिसासिनि दूती को आनन चाह रही॥
कलकेतुकी यो पट घूंघट को अति ताते उसास उसासतही ॥३२॥

---

१ 'ज्ञातेऽन्यासंगविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' दश० २।२५।

॥यथा॥

अंजन रंजन मंजित ओठनि जौ लगु बाल बिलोकनि लागी ॥
तौ लगु लाल उताइले आइकें चूमि लई अँखियां अनुरागी ॥
वैं ही सुधारस के परसैं पुलकी तन रग तरंगनि जागी ॥
नेह अछेह सनी सजनी बिसरी रजनी बतियाँ रस पागी ॥३३॥

॥ प्रकाश खंडिता ॥

उन्नत उरोजन के खोज उर केसरि मैं,
कंठ कलकंकन के अंकन को घात है।
ठौर ठौर चिह्न नखदंतन के देखियत,
जावक सुरंग अंग अंग सरसात है।
सोहै कहूं पीक कहूं अंजन की लीक कहूं,
सिंदूर की सीक सोभा बरनी न जात है।
जागे रति रंग राति आए अरसात प्रात,
देखि रंग गात रंगचूनरी लजात है ॥३४॥

॥यथा॥

दृग कौंल कली ज्यौं ललौंही लसैं नित सूधीहू बातनि मैं कुटिलाई ॥
कुंचित काम कमांन ज्यौं भौंह चढीयै लखी कबहूं न नवाई ॥
घूंघट के पट वोट मैं सुंदर आनन चंद की चाह सदाई ॥
जो घरनी न उसासहि भोरही तौ रिस मानते कैसें कन्हाई ॥३५॥

॥ अथ अभिसारिका ॥

प्रेम गर्व अरु काम बस चलति ललन के धाम।
वहै कही अभिसारिका ज्यौं वृजकुंजनि बाम ॥३६॥[1]

॥ प्रच्छन्न प्रेमाभिसारिक[1] ॥

एक दोइ पैंड पार केलि कै सरोज तजि;
तीन चार पैंड पर डारी फूल माल कौं।
उरज उतंगताई नितंबनि गुरुताई,
कटि लघुताई दुखदाई भई बाल कौं।
पाँच छैक पैंड पर डारी मनि मोतीमाल,
अंगन बिहाल घरै बादला बिसाल कौं।

---

१ 'कामार्ताऽभिसतेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका' दश० २।२७।

प्रेम मदमाती भरसाती अति बेगि चलि,
देख्योई चहत प्रान प्यारे नंदलाल कों ।।३७।।

।।यथा।।

जुग पाइल पाइन तें करि दूरि उतारि अमोल हरा गर सों ।।
चटकीली दुहूं कर की बलयानि छिपाई लई पट आंचर सों ।।
पिय के घर कों चली चंदमुखी यह साज धरें निज नेहर सों ।।
दुति दंतन की बिसहूं दिस फैलति बोलति नांहि इहां डर सों ।।३८।।

।। गर्वाभिसारिका ।।यथा।।

आजु गरबीली सोति बन के सुहागन की,
सीच देह दीपति की दौरनि दपेटि लै।
आली अभिसार को समाज नेंकु साजि वृज-
कुंजनि की छैलनि के रंगनि झपेटि लै।
जोतिन सों जागि अँखियानि अनुराग इन,
लागनि सों लागि मन लालन लपेटि लै।
तारागन सांतरे सिपाइन की फौज बीचि,
बैठ रथि भागे भांति चंदहि चपेटि लै ।।३९।।

।।यथा।।

बृंदाबन चंद अति सोभा बढ़ी चंद जिमि,
कुंजभौन चंद्रिका उजास चहुं कोद ज्यों।
फूलि रहे आलिन के अंतर कुमोद बन,
लोचन अनंद भी चकोर मन मोद ज्यों।
सौतिन की दूती मोर सोर जिमि करि थकी,
सोतें गई दूरि भजि पावस पयोद ज्यों।
आजु सुखसार रम्यौ तेरो अभिसार प्यारी,
सोहत सरद रितु सरद बिनोद ज्यों ।।४०।।

।।अथ कामाभिसारिका ।।यथा।।

बिछिया संवारे घर घुघरूनि घोर बारे,
पग नेउर नगारे मिलि नौबत को सार है।
चंचल चलत कुच अंचल निसान छवि,
छूटे कचभार बरछीन को बिथार है।
राजै असवार मन-बारन पै मार नृप,
तेरो अभिसार तिय फौज को सिंगार है।

पाछे चंचरीक चले आवत चंदोली कीयें,
हांकत हरोली आगें सौरभ की घार है ।।४१।।

।।प्रच्छन्न कामाभिसारिका ।।यथा।।

गरज गरज घोर घटा चहूं ओर घिरी,
दसौं दिस मांझ दामननि कौ बिलास है।
तैसी निस पावस की मानऊ अमावस की,
कुंज भौन भयौ भूरि भय को निवास है।
बड़ी बड़ी बूंदैं डरपावनी लगत त्यौं ही,
असे समैं प्यारी अभिसार को हुलास है।
पंथ कीच बीच परी कंचन की छरी जानि,
पकरी भुजंग मनि मानिक की आस है ।।४२।।

प्रकाश कामाभिसारिका ।।यथा।।

गूढ़ गुन ग्रंथन के पंथन चलोगी कब,
मूढ़ भाव छांडो रति-ईस सीस धुनैंगो।
मान तिय मानहीं कै मान परिमान लहै,
मान बिन को लौं नेह गुन गन गुनैंगो।
यौं कहि सिखाई सब सखिन सुजान राधे,
हित कैसें चित चौगुनीन चौंप चुनैंगो।
चाहि चिहूं वोर सब बोलीं जिन कहो रीयौं,
अंतर मैं बैठो कहूं कंत यह सुनैगो ।।४३।।

।।दोहा।।

ये सब बरनी नायिका आठौ भांति बखानि।
उत्तम मध्यम अधम अरू तीन भांति की जानि ।।४४।।
अहित करै पीतम तऊ आप सदा हित होई।
उत्तम लीला कौं धरैं नारि उत्तमा होई ।।४५।।

।।उत्तमा ।।यथा।।

पहलैं ही रिस के चललैं परि सो मुखचंदहि देख लुभानी ।।
प्रीति सौं बांधी सी ह्वै गई आपु जु बांधन फूल की माल बन्यानी ।।
रंगभरे रतिरंग भरे लखि अंग खरे करे नैंन अमानी ।।
भांवते लाल बिलोकत बालहिं मान की बान सबै बिसरानी ।।४६।।

।। यथा ।।

प्यारी धर्यौ पग सेज ही पैं पिय ह्वैं है मलीन कलीन की कोई ।।
सीरी सुरंग सुगंध ये हौंहिगी वाही के पाइन है मन खोई ।।

कामिनि कापर कोप कीयो यह कंत कहा रिसो हमैं होई ॥
तौ कत लोचन लाल कियै निज भाल के जावक की रुचि सोई ॥४७॥

अथ मध्यमा ॥दोहा॥

कछु अहित कछु हित करै, लाल हिताहित देखि ।
यथायोग आदर करत, नारि मध्यमा पेखि ॥४८॥

॥अस्योदाहरण॥

आए लखि दूरि ही तैं दरबर उठि नीची,
अवलोकन सौं करी है प्रणति तति ।
लालच सौं मिले लाज आसन कौ छोड़ि तहां,
राखि उन्हैं लाोई कटाछन की बातैं अति ।
तरल तिरीछे टेढ़े सरल सुभाइन के
भाइ अन्हवाई अंग छाइ सतरोही दुति ।
मानहिं परोसि रसदान हैं निदान प्यारी,
आजु तेरे नैंननि पिय नैंननि पऊन गति ॥४९॥

॥पुनः॥

सखिन की बातैं रही दूतिन की घातैं रही,
पाइ के परत प्रीति प्रगट पियन की ।
पूरन परस रस अरस परस दुहू,
सरस लुभाई भरैं हिलगु हियन की ।
लाल की लटानि मिली मुकुट की छटानी सौं,
जटनि भई है उरझिनि मैं बियन की ।
मान की अटक तैं अधिक अटकानि परी,
नूपुर बिकट अनवट बिछियन की ॥५०॥

॥दोहा॥

पीतम हितकारक तऊ, जाहि न हित की बानि
अति चंडी अति कोपनी, ताहि अधम तिय जानि ॥५१॥

॥अथ अधमा ॥यथा॥

वे तो हैं अधीर खरी तेरे नेह पीर उन्हैं,
बंसी बट तीर तजि नैंकहू न जात री
तेरे मुख चंद चांदनी के चाइ चंचल ह्वै
लोचन चकोर कोरि जाम से जनात री ।
बिनही निदान इहिं प्यारी तेरे मान तापैं,
प्रीतम के प्रान तापैं काम बान बात री ।

कछु न बसात बिरहनि बिसराति नहि,
गात ही बिलात जल जातन के पात री ।।५२।।

।।दोहा।।

यह संजोग सिंगार रस, बरन्यौं भेद बताइ ।
बिप्रलंभ श्रृंगार अब, सुनौं सबै सुरसाइ ।।५३।।

।।इति श्री मन्महाराजाधिराज श्री राउ राजेंद्र श्री बुधसिंह जी देवाज्ञप्त कवि कोविद चूड़ामणि सकल कलानिधि श्री कृष्ण भट्ट देवर्षि विरचितायां श्रृंगाररसमाधुर्यं सप्तमास्वादः।।

(क्रमशः)

हिन्दी विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

अगरचन्द नाहटा

मेवाड़-महाराणाओं की वंशावली सम्बन्धी नवीन ज्ञातव्य

मेघविजय प्रणीत-'श्रीराणभूमीशवंश प्रकाशः'

१८ वीं शताब्दी के महोपाध्याय मेघविजय बहुत बड़े कवि एवं अनेक विषयों के विद्वान हो गये हैं। इनके रचित बहुत से ग्रंथ तो प्रकाशित हो चुके हैं, पर कुछ रचनाएं अभी तक अप्रकाशित हैं। इनकी कई अज्ञात एवं महत्त्वपूर्ण रचनाओं की खोज मैंने की है और उनके सबंध में समय-समय पर प्रकाश डालता रहा हूँ। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में कई वर्ष पूर्व "महोपाध्याय मेघविजय व उनकी रचनाएं" नामक मेरा लेख प्रकाशित हुआ था। उसके बाद भी कुछ रचनाएं और प्राप्त हुई है। ज्यों-ज्यों खोज की जाती है, इनकी अज्ञात रचनाएं प्राप्त होती रहती हैं।

दो-तीन वर्ष पूर्व मेरा जब उदयपुर जाना हुआ, तब वहां की हाथीपोल जैन धर्मशाला में मुनि मोहनविजयजी का ग्रंथ-संग्रह जो वहां स्टोर-रूम में उपेक्षित सा पड़ा था, मैंने निकलवा कर देखा, तो उसमें कई अज्ञात रचनाएं मिली, जिनमें महोपाध्याय मेघविजय का एक ऐतिहासिक काव्य भी था। उसकी प्रति करके मैंने उसकी नकल करवाली और उसे यहां प्रकाशित किया जा रहा है।

महोपाध्याय मेघविजय के इस अज्ञात ऐतिहासिक संस्कृत काव्य का नाम "श्री राण भूमीशवंश प्रकाश" है। इसमें उदयपुर महाराणाओं की वंशावली ५७ पद्यों में दी गई है। इस वंशावली का पहला क्रम बप्प से लेकर कार्तिकसिंहराज तक के ३३ नामों का ११ श्लोकों में है। उसके बाद दूसरी वंशावली के २७ नाम बप्प से लेकर कर्णसिंह तक १८ वें श्लोक तक में आते है। उसके बाद वंशावली का तीसरा क्रम महाराणा राजसिंह तक का पाया जाता है। महाराणा राजसिंह (वि. सं. १७०९-१७३७) की विद्यमानता में ही इस काव्य की रचना हुई है। अतः सम्वत् १७३७ से पहले की यह रचना है। राजसिंह के पुत्र जयसिंह और भीमसिंह के नाम भी ५४ वें श्लोक में आते हैं। जिनका जन्म सम्वत् १७१०-११ में हुआ था। इसलिए सम्वत् १७११ के बाद की और सम्वत् १७३७ से पहले की यह रचना सिद्ध होती है।

वैसे इस काव्य में उदयपुर के राणा वंश की ३ शाखाओं के वंश क्रम के नाम मात्र हैं क्योंकि उनका विशेष विवरण इस छोटे से काव्य में देना संभव नहीं था। इसलिए कवि ने इसका नाम "श्रीराणभूमीशवंश प्रकाश" रखा है जो सर्वथा सार्थक है।

प्राप्त प्रति सम्वत् १९५० द्वितीया आसाढ सुदि ७ गुरुवार को मुनि मोहनविजय ने अजमेर में लिखी है। अतः मूल-प्रति संभव है अजमेर आदि के जैन भंडारों में कहीं अज्ञात अवस्था में पड़ी हो। अभी तक मूल एवं प्राचीन प्रति की पूरी जानकारी नहीं मिल सकी है इसलिए मुनि मोहनविजय की नकल से ही इसको प्रकाशित किया जा रहा है।

महोपाध्याय मेघविजय की परंपरा में कई विद्वान हो गये हैं और लम्बे समय तक उनकी परम्परा चलती रही है लेकिन उनका संग्रह कहां-कहां रहा ? इसकी कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। मेघविजय की शिष्य-परम्परा और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में फिर कभी प्रकाश डाला जायेगा। कृति में वर्णित तीनों वंशक्रम इस प्रकार है—

प्रथम क्रम— बप्प, गुहिल, भोज, शीलदेव, कालभोज, भर्तृभट्ट, अर्सिहक, क्षितिनायक, राजीसुत, खुम्माणराज, अल्लट, नरवाह, शक्तिकुमार, मेदिनीपति, ब्रह्मनृप, योगराज, वैरट, क्ष्मापाल, वैरिसिंहन, खुम्माण, अरिसिंह, चन्द्रसिंह, विक्रमसिंह, रणसिंह, क्षेमसिंह, सम्मतसिंह, कुमारसिंह, मन्मथसिंह, पद्मसिंह, जैत्रसिंह, तेजस्वीसिंह, समरासिंह, कार्तिकसिंहराज।

द्वितीय क्रम— बप्प, खुम्माण, गोविन्द, महेन्द्र, आलूनसिंह, नृपसिंह, शक्तिकुमार, शालिवाहन, नरवाहन, अम्बिकादास, ब्रह्मा, नरवह, उत्तमराज, कर्ण, भद्रसेन, गोपति, हंसनृप, योगराज, वैरसिंह, वीरसिंह, समर, रत्नसिंह शरह पंजर, जैत्रसिंह, कर्णसिंह, कर्णपति।

तृतीय क्रम— राहप, नरसिंह, देवकर्ण, नरसिंह, राजपाल, नागपाल, पुण्यपाल पृथ्वीपति भुवनसिंह, भीमसिंह, सजयसिंह, लक्ष्मणसिंह, अरिसिंह, हमीरसिंह, क्षेत्रसिंह, लक्षसिंह, मोकलसिंह, कुंभकर्ण, राजमल्ल, संग्रामसिंह, उदयसिंह, प्रतापसिंह अमरसिंह, जगतसिंह, नरसिंह, राजसिंह।

महोपाध्याय मेघविजय रचित

अथ श्रीराणभूमीशवंश प्रकाशः ।।

अर्हं— जयति विजयलक्ष्मीः वासवेश्वाभिरामः ।
प्रथितविपुलकीर्तिस्तेजसां राशिरूपः ।।
जलधिरिव विशालश्चारुभूपालरत्नः
प्रभवभुवनसेव्यो राणभूमीशवंशः ।।१।।

इह महति महीयानन्वयेऽभूत्सभूमान् ।
विदित्सकलविधो वप्पनामाऽविद्यः ॥
प्रलभत जगदीशादेकलिङ्गाद्वरं यः ।
प्रतिदिनमतिभक्त्या शुद्धसाम्राज्यसिद्धेः ॥२॥

तदनु दनुजहर्त्ता भूमिभर्त्ता गुहोऽभूत्
गुहिल इति नरेशो जाग्रदुग्रप्रभावः ।
प्रजनि जनितपुण्यः पुण्यनैपुण्यशाली ॥
तदनु बहु महोभिर्भोजभूपोंऽशुमाली ॥३॥

विशदसुकृतशीलः शीलदेवो मनस्वी ।
तदनुमनुजराजो राजराजोपमोऽभूत् ।
विदलितकलिकालः कालभोजैश्चरित्रै ।
रजनि रजनिजानिः स्पर्धवर्धिष्णुकीर्तिः ॥४॥

तदनुभर्तृभटः सुभगाग्रणीः प्रकटितो घटितोहवपाटवः
स्वसहसा सहसा सहसिंह हवः समुदित्याय ततोऽप्यरिसिंहकः ॥५॥

यज्ञे महायक इति क्षितिनायकोऽस्माद् ।
विश्वत्रये स्खलित शासक एकवीरः ॥
राजीसुतः तदनु हेमतुलाधिरोही ।
खुम्माणराजभरतेऽप्यकरोत्सुराद्रिम् ॥६॥

अस्मात्भटः क्षितिपति नरवाहनोऽस्मात् ।
शक्त्याकुमार इव शक्तिकुमारनामा ।
स्यान्मेदिनीपतिरतः पुरतोऽर्ककीर्तिः ।
ब्रह्मानृपः तदनुभूपति योगराजः ॥७॥

पद्देश्य वैरटनृपः स्यतुवंशपालः ।
क्ष्मापालभालतिलकार्चितपादपीठः ।
श्री वैरसिंह इतिवैरिकरीन्द्रसिंहः
खुम्माणनामनिदधे विशदैश्चरित्रै ॥८॥

श्रीवीरसिंहद्युदितोऽरिसिंह ॥
श्रीचन्द्रसिंहश्चवश्चततः प्रचण्डः
जातः क्रमाद् विक्रमसिंह भूमान् ।
सान्वर्थनामा रणसिंहकोऽस्मात् ॥९॥

श्रीक्षेमसिंह, सम्मतसिंहोच ततः कुमारसिंहाख्यः
मन्मथसिंहः पद्मात् सिंहः श्रीजैत्रसिंहोऽस्मात् ॥१०॥

तेजस्विसिंह समरादिसिंहः तत पट्टरत्नमभुविनिस्सपत्नः ॥
मल्लावदीनाह्लयपातशाहे जेताततः कीर्तिकसिंहराजः ॥११॥
अत्र पाठान्तरे नामानि पुनरेवम्ः—
खुम्माणः क्षितिभृतसवप्पतनयः
प्राज्यैयंशोभिजंगद्भूरवाहेतुरभूत्ततः
प्रसृमरैः पूषाश्वतेजोभरैः
पाणीयः सततं कृपाललितैः
ज्योतिर्गणं भीषणम्
चक्रेद्यापि ततक्षणं न वियति
व्यालम्बते यं भिया ॥१२॥
गोबिन्दोनृपतिस्ततो गजघटा गण्डस्थलान्निर्भरं।
दानाम्भोभिरिदं भुवस्तलमलं कृत्वा सदापंकिल।
म्लेच्छाधीश शिरस्सुभूमिलुठितेषुन्निद्र दूर्वांङ्कुर।
श्रेणी कूर्चकचच्छलेननितरामुद्भावयाभासयः ॥१३॥
महेन्द्रमुख्याधस्तदनुक्षितीन्द्राः
जाताः क्रमाद्राजकुलेषुचन्द्राः
व्यावर्णितैस्तच्चरितप्रपञ्चैः
रालिख्य पूर्येत नभोविभागः ॥१४॥
ते चामी मालूनसिंहः च ततोऽपिसिंहः
शक्तिकुमारो अथ शालिवाहः
ततो नृपः श्रीनरवाहनाख्यः
ततोऽम्बिकादास इतिक्षितीशः ॥१५॥
ब्रह्मा धनब्रह्मोत्तमराजो भूस्ततोपिकर्णाख्यः
श्रीभद्रसेन गोपति हंसनृपः योगराजेशः ॥१६॥
श्रीबैरसिंहवीरो समराद्रत्नाः
ततोसिंहाख्यो शरपञ्जर :
नवखण्डो नवखण्डाखण्डविदिताज्ञो ॥१७॥
कूर्ममेरुः जैत्रसिंहः श्रीकर्णसमः ततोऽपि कर्णपतिः
इत्याद्याः भूमिभुजो भुजौजसा विदितसुरराजाः ॥१८॥
अत्रान्तरे प्रबला राजानोऽन्येऽपिबभूवुः स्ते पुस्तकान्तराद्ज्ञेयाः
राहपः क्षितिपतिः समहौजाः शत्रु राहु दलने हरिबाहुः
तत्र दुग्धजलधानिवजातः पारिजातशिखरिहयवदातः ॥१९॥
यस्मातसम्प्रतिभूतले विजयिनी राणेतिभूमीभुजाम्

ख्यातिस्फातिमुपैति चारुचरितैः गङ्गेव वाराम्भरैः ।
यस्याद्यापियशः सितोत्पलमिदम् कर्णावतंसायते
सर्वेषां दशदिग्वधूप्रणयिनाम् श्रामोदमेदस्वलम् ।।२०।।
तत्पटेनरसिंहनामनृपतिः सिंहः सुरद्विक्रमो
दृप्तादावनवारदाणविधौ सार्थनाम क्षितिः
श्रद्याप्यस्यधनप्रतापदहनो तापत्सहस्रद्युतिः
मन्येव्योमनदीतटीपरिसरे पर्यंदृयत्यम्बुधिम् ।।२१।।
देवकर्ण नरसिंह भूपतिः राजपाल नृप नागपालको
पुण्यपाल पृथ्वीपतिः नृपो रेजतुर्जगति विस्फुरत्कृपो ।।२२।।
तदनुभुवनसिंहो भीमसिंहः क्षितीन्द्रः
तदनुसजयसिंहः क्ष्मापतिः स्फारतेजाः
श्रजयद्भ्रमररूपां स्वरधनीयपवित्रैः
निजचरितविलासैः दाननीरैस्तधान्यान् ।।२३।।
तदनुश्रस्तदनुक्षितिवासवः
समभवत्किललक्ष्मणसिंहराट् ।
भुवनशादरिसिंह नृपस्ततः
सुकृतसंस्कृति सत्कृतिसत्कृतः ।।२४।।
हमी सिंहः क्षितिपोऽस्यपदे
श्रीक्षेमसिंहो स्यतु लक्षसिंहः
तत्पदृपूर्वाद्रि सहस्ररश्मिः
श्रजनेनृपोमोकलसिंहनामाः ।।२५।।

येन स्वर्णतुलाधिरोहणविधे रत्यः सुवर्णाचलः
चक्रेऽनन्य समानदानममलैः नव्यसरस्वानपि ।
कीर्तियस्य नवा सरिद्विविषदाम् त्रैलोक्यपावित्र्यकृत
नव्यां सृष्टिमार्गणां सविवधत् जज्ञे विधिर्नूतनः ।२६।।
यस्यप्रोद्धतगन्धसिन्धुरघटा कुम्भेषु दिग् भित्तिषु ।
व्यावृद्धेषु सरागनागजमराः भृंगावभ्रू शाश्वताः
लक्ष्मीणांदशदिग्भुवां परिणये राज्ञोऽस्य किं कौंकमाः
हस्तास्तैयप्रतास्तरणे सार्वत्रिकारसमयः ।।२७।।

यस्योद्दामतरप्रतापतरणेः
तापाविव व्याकुलाः
छायामण्डलमातपत्रजनितम्
सर्वेनृपाः संश्रियुः ।।
इन्द्रप्रस्थपतिर्भियास्थपतिः

काष्ठस्थितिर्दू गतः
तस्थौ शेष तयेष मुण्डितशिरः
पुच्छं न चेत् किं भजेत् ॥२८॥
यस्यादेशवंशवदामरुधरा
श्री गुर्जरत्रावृ्हः ।
वुन्दीनागपुराजमेरूसरसा
वन्तीस्वराद्याः नृपाः
चक्रीशक्रपराक्रमः कलियुगं
प्यासीदसीमावनिः
जम्भारातिरदम्भ संभवरतिः
श्रीकुम्भकर्णस्ततः ॥२९॥
साम्राज्ये जयति स्वयं रसमयम्
प्रष्मत्यनुष्मैः परम् ।
गोभिः शोभित मण्डलैः कृतयुगम्
पीयूषरश्मेरिव ।
तस्यासीद्द्विजगोधनेकुधतये
स्फातिस्तथात्यद्भुता ।
नक्षत्रप्रवरे षणिग् जनगणे
प्याविवभुवुः श्रियः ॥३०॥
प्रासादाव्यवहारिभिः भगवताम्
निर्मापिताश्चार्हताम्
श्रीमत्कुम्भलमेरूराणपुरयोः
यस्यप्रसादोदयात्
तेषां मूर्धनि साम्प्रतं विजयिनी
कीर्तिर्नरीनृत्यते ।
तस्य श्रीधरणीधवस्य मधुरा
धौतध्वज व्याजतः ॥३१॥
चैत्यार्थं वृषभप्रभोर्भगवतः
दत्तोस्मचित्तेशुचिः
श्रीमद्राणपुरे सराणसविता
क्षेत्रद्वयं शासने
काश्मीरस्य च टंक कं प्रतिदिनम्
स्वीयं जिनार्चाकृते ।

तेनास्य त्रिदिवे सुरैरपि यशः
सौरभ्यमभ्यस्यते । ।।३२।।
बभूव भूवल्लभसेव्यपादः ।
तत्सूनुरन्यून पराक्रमश्रीः ।।
श्रीराजमल्ल प्रतिमल्लरुपो
म्लेच्छेशदोर्दण्डविखण्डनाय ।।३४।।
तत्पट्टेस्पष्टकान्तिर्विशदतर
गुणग्राम संग्रामसिंहः
प्रत्यर्थिक्ष्मापकुम्भिप्रहृतगलद ।
मृगवाहमोत्साहसिंहः ।
आकण्ठं यस्यखड्गाः समय भगिनी
नीर पूरे निमग्नः ।
सोत्कण्ठं शत्रुरुच्चैरमरमृगदृशा
लिङ्गितं कण्ठपीठे । ।।३५।।
समुदियाय ततोऽभ्युदयं वह-
न्नुदयसिंहं महीहृदयेश्वरः
सहृदये हृदयं सदयं दधत्
समुदये द्विषतां तु तदन्यथा ।।३६।।
तेनस्तेनहृताकृता वसुमती
स्वर्णादिभिः संस्कृता
चातुर्वर्ण्य मिहोत्तमर्णमभवत्
संजातरूपश्रिया ।
येनैवोदयनाम चारुनगरम्
संवासितं वासवत् ।
इन्द्रास्यस्मयहारिचारूभगवत्
भूयो विहार श्रिया ।।३७।।
तत्पट्टस्पष्टपूर्वाशिखरिदिनकरश्चारू चापः प्रतापः
क्ष्मापः सन्तापकारी यवन जनपतेः भानुभास्वत्प्रतापः
दत्तानन्दः प्रदानामजनि सुरजनिः गीयमानः समानः
श्लोकालोकात्रलोकी सखलु धवयन् वीरकोटीरहीरः ।।३८।।
दानवाविनयदुर्नयजन्यम्
भूम्यजन्यपटलं विनिनीषुः
श्रीसहस्रनयनयोध्यवतीर्णो
मूर्तिमानगरसिंहो नृपोऽस्यात् ।।३९।।

सौन्दर्यं च तदेवदेवमवजम् ।।
दानादेरवदान नाप्युपनता
पूर्वैव सर्वोत्तमा ।।
तेजः सातिशयं विपक्ष विजय
व्याक्षोभदक्षाशयम् ।
तत्र त्रासितसात्रवेशभभजत्
भूमीपतौ भास्करे ।।४०।।
तदीय पट्टेऽजनि कर्णसिंहः
सकर्ण वर्णै रभिवर्णनीयः
रात्रिंदिवं यः त्रिदिवं पुपोष-
स्तोमप्रकाशैरसुर प्रणाशैः ।।४१।।

यद्विध्वस्तसमस्तदा रव ;:
गर्तच्छले धूलिभिः
छन्ने पुष्ट तयैव यौव भराद्
भूभामिनी निर्भयम्
सौभाग्येन चयत् प्रभात्र विभवैः
वासोबसानारूणम्
छेकानेकविवेकमेकनृपतिम्
भेजेतनेवोच्चकैः ।।४२.।

तत्पट्टे स्वर्णशैले त्रिदश तरूसमः
श्रीजगर्तसिंहभूपः
साम्राज्यं प्राज्यतेजाः वि ायन रुचिः
भुक्तवान् व्यक्तशक्तिः
यस्योद्दामप्रताप ज्वलन परिललज्ज्वालयास्तोद्ययाद्रीन् ।।
सम्पतौ तेन सूर्यःरक्त हीनरूचिरपि श्राम्यतो नो चिरेण।४३।।

येन स्वर्णतुलाविलासललितैः
दर्णोत्तामर्णश्रिया ।
स्वर्णं सर्वमरत्नरत्नराशिमिलितम्
दत्तं द्विजेभ्योभुवि ।
स्वर्णाद्रिप्रमदाददास्य तरयात्
सोऽयं न चेत् खेचरैः ।
अभ्यर्थेन्द्र पुरोहित प्रभृतिभिः
स्वार्थं समाधारयत ।।४४।।

यद्यद्राणपुरादितीर्थनियतं
राणैः पुराणैः पुरा।
दत्तं शासनमापृथ्वीशखपदैः
लुप्तं च तल्लुंपकैः
सर्वं धर्मधुरंधुरोद्धुरधिया
प्रादात् धराधीश्वरः
वंशाकाश विभाविभास्कररुचि,
श्रीमान् जगतसिंहजः ॥४५॥
आघाटे नरसिंहभूमि ।तिना
पूर्वं तपस्तप्यता
दत्तं यस्य सदावदातविरुदम्
श्रीमत्तपेत्याख्यया
सूरिः श्रीजगदादिचन्द्र भगवान्
निर्विक्रियः सक्रियो
धारेणोद्धरणं चकार चरणाचारैः
जगत्याश्चिरम् ॥४६॥
एतत्पट्टपरम्परा प्रणयिनी
भालस्थलालंकृतेः
सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः
धर्मोपदेशादसौ
राणः श्रीवरकाण राणकपुर
श्रीतीर्थयात्रार्धिनाम्
संघस्यानघ चेतसा समभुचत्
शुक्लानि शुक्लाशयः ॥४७॥
पिच्छिल्लोदयसागराख्यं सरसो
नीरेगंभीरे सदा
जालच्छेप निषेधमादिशदसौ
कारूण्यमुज्जीवयन्
तेनैतत्सरसोस्तटे पटुतरा
डिण्डीरपिण्डच्छलात्
कीर्तिस्फूर्तिमियर्ति सम्प्रति जगति
सिंहाज्याराणाम्भोः ॥४८॥
प्रतिसरच्छरदिन्दुयशारसा

हृयरत्नयजिननपूजनमञ्जरा
तपगणोधिपतेरूपदेशतः
तरणिमासुर राणशिरोमणिः ।।४९।।

धर्मस्योन्नयसधर्मं तनयः श्लोकप्रकाशेऽर्जुनो
भीमोदुर्धर वैरिवारण घटा कुंभस्थल स्फोटने
साम्राज्यं समबूभुजत् ससुचिरं विश्वप्रजारंजनो
राणः श्रेणिनभोमणि सुकृतकृत् श्रीमान् जगतसिंहराट् ।।५०।।

तत्पट्ट भूषामणिरामणीयकः
श्रीराजसिंह प्रभुरद्भुतप्रभः
जेजीयतेऽयं विजयश्रियान्वितः
श्रीराणसूर्यो महमा महीयसा ।।५१।।
गन्धसिन्धुरइवोद्धुरौजसा
म्लेच्छराजविटपि व्रजानहो
मूलतोयमुदमूलयत्ततः
कूर्चमेषु शुककन्दमूलिकाम् ।।५२।।
श्रुत्वास्यप्रथमं प्रयाणपटहं
दिग्दन्तिनः कम्पिताः
सूत्रामापि समापितखिलविधिः
त्रामादिवोत्तानहक्
दिल्लीशोऽपि विनश्यवेश्मिकुहरे
कुत्राप्यदृश्योऽभवत्
ज्येष्ठस्तत्तनयो भवादिवरयात्
पातालमेवाविशत् ।।५३।।
साम्राज्यं सुचिरं नयार्थरूचिरम्
श्रीराजसिंहः प्रभुः
राण-पालयता कृपालयतया
राभाभिरामः स्वयम् ।
धीरे श्रीजयसिंहदेवविलसत्
भीमादिभिः प्रोद्धुरैः
तेजोभिः भुवनाभि नन्दनगुण-
स्फारैः कुमारैः समय् ।।५४।।
आचन्द्रार्कमयं जयं सविजयम्
प्राप्नोतुशाखागणैः

वंशोऽनन्य समानमानवरतिः
व्याजात् सुपर्वाश्रयः
भूभृद्राजिशिरः प्रतिष्ठितपदः
छायाभिरामः स्वयम्
मुक्ताद्वैतविभूतिर्बधितरुचिः
तुंगश्रिया संभृतः ॥५५॥
नृपाणां श्रेणीय जयति विविधा
पाठ रचनैः
न कार्यो व्यामोहः तदिह निपुणैः
चेतसि मनाक् ।
समानां साम्राज्यैः परिगणनया
न्याय विदुषाम्
बहूनां भ्रातॄणामपि लिखन-
मासीदिह यतः ॥५६॥
क्वचित्तत्तत्कार्येरपरनिजपूर्वा
ह्वयवशात्
परावृत्तः पाठः क्वचिदपि
समासेन गणनात्
अगाधेऽस्मिन् नूनं जनन जलधौ
भूपतिमणीन्
असंख्यान् संख्यातुम प्रभवति
मनीषी कथमहो ॥५७॥
इतिश्रीमहोपाध्याय मेघविजयगणि समुचितः
श्रीराणभूमीशवंशः प्रकाशः
शुभम् भवता (

व्योमभूताङ्केन्द्रमितिवर्षे द्वितीयाषाढ़ मासे शुक्लेतरपक्षे सप्तम्यां तिथौ गुरुवासरे लिपिकृतम् मुनिमोहनविजयेन अजयमेरू दुर्गे

श्री पार्श्वनाथ प्रसादात् महं श्रीः ।

नाहटों की गुवाड़,
बीकानेर (राजस्थान)

● डॉ० ओमप्रकाश सक्सेना

कुंभनदास के कुछ अप्रकाशित पद

बम्बई की श्री फार्बस गुजराती सभा के हस्तलिखित ग्रन्थ के संग्रह की १३४ नं० की प्रति, डाही लक्ष्मी लायब्रेरी, नड़ियाद की ६-१५ नं० की प्रति तथा गुजरात विद्या सभा की २५४७ नं० व १०६१ नं० की प्रतियां विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन प्रतियों में अन्य कृष्ण भक्त कवियों के साथ-साथ वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवि 'कुंभनदास' के चार पद प्राप्त होते हैं जो अब तक प्रकाशित किसी भी काव्य-संग्रह में उपलब्ध नहीं होते हैं।

अष्टछाप के तीसरे रत्न कुंभनदास का जन्म सं० १५२५ वि० में गोवर्धन के निकटवर्ती जमुनावतो नामक ग्राम में हुआ था। कुंभनदास गोरवा क्षत्रिय थे। आरम्भ में ही काव्य रचना और संगीत की ओर इनकी रुचि थी। ये १५५६ वि० के लगभग महाप्रभु जी की शरण में आये। सं० १६०२ वि० में गो० विट्ठलनाथ ने अष्टछाप की स्थापना की और कुंभनदास को उसमें सम्मिलित किया। ये गायन में इतने कुशल थे कि एक बार सम्राट अकबर ने भी इनको अपने पास बुलाया था। कुंभनदास का निधन लगभग १६३९ वि० माना जाता है। जहां तक कुंभनदास के प्रकाशित पदों का सम्बन्ध है, उनके पद निम्नलिखित पद संग्रहों में प्राप्त होते हैं:

क. कुंभनदास (जीवनी, पद-संग्रह, भावार्थ) सं० श्री ब्रजभूषण शर्मा;

ख. कीर्तन संग्रह, (तीन भाग), अहमदाबाद

ग. अष्टछाप परिचय-सं० प्रभुदयाल मित्तल

कीर्तन संग्रह को छोड़कर उपर्युक्त 'क' संख्यक पुस्तक के संपादन, कांकरोली नाथद्वारा के हस्तलिखित सग्रहालय में सुरक्षित प्रतियों के आधार पर तथा 'ग' संख्यक पुस्तक के संपादन का आधार हिन्दी प्रतियां हैं। इन दोनों संग्रहों में गुजराती हस्तलिखित प्रतियों का कोई उपयोग नहीं लक्षित होता और न कहीं इसका उल्लेख ही हुआ है। केवल अहमदाबाद से प्रकाशित 'कीर्तन-संग्रह' में इस बात का निर्देश अवश्य है कि उसका सम्पादन गुजरात, काटियावाड, तथा व्रज से प्राप्त विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हुआ है। किन्तु उसमें कितना अंश गुजराती प्रतियों का है, यह सम्पादक के वक्तव्य से अथवा पदों के अध्ययन से स्पष्ट नहीं होता।

इन सभी संग्रहों में कुंभनदास के वे पद जो इन हस्तलिखित पद संग्रहों में हैं, नहीं प्राप्त होते। इसीलिए इन्हें अप्रकाशित कहा गया है। सम्भव है कि इन पदों में से कोई

पद अन्यत्र किसी अन्य पाठभेद से प्राप्त हो जाए, किन्तु इस रूप में ये पद अभी तक कहीं से भी प्रकाशित नहीं हुए हैं, ऐसी मेरी धारणा है। सभी प्रतियाँ अच्छी स्थिति में है किन्तु इन प्रतियों में आरम्भ से अन्त तक ध्यानपूर्वक देखने पर भी समय न ज्ञात हो सका, इसलिए यह कहना कठिन है कि प्रतियां किस समय की हैं। फिर भी प्रतियों की स्थिति और लिपि के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये प्रतियां १७ वीं और १८ वीं शती के मध्य की हैं।

कुंभनदास के अप्रकाशित पद गोवर्धन, गोदोहन, और हिंडोला लीलाओं पर आधारित हैं। ये सभी पद उत्सवपरक हैं। गोवर्धनलीला के पद में कृष्ण के रूप का प्रसंगवश कथन हुआ है। हिंडोला के पद में राधा-कृष्ण को गोपियों के द्वारा झुलाने का कथन हुआ है। आगे कुंभनदास के उन पदों को दिया जा रहा है[1]—

(१) ह० प्र० सं० २५४७ (गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद)

बादुर अंबर छायो देखां रे बादुर अंबर छायो।
एक अचानक नंदजी को ढोटा ताआ पर अंदर चढायो।
तब हरी ए एक बुध परकाशी कर गही राज उठायो।
गोरी गोपालण शरनागत राखे कुंभनदास जस गायो॥

(२) ह० प्र० सं० १०६१ (गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद)

श्री गोवरधन की ओर डिगर चलो।
मारग बीच मिले मोहन नागर नंद किशोर।
ढोर ढोर द्रुम वेली फूली कुंज कोकिला मोर।
कुंभनदास प्रभु गोबरधन धर रसिक राय सिरमोर॥

(३) ह० प्र० सं० ६-१५ (डाही लक्ष्मी लायब्रेरी, नडियाद)

मैया धेनु दुहत नंदरानी मैया
आसो वदगिया दसी दिन तुम गावत मंगल वानी।
न्वसत सजे सिंगार अनोवम आप करना मनमानी।
कुंभनदास लालन गिरिधर देखत हसत नंदरानी॥

---

१ 'गुजराती हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त मध्यकालीन हिन्दी पद साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' विषय पर लेखक ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सन् १९६७ में डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की है। प्रस्तुत लेख उसी शोध प्रबन्ध के आधार पर तैयार किया गया है।

—संपादक

(४) हृ० प्र० सं० १३४ (फार्बस गुजराती सभा, बम्बई)

झांझरिया झमक बाजै, झूले दोउ राज।
भुवन भुवन थे झुलावत आंई, सजी अपनी सब साज।
हरि को झुलावति मेरें सुर गावति, तजी सब मन की लाज।
कुंभनदास प्रभ यह विधि झूले, सब गोपिन सिरताज॥

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)

विमर्श

उपेन्द्रनाथ राय

क्या आर्य बाहर से नहीं आये ?

उग्र देशप्रेम के आवेश में इतिहास की सचाइयों को ठुकराने की चेष्टा हास्यास्पद ही नहीं, किसी भी राष्ट्र के लिए अनिष्टकर हो सकती है। दुर्भाग्यवश वर्तमान भारत में इतिहास को राजनैतिक उद्देश्यों से तोड़ने-मरोड़ने की कोशिशें हो रही हैं। भावुकतावश भी कुछ लोग सही बातें मनपसन्द न होने से मानना नहीं चाहते। इसी भावुकता का परिचय हमें श्री नीरजाकान्त चौधरी की पुस्तिका "भारत में आर्य बाहर से नहीं आये" मे मिलता है जिसका तृतीय संस्करण अभी हाल में मैंने पढ़ा। पुस्तिका में आर्य-अभियान की बात को पाश्चात्य विद्वानों की दुर्भावनापूर्ण गढ़न्त कहा गया है और स्वा० विवेकानन्द का मत (जो सिर्फ मत ही है और जिसमें कोई तर्क नहीं रखे गये हैं) उद्धृत करके आशा की गयी है कि लोग आर्यों के बाहर से आने की बात को कल्पना मात्र मान लेंगे। भावुकता को अलग रख हमे देखना चाहिए कि आर्यों के बाहर से आने की बात का खण्डन करने के लिए श्री चौधरी के तर्क क्या हैं और हम उनसे सहमत हो सकते हैं या नहीं।

उनका सबसे जोरदार प्रमाण मेगास्थनीज का उद्धरण है। "........ मेगास्थनीज ने लिखा है कि समस्त भारत एक विराट देश है और उसमें बहुत से विभिन्न जाति के लोग बसते हैं। इनमें एक भी आदमी मूलत: विदेशी वंशोत्पन्न नहीं है। स्पष्ट जान पड़ता है कि सभी भारत के आदिम अधिवासियों के वंशधर हैं। इसके अतिरिक्त भारत में कभी विदेशियों का कोई उपनिवेश स्थापित नहीं हुआ और न भारत ने कभी विदेश में किसी देश में जाकर उपनिवेश स्थापित किया" (दे० 'भारत में आर्य बाहर से नहीं आये", पृ० ५)। श्री चौधरी के अनुसार "मेगास्थनीज एक उच्चपदस्थ, निरक्षेप, अभिज्ञ और बुद्धिमान् पुरुष थे। उनकी बात उड़ा देने योग्य नहीं हो सकती" (वही, पृ० ६)। अतः आर्यों के बाहर से आने की बात गलत है।

मेगास्थनीज की पुस्तक अब अप्राप्य है और दूसरे लेखकों के उद्धरणों से जो कुछ हम पाते हैं वह सचमुच मेगास्थनीज की अपनी चीज नहीं भी हो सकती। यदि मान भी

लें उसके नाम पर लिखी गयी बातें उसीकी कलम से निकली थीं तो भी उसके कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं, क्योंकि उसकी भ्रान्तियों अथवा गप्पों से हम अपरिचित नहीं। भारतीय देवता हेराक्लीज के बारे में वह लिखता है कि उसके अनेक विवाह हुए थे, अनेक पुत्र और कन्याएं थीं। एक कन्या का नाम पांडिया (Pandea) था। वह जहां पैदा हुई और जहां का राज्य उसने पाया वह देश भी पांडिया कहलाया। हेराक्लीज ने उसे ५०० हाथी, ४००० घोड़े, १३०००० पैदल सिपाही दिये थे। अपना अन्त निकट जानकार और उसके योग्य वर न देखकर हेराक्लीज ने स्वयं उससे ब्याह कर लिया और यद्यपि वह केवल सात वर्ष की थी, आश्चर्यजनक रूप से उसे प्रौढ़ बनाकर उससे सन्तान पैदा की। तबसे उस पांडिया राज्य की स्त्रियों में यह गुण पाया जाता है कि सात साल की उम्र में ही जवान और गर्भधारण के योग्य हो जाती हैं (दे० कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, प्रथम खंड, प्रथम भारतीय संस्करण, पृ० ३६७)। भारत के कौन से देवता के बारे में इसे लागू किया जायगा ? भारत के किस राज्य में सात वर्ष की लड़कियां गर्भधारण करती हैं या करती थीं ?

श्री चौधरी के पास इन आवश्यक और प्रासंगिक प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं। फिर भी मेगास्थनीज पर उन्हें इतना भरोसा है कि उन्होंने लिख दिया है कि "आज से प्राय: २३०० वर्ष पूर्व भारत······सभी यही बात जानते और मानते थे कि प्रत्येक भारतवासी भारत के आदिम अधिवासी का वंशज है" (पृ० ६)। निवेदन है, जी नहीं, "सभी" यही जानते–मानते रहे हों ऐसा कहा नहीं जा सकता बल्कि इतना ही कहा जा सकता है कि मेगास्थनीज का जिनसे परिचय हुआ था, उनको बाहर से किसी जाति के आने का पता नहीं था। पता न होने का कारण यह भी हो सकता है कि वे अधिक शिक्षित या इतिहासज्ञ न रहे होंगे। फिर मेगास्थनीज के कथन की शुरुआत हुई है 'It is said" (कहा जाता है) से अर्थात् जो बातें वह लिख रहा है, सिर्फ सुनी–सुनाई हैं और उनकी प्रामाणिकता पर उसे खुद भरोसा नहीं है।

मेगास्थनीज के आधार पर यह कहना तो और भी हास्यास्पद है कि बाहर की किसी जाति ने कभी भारत में उपनिवेश स्थापित नहीं किया। मेगास्थनीज के थोड़े पहले ही भारत की सरहद पर यूनानी और उनसे पूर्व ईरानी उपनिवेश स्थापित हुए थे। इसीलिए बाद में अशोक को अपनी धर्मलिपियों में ग्रीक और आरामाइक लिपि का प्रयोग करना पड़ा। इतनी ताजी घटना को भूल जाने वाले लेखक का क्या भरोसा ? इसके सिवा मग ब्राह्मणों के शाकद्वीप से भारत में बाहर बसने का उल्लेख भविष्यपुराण में मिलता है, क्या उसे भी मेगास्थनीज की दुहाई देकर झुठला दिया जायगा ? सुमंगलविलासिनी, पपञ्चसूदनी और दिव्यावदान जैसे बौद्ध ग्रन्थों में मान्धाता की दिग्विजय के प्रसंग में लिखा है कि उसके समय में पूर्व, पश्चिम और उत्तर में अवस्थित पुब्बविदेह, अपरगोयान और उत्तर कुरु के लोग भारत में आकर बस गये और उनके नाम पर भारत के पूर्व, पश्चिम व उत्तर के

तीन प्रदेशों के नाम विदेह राष्ट्र, अपरान्त राष्ट्र और कुरु राष्ट्र हो गये (डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ६६)। मान्धाता को प्रथम कल्प में विद्यमान कहा गया है। क्या यह अति प्राचीन काल में भारत में विदेशी जातियों के आने की स्मृति नहीं है? क्या पुराण और बौद्ध ग्रन्थ आज-कल के रचे ग्रन्थ और पाश्चात्यों की कल्पना हैं?

भारत के सरहदी इलाकों में विदेशी जातियाँ इतनी बार और इतने प्राचीन काल से आकर बसती रही है कि स्मरण रखना कठिन है। सिकन्दर के हमले के समय भी हिन्दूकुश के नीशा (Nysa) नामक शहर के निवासी अपने को ग्रीक देवता डायोनिसस की सन्तान बताते थे। ग्रीक कथाओं में नीशा डायोनिसस की धात्री, जन्मस्थान या पवित्र पहाड़ का नाम बताया गया है। पुनः डायोनिसस की उत्पत्ति जियस (Zeus) देवता की जाँघ से कही गयी है और जाँघ के लिए ग्रीक शब्द है मेरोम् और यहाँ मेरु नाम की एक पहाड़ी चोटी वर्तमान थी (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ३१७)। सिकन्दर की सेना इन बातों से चकित रह गयी थी, क्योंकि इसकी धारणा थी कि भारत की ओर उसने ही पहली बार कदम बढ़ाये हैं।

"भारत ने कभी भी दूसरे देश में उपनिवेश स्थापन नहीं किया" यह कथन भी तीन कारणों से स्वीकार्य नहीं। प्रथमतः मनुस्मृति, महाभारत और पुराणों में यवन, शक, कम्बोज आदि क्षत्रिय जातियों के म्लेच्छ या वृषल हो जाने का कारण "ब्राह्मणों को न देखना" बताया गया है। भारत में रहते ब्राह्मणों का अदर्शन कैसे सम्भव है? अतः कतिपय जातियों का विदेशों में जाकर बस जाना मानना ही होगा। दूसरी बात पुराणों में राजा प्रियव्रत द्वारा पृथ्वी के सात द्वीप सात पुत्रों में बाँटे जाने का वर्णन है। इसी प्रकार आग्नीध्र ने अपने नौ पुत्रों में अपना राज्य बाँट दिया जिसका एक खण्ड बाद में भारतवर्ष कहलाया। इससे स्पष्ट है कि प्रियव्रत के अधिकांश वंशधर भारत के बाहर राज्य करते थे। फिर कैसे कह सकते हैं कि दूसरे देश में उपनिवेश स्थापित नहीं हुए? भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग पर्व के अनुसार भारतीय ब्राह्मण मिश्र देश में भी गये थे। इन तीन बातों के अलावा यदु के पुत्रों के प्रत्यन्त देशों में जाकर म्लेच्छ हो जाने की बात भी पुराणों में दुर्लभ नहीं है और उसका भी कुछ अर्थ होगा ही।

मेगास्थनीज की अपेक्षा सोसन, अरस्तू और सोली के क्लियार्कस को विद्या-बुद्धि की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक मान सकते हैं। इन तीनों का कहना है कि भारत के योगी (जिम्नोसोफिस्ट) मगी लोगों के वंशज थे। मगी लोग मीडियन जाति के छः कबीलों में से एक थे। उत्तर के कवि और करपन लोगों द्वारा राज्यच्युत होकर इनमें से कुछ भारत में आकर पूर्व की नदी घाटियों में बस गये थे। इन तीनों के विश्वसनीय साक्ष्य के आधार पर नगेन्द्रनाथ घोष का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि गङ्गा के अनूप

देश में वैदिक आर्य और मगी संस्कृति का संगम हुआ था और उपनिषद् एवं पुराण उसी के फल है।

श्री चौधरी का एक तर्क यह भी है कि आर्य यदि बाहर से आये होते तो स्मृतिशक्ति प्रबल होने के कारण मेगास्थनीज के समय तक यह बात वे भूल न जाते। उत्तर में निवेदन है कि यदि सभी भूल गये होते तो इसकी धुँधली याद भी पुराणों या बौद्ध-साहित्य में न मिल पाती जो कि मिल रही है। इस सिलसिले में कुछ असंगत बातें भी श्री चौधरी ने लिख डाली हैं यथा, "किसी पुरुष को असवर्णा भार्या न रखने का नियम था" (पृ० ८)। वसिष्ठ, अगस्त्य, जमदग्नि, रैक्व आदि कितने ही मुनियों ने असवर्ण भार्याएँ ग्रहण की थीं। संस्कृत साहित्य से अपरिचित लोग ही ऐसा लिख सकते हैं। असवर्ण स्त्रियाँ भी सहधर्मिणी हो सकती थीं। यज्ञ के लिए अग्निमन्थन का कार्य ब्राह्मण की सवर्ण स्त्री के अभाव में असवर्ण भार्या भी कर सकती थी (कात्यायन संहिता ८।६)। विष्णु संहिता में धर्मकार्य में सवर्ण भार्या को उत्तम कहा गया है पर न हो तो ठीक बाद वाले वर्ण की पत्नी के साथ उक्त कार्य करने का विधान है (२६।१—३)। लाट्यायनीय श्रौतसूत्र (६।२।५—७) और द्राह्यायण श्रौतसूत्र से स्पष्ट है कि दशपेय याग जैसे वैदिक यज्ञों के पुरोहित की माता-पितामही आदि ब्राह्मणेतर वर्ण की कन्याएँ भी हुआ करती थीं। अतः श्री चौधरी की अप्रासंगिक घोषणा आधारहीन है।

बंगाल के घटक (ब्याह कराने वाले) ब्राह्मणों द्वारा रखी जाने वाली वंशावली और शाखोधार का हवाला देना भी व्यर्थ है। बंगाल के इतिहासकारों ने घटकों की वंशावलियों को प्रामाणिक मानना स्वीकार नहीं किया है। विवाह के अवसर पर होने वाला शाखोच्चार भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं होता, न सर्वत्र इसमें चौदह या अधिक पीढ़ियों के नाम वर्णित होते हैं, न यही कहा जा सकता है कि यह प्रथा चिरकाल से प्रचलित है। यदि यह प्रथा चिरकाल से चली आ रही थी तो क्या कारण है कि जबाला सत्यकाम को उसका गोत्र तक नहीं बता सकी ? छान्दोग्योपनिषद् (४।४ २) के शाङ्करभाष्य का कहना है कि "परिचर्या में चित्त लगा रहने के कारण गोत्रादि को" वह भूल गयी थी और पति का देहान्त हो गया तो जानने का कोई उपाय नहीं रहा। जब घर-गृहस्थी में या अतिथि सेवा में गोत्र का नाम भूल जाना सम्भव है, तब दस—बारह सौ वर्ष या और भी पहले की बात भूल जाना और भी सहज है। भूलने वाली जबाला शायद अकेली न थी, उसके पति और पिता के पक्ष वाले भी शायद भूल गये थे कि उसके पति का क्या गोत्र था ? पता नहीं घटक ब्राह्मणों की वंशावली और शाखोधार करने वाले पुरोहितों के पोथी-पत्र कहां थे उस समय ? यहूदियों का उदाहरण भी श्री चौधरी ने ठीक नहीं दिया। पैलेस्टाइन से निकाले जाने के पूर्व यहूदियों का एक धर्म था, एक उन्नत साहित्य था, एक ऊंची संस्कृति थी। इसके विपरीत भारत में आने से पहले आर्यों को लिपि का ज्ञान तक न था। ऐसे लोग अपनी जन्म भूमि को भूल जायें तो आश्चर्य ही क्या है ?

परन्तु आर्य बाहर से आने की बात भूल गये हों, ऐसी बात नहीं। धुंधली याद बराबर बनी रही है। स्वर्ग की भारत से बढ़कर प्रशंसा पुराणों में की गयी है और वह काल्पनिक नहीं, इस भूमण्डल पर प्रतिष्ठित है। मेरु के पास स्थित इलावृतवर्ष ही स्वर्ग है (ब्रह्माण्ड पुराण ३६।३६; वायु० ३४ ९६–९७)। देवों–असुरों की वास भूमि यही है, देवों के यज्ञ–विवाहादि कार्य यहीं हुआ करते थे (मत्स्य० १३५।३४)। ये देवता आर्यों के पूर्व पुरुष ही हैं, यह बात वायु-पुराण (९२।२१) से स्पष्ट हो जाती है:—

ऋषीणां देवताः पुत्राः पितरो देवसूनवः ।
ऋषयो देवपुत्राश्च इति शास्त्रविनिश्चयः ॥

अर्थात् "ऋषियों के पुत्र देवता हैं, देवों के पुत्र पितर हैं और ऋषिगण देवों के पुत्र हैं ऐसा शास्त्र का निश्चय है।" इस श्लोक का अर्थ यही है कि इलावृत के निवासी देवों के पूर्वज भी ऋषि हो चुके हैं। इन देवों की सन्तान थे पितर अर्थात् भारत में आकर बसने वाले आर्य और भारतवासी आर्यों में जो ऋषि हुए, वे देवों की ही सन्तान थे। "ऋषियों के पुत्र देवता" और "देवों के पुत्र ऋषि" इस तरह के विचित्र कथन का उद्देश्य पुराने (इलावृतवर्ष के) और नए (भारतवासी) ऋषियों का पार्थक्य दिखाना ही है, जिसका इंगित वेदमन्त्रों में भी मिलता है। जैसे ऋग्वेद (१।१।१।२) में कहा गया है कि अग्नि पुराने ऋषियों द्वारा भी वन्दित है और नये ऋषियों द्वारा भी। अतः इलावृतवर्ष मध्य एशिया हो या कहीं और, आर्यों की आदि भूमि वही है और आर्यों का बाहर से आना संस्कृत साहित्य से प्रमाणित है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता ३००० ई० पू० से ज्यादा पुरानी नहीं है, कार्बन डेटिंग प्रणाली से यह सिद्ध हो चुका है। मगर इससे पुरानी भी होती तो आर्यों का भारत में आने का समय २५०० ई० पू० के लगभग मानने में क्या असुविधा थी ? बलोचिस्तान, मध्यभारत अथवा गुजरात में भी वैसे ही ध्वंस वशेषों के मिलने से 'सिन्धुघाटी की सभ्यता' नाम भले ही गलत ठहरे, पर इससे उक्त सभ्यता वैदिक नहीं सिद्ध होती, यद्यपि चौधरीजी कुछ ऐसी ही धारणावश जरुरत से ज्यादा आनन्दित हो उठे हैं।

सिन्धु सभ्यता को आर्य सभ्यता सिद्ध करने की चेष्टा में श्री चौधरी मुख्यतः पांच बातों पर निर्भर करते हैं। इनमें से एक यह है कि मोहनजोदड़ो के किसी चित्र में शायद एक वृक्ष की शाखा पर दो पक्षी बैठे दिखाये गये हैं; एक के मुंह के पास फल है, दूसरे के पास नहीं। उनके मत में यह 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० १ १६४) मन्त्र का द्योतक है। यदि सूचना सत्य है तो मेल जरुर है, पर ऐसे चित्र के बनाने के लिए आवश्यक नहीं कि वेदमन्त्र या वैदिक दर्शन का ज्ञान हो। वृक्ष, फल और पक्षी का ज्ञान जिसे है, वह चित्रकार ऐसे चित्र यों भी बना सकता है। इसी प्रकार एक दूसरे चित्र में श्मशान का दृश्य बताकर

परन्तु शिवलिङ्ग शिश्न का ही प्रतीक है, इसके भूरि-भूरि प्रमाण मिलते हैं। शिवपुराण की वायु संहिता (२७।१३) में कहा गया है—"लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गम् साक्षान्महेश्वरः" अर्थात् लिङ्गवेदी महादेवी हैं और लिङ्ग साक्षात् महेश्वर। महाभारत में तो स्पष्ट रूप से प्रश्न ही किया गया है कि ऐसा दूसरा कौन है जिसके लिङ्ग की पूजा सभी देवों ने की हो या करते हों:—

न शुश्रुम यदन्यस्य लिङ्गमभ्यर्चितं सुरैः ।।
कस्यान्यस्य सुरैः सर्वैर्लिङ्गं मुक्त्वा महेश्वरम् ।
अर्च्यतेऽर्चित पूर्वं वा ब्रूहि यद्यस्ति ते श्रुतिः ।।१३।१४।२३०-३१

यही नहीं, महाभारत कहता है कि प्राणियों में पद्म, चक्र या वज्र के चिह्न नहीं, बल्कि लिङ्ग और भग के चिह्न ही मिलते हैं अतः सारी प्रजा माहेश्वरी सृष्टि है:—

न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः ।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजाः ।। १३।१४।२३

ये बातें लिङ्ग पूजा के समर्थन में लिखी गयी हैं, उसकी निन्दा के लिए नहीं। अतः इन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि विष्णु का 'चरणामृत' बंटता है और लोग उसे पीते हैं, शिवलिङ्ग का धोवन नहीं बंटता और न उसे माथे पर चढ़ाकर पिया ही जाता है। क्या यह अकारण है? पुराणों में भृगु के शाप से शिवलिङ्ग के गिर जाने और उसे लिङ्ग के पूजित होने की कहानी भी क्या अर्थहीन है?

शिवलिङ्ग के ज्योतिर्लिङ्ग कहे जाने के आधार पर कुछ लोग इसे दीपशिखा का, शुभ संकल्प का प्रतीक बतलाना चाहते हैं। यह चेष्टा भी बेकार है क्योंकि सभी शिवलिङ्ग ज्योतिर्लिङ्ग नहीं कहे जाते, ज्योतिर्लिङ्ग की संख्या निश्चित् है। इसके सिवा शिवपुराण के अनुसार ब्रह्मा और विष्णु में कौन बड़ा है, इस पर विवाद छिड़ने पर शिव ने ज्योतिस्तम्भ जैसा विराट लिङ्ग प्रकाशित किया था और उसका अन्त कहां है यह खोजने के लिए ब्रह्मा हंस बनकर ऊपर को उड़े थे और विष्णु वराह बनकर नीचे की ओर दौड़े थे, किन्तु दोनों को हार माननी पड़ी थी (धर्मसंहिता, १०।१६-२१)। इस कथा के आधार पर ही ज्योतिर्लिङ्ग स्थापित हुए हैं। पुनः संस्कृत में वीर्य और अग्नि के पर्यायवाची शब्द प्रायः समान हैं तथा वीर्य को अग्निरूप माना जाता है। इस सम्बन्ध के कारण लिङ्ग का अग्निपुंज या दीपशिखा अथवा ज्योति से मिला दिया जाना स्वाभाविक है।

आदिवासियों में इस समय शिवलिङ्ग या शिवपूजा मिलती है या नहीं, जानकारी के अभाव में इसके बारे में मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। परन्तु वर्तमानकाल में इसका न मिलना

यह सिद्ध नहीं करता कि प्राचीनकाल में इसका प्रचार उनमें नहीं था। इस सम्भावना को भी तो देखना होगा कि जिस इलाके में, जिन जातियों में इसका प्रचलन था, वहां उन जातियों का स्वतन्त्र अस्तित्व ही न रह गया हो, वे हिन्दुओं में घुल-मिल गयी हों। आदिम अवस्था पार कर बहुत सी जातियां अब ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बन गयी हैं।

वेद के 'शिश्नदेवाः' का अर्थ यदि सायण ने 'अब्रह्मचर्याः' (काम-परायण) कर दिया और म्यूर ने लिख दिया कि इस शब्द से अवैदिकों में लिङ्गोपासना सिद्ध नहीं होती, तो कोई कारण नहीं कि हम भी आंखें मूंदकर उनकी बातें मान लें। शैवमत और लिङ्ग पूजा के समर्थक होने के कारण ही सायण आदि भाष्यकार "शिश्नदेवाः" के अर्थ में खींचतान करते हैं। इस खींचतान का एक नमूना ऊपर सत्यकाम-जाबाल के प्रसंग में शङ्कराचार्य के भाष्य में देख आये हैं। पुरानी प्रथा के अनुसार जाबाला को अविवाहित अवस्था में बहुत से अतिथियों की सेवा करनी पड़ी थी और सेवा करते करते ही यौवन में वह माँ बन गयी थी। परिवर्तित अवस्था में इस सचाई को मानने में हिचकिचाने के कारण ही जाबाला को दासी बताना पड़ा, व्यस्ततावश गोत्र भूल जाने और उसके पति का देहान्त हो जाने आदि की विचित्र कल्पनाएं करनी पड़ीं। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में शूद्र राजा जानश्रुति पौत्रायण के रैक्व के पास जाकर ब्रह्मविद्या सीखने के प्रसंग में शङ्कराचार्य समेत सभी भाष्यकारों को खींचतान कर यह सिद्ध करने की कोशिश करनी पड़ी है कि जानश्रुति पौत्रायण जाति से शूद्र नहीं था, क्योंकि उनके युग में शूद्र विद्याधिकार से वंचित हो चुके थे। ऐसी हालत में वैदिक समाज में लिङ्ग पूजा गृहीत हो जाने के काफी बाद लिखे गये भाष्यों में 'शिश्नदेवाः' का अर्थ बदल दिया जावे, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

खींचतान को छोड़ सीधा अर्थ ही ग्रहण करना उचित है। वैदिक साहित्य के 'मातृदेव' 'पितृदेव', 'आचार्यदेव', 'अतिथिदेव' आदि शब्दों का अर्थ होता है माता, पिता, आचार्य या अतिथि में श्रद्धा रखने वाला, उन्हें देव मानने वाला। उसी तरह 'शिश्नदेव' का भी सीधा अर्थ है 'शिश्न देव है जिसका' अर्थात् शिश्न में श्रद्धा रखने वाला, शिश्न की उपासना करने वाला। वेद में सर्वत्र 'शिश्नदेवाः' इस बहुवचन का प्रयोग लिङ्गपूजकों के एक सम्प्रदाय का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। शिश्नदेवों से सम्बन्धित मन्त्र इनका वेद विरोधी सम्प्रदाय होना सिद्ध कर देते हैं। यथा, इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि "हे इन्द्र ! ये यातव हम तक न पहुंचने पावें। इन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दें। हे आर्य ! इन शिश्नदेवों से हमारे यज्ञों की रक्षा करो, ये हमारे यज्ञ-कार्यों और यज्ञ-सामग्री को न छूने पावें' (ऋ० ७।२१ ५)। दूसरी जगह कहा गया है कि 'हे इन्द्र ! शिश्नदेवों के गढ़ को आप जीतें" (ऋ० १०।१०।९३)। काम-परायण लोग यज्ञ में बाधा डालने क्यों जावेंगे और वे बाकी लोगों से अलग होकर कहीं किले बनाकर रहेंगे, यह भी कहाँ की बुद्धिसंगत कल्पना है ?

शिव वैदिक देवता नहीं है और लिङ्ग पूजा भी अवैदिक है। 'शिश्नदेवों' के उक्त उल्लेख से ही नहीं, दूसरे साक्ष्यों से भी यह सिद्ध है। शिव यदि वैदिक देवता होते तो उनके पुजारियों को समाज में निम्न स्थान न मिलता। शिव-मन्दिर के पूजक तपोधन गण गुजरात में अत्यन्त हीन समझे जाते हैं। दक्षिण के शिवनम्बी शिव मन्दिर के पुजारी होने के कारण ही अन्यान्य ब्राह्मणों से बहिष्कृत हैं। स्मार्त सम्प्रदाय के शिव मन्दिर के पुजारी भी समाज में हीन हो गये है। मद्रास के गुरुक्कुल ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो चुके हैं। शिवपूजक देवांग स्वयं यजन-याजन करते हैं यद्यपि उनकी प्रधान जीविका कपड़ा-बुनना है। उनका भी ब्राह्मणत्व का दावा नामंजूर हो चुका है। मुस्साद संस्कृत के गहरे विद्वान् और आचार-विचार में नम्बूद्री ब्राह्मणों जैसे होते हुए भी पतित हैं और पतन का कारण द्वापर मे शिव का निर्माल्य या शिव का प्रसाद खाना बताया जाता है। विष्णु या विष्णु के अवतारों की पूजा करने से अथवा उनका प्रसाद खाने से कभी, कहीं, किसी का पतन नहीं सुना गया। इस अन्तर का क्या कारण है यदि शिव अवैदिक देवता नहीं ?

दूसरी बात वेदों में कहीं भी न तो लिङ्ग पूजा का वर्णन है, न शिव के लिए अलग कोई मन्त्र है। पुराणों में शिव के वासस्थान, उनकी सवारी, उनकी ससुराल, उनकी पत्नियों, बेटों, पुत्रवधुओं, गणों सबके विवरण है। वेदों में ऐसा क्यों नहीं ? वेद के रुद्र से शिव को मिलाने की चेष्टा परवर्तीकाल में हुई अवश्य है, पर मूलत: दोनों भिन्न हैं। वेदमन्त्रों से स्पष्ट है कि रुद्र अग्नि का ही दूसरा नाम है। निरुक्तकार का मत है- 'अग्निरपि रुद्र उच्यते।" ब्राह्मण-ग्रन्थों मे कहा गया है-"अग्निर्वै रुद्रः" (ऐतरेय ब्रा० ५।१।३।४; शतपथ ब्रा० ६।१।३।१०)। वेदों में यत्र-तत्र प्राप्त 'शिव' शब्द रुद्र आदि वैदिक देवों के लिए ही विशेषण रूप में आया है। अथर्ववेद (१३।६।९) का महादेव अग्नि का विशेषण है। पशुपति या योगीश्वर की कल्पना से वैदिक रुद्र का पार्थक्य इतना स्पष्ट है कि दोनों को एक नहीं माना जा सकता।

तीसरी बात महाभारत और पुराणों में दक्षयज्ञ के विध्वंस की कथा प्रसिद्ध है। यज्ञ का विध्वंस करना दैत्यों दानवों, असुरों, राक्षसों, पिशाचों आदि का काम कहा गया है। यह ध्यान देने की बात है कि पुराणों मे वर्णित शिव के प्रिय भक्त अधिकांश असुर आदि ही है। यह कुछ आकस्मिक बात नहीं हो सकती। किन्तु दक्ष के यज्ञ में शिव को भाग न मिलना, उनके अवैदिक होने का स्पष्ट प्रमाण है। शिव को यज्ञ भाग देना अस्वीकार करते हुए दक्ष ने स्पष्ट कहा है:—

> सन्ति मे बहवो रुद्रा' शूलहस्ताः कपर्दिनः।
> एकादशस्थानगताः नाहं वेद्मि महेश्वरम् ॥
>
> महाभारत १२।२८४।२०

अर्थात् कपर्दी और शूलधारी ग्यारह स्थानों में वर्तमान मेरे बहुत से रुद्र हैं, इस महेश्वर को मैं नहीं जानता। इससे स्पष्ट है कि वेद सम्मत ग्यारह रुद्रों से दक्षयज्ञ का

विध्वंस करने वाले शिव भिन्न हैं और वे अवैदिक हैं। दक्ष के कटे सिर की जगह बकरे का सिर लगाये जाने और उसके बाद उसकी स्तुति से शिव के अत्यन्त प्रसन्न होने की कथा में भी इसका इंगित है। शिवपूजकों से सन्धि करने के लिए कट्टर वैदिकों को बाध्य होना पड़ा होगा और यह समझौता किसी प्रभावशाली अवैदिक गण 'अज' की मध्यस्थता से ही हुआ होगा। यहां उल्लेखनीय है कि श्रीमद्भागवत में भारतवर्ष का पुराना नाम अजनाभवर्ष कहा गया है जो इस अजनाभ के मानवगण के नाम पर पड़ा होगा।

चौथी बात, अग्निचयन में रुद्र सम्बन्धी कार्य के समाप्त होने पर प्रोक्षण करके सत्र शुद्ध किया जाता है और त्र्यम्बकेष्टि में रुद्र को बाहर सुदूर देशों में उत्तर दिशा की ओर पहुंचाकर शुद्धि की विधि की जाती है। शुद्धि की आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी, यदि कुछ 'अशुद्ध', 'अनार्य' अंश का मिश्रण न हो गया हो? यह अशुद्ध अनार्य अंश है रुद्र के साथ अवैदिक शिव का मिश्रण। इस अनार्य संसर्ग का ही फल यह भी है कि आजकल शिवार्चन के नाम पर शतरुद्री का पाठ होता है।

पांचवी बात, शिव की दारुवन लीला भी शिव के अवैदिक देवता होने की पुष्टि करती है। शिवपुराण की धर्मसंहिता के दसवें अध्याय में लिखा है कि देवदारुवन में शिव नंगे होकर विहार करने लगे, काममोहित होकर मुनि-पत्नियां नाना प्रकार की अश्लील चेष्टाएं करने लगी और शिव ने भी उनकी अभिलाषा पूरी की। मुनिगण कामार्त्ता पत्नियों को संभालने में असफल रहे। उन्होंने शिव पर प्रहार किये और भृगु के शाप देकर शिव का लिंग भूमि पर गिर दिया। भृगु के विरोध के होते हुए भी अन्ततः मुनियों को शिव-लिङ्ग की पूजा करने को विवश होना पड़ा। इससे मिलती-जुलती कथा वामन, कूर्म, लिङ्ग, स्कन्द और वायु तथा पद्म पुराणों में भी मिलती है। मुनि पत्नियों की कामातुरता, शिव के साथ उनके अनाचार शिव के लिङ्ग के शापवश गिरने और अन्ततः पूजित होने की बात सभी पुराणों में समान है। प्रश्न उठता है क्या सचमुच मुनि-पत्नियां अनाचारिणी थीं? क्या सचमुच स्त्रियों ने ही भूपतित शिवलिंग की पूजा पर जोर दिया और उन्हीं के दबाव से मुनि लिङ्गपूजा करने को बाध्य हुए? इस कथा की अश्लीलता और दुर्बोधता दूर हो जायगी, यदि हम मान लें कि मुनि-पत्नियां आर्यों की वे स्त्रियां थीं जो अनार्य कुलों से आयी थीं। ये अपने पितृकुल के देवता शिव के प्रति, लिङ्ग पूजा के प्रति अपनी श्रद्धा छोड़ने को तैयार नहीं थीं और वैदिकों के विरोध के बावजूद वे अन्त में जीत गयीं। मुनि-पत्नियों की शिवभक्ति को पुराणकारों की कुरुचि ने उनकी चरित्रहीनता और अनाचार का रूप दे दिया है और लिङ्ग के भूपतित होने की ऊटपटांग बात लिख दी है। परन्तु विकृत रूप में भी भृगु जैसे कट्टरपंथी वैदिकों द्वारा शिवोपासना और लिङ्ग पूजा के विरोध और मुनि-पत्नियों द्वारा इसके प्रचार की ऐतिहासिक स्मृति बनी ही रह गयी है।

विजित असभ्य जाति की अश्लील उपासना आर्य ग्रहण नहीं कर सकते थे, इस कथन में दो बातें मान ली जाती हैं। एक तो यह कि अनार्य असभ्य थे, जिसकी असत्यता पुरातत्व

सिद्ध कर चुका है और करता जा रहा है। दूसरी बात यह कि सभ्य जाति अश्लीलता से दूर रहती है और आर्य भी अश्लीलता से दूर रहते हैं परन्तु सभ्यता की कसौटी जो भी मानें अश्लीलता का पूर्ण वर्जन किसी भी समाज में सम्भव नहीं। हमारे यहां विवाह आदि के अवसर पर खुलेआम अश्लील गीत स्त्रियां क्या नहीं गाती? अश्लील पुस्तकों की बिक्री भारत में भी कम नहीं, यूरोप और अमेरिका में भी कम नहीं। वेदों के कुछ मन्त्र और अश्वमेध आदि यज्ञों की कुछ क्रियाएं बेहद अश्लील हैं। लिङ्ग या भग की उपासना उन क्रियाओं से ज्यादा अश्लील हरगिज नहीं कही जा सकती। अरूचिकर होने के कारण ही वैदिक अश्लीलता के उदाहरण यहां नहीं दे रहा हूं, यों दिये अनेक जा सकते हैं।

सिन्धु उपत्यका से प्राप्त स्त्री-मूर्तियों के आधार पर इतिहासकार उक्त सभ्यता को अवैदिक बताते हैं। इसके विरोध में श्री चौधरी दो तरह की दलीलें रखते हैं। उनकी पहली दलील यह है कि आर्य द्विजाति दैनिक नित्यकर्म में महादेवी गायत्री की उपासना करते हैं अतः देवीपूजा अनार्यों की देन नहीं हो सकती। उनकी दूसरी दलील है कि चूंकि ये स्त्री-मूर्तियां छोटी और कुगठित हैं, इनमें कला चातुरी नहीं, कोई अलौकिक दिव्य लक्षण नहीं, अतः इन्हें देवी-मूर्तियां नहीं माना जा सकता, बल्कि ये बच्चों के खेलने की पुतलियां हैं।

दोनों बातें भ्रान्तिपूर्ण हैं। गायत्री किसी देवी का नाम नहीं, एक छन्द का नाम है जिसमें सवितृ देव का प्रसिद्ध वैदिक मन्त्र रचा गया है। गायत्री को माता कहना कब से प्रचलित हुआ, यह एक विचारणीय विषय है। अनार्यों की मातृ भक्ति की यह नकल भी हो सकती है। फिर भी गायत्री के हाथ-मुँह, नाक-कान, नेहर-पीहर और सवारी का वर्णन किसी ग्रन्थ में नहीं किया गया है, न उनकी कोई मूर्ति बनी है, न कहीं उनका मन्दिर देखने को मिला है। फिर कैसे मान लें कि देवी पूजा आर्यों की चीज है? देवी-पूजा अवैदिक न होती तो मनु देवी की, ग्रामदेवता की पूजा का निषेध करके इनके पूजने वालों को पतित क्यों कह डालते (३। १५२; ३। १८०)? भारत के पूर्वी हिस्से को छोड़ प्रायः सर्वत्र देवी की पूजा करने वाली जातियों (इरालिगा, मादिगा, कानिकर आदि) की सामाजिक स्थिति हीन क्यों है?

यह दलील भी जोरदार नहीं कि पूजित प्रतिमा बड़ी होगी और उसमें कलाचातुरी भी होगी ही। आकार या कलाचातुरी ही पूजा का कारण या अनिवार्य शर्त हो तो शिवलिङ्ग, शालग्राम, ग्रामदेवताओं के चबूतरों और भैरव व काली मूर्तियों की पूजा समाप्त हो जानी चाहिए थी (प्रथम तीन की आकार के कारण, अन्तिम दो की कलाचातुरी के अभाव के कारण)। पूजा का कारण धार्मिक भावना होती है, आकार या कला नहीं। साथ ही साधारण जनता बड़ी मूर्तियों का व्यवहार आज भी नहीं करती, न सर्वत्र उनमे कलाचातुरी ही देखना चाहती है। हाँ, असाधारणत्व इन स्त्री–मूर्तियों में अवश्य है। यथा, अन्यान्य अवयवों की तुलना में स्तनों को बेहद बड़े आकार का दिखाया गया है। एक नारी-मूर्ति के

अधोभाग से एक पौधा उगता हुआ दिखाया गया है। इस प्रकार के चित्रण का उद्देश्य मातृत्व पर, प्रजनन क्षमता पर जोर देना है। बच्चों के खिलौने इस तरह के नहीं हुआ करते।

श्री चौधरी हुएन्त्सांग का उद्धरण देते हैं कि घटनाएं लिपिबद्ध करने वाले कर्मचारी हर प्रदेश में हुआ करते थे। परन्तु इस जानकारी से लाभ ही क्या जब उन कर्मचारियों के विवरण हमें सुलभ नहीं ? युधिष्ठिराब्द और कलि-अब्द का प्रचार जरूर है पर वह कब से चल पड़ा है, कल्पित तो नहीं है आदि प्रश्नों का समाधान होना अब भी बाकी है। कल्पित न भी हों तो वह आर्यों के बजाय अनार्यों की भी देन हो सकता है। यही बात ज्योतिष के बारे में भी कह सकते हैं। भारतीय ज्योतिष ईसा के तीन हजार वर्ष से भी पूर्व का है इसे मानने में हमें आपत्ति नहीं, परन्तु अवैदिकों ने ही उसका आविष्कार नहीं किया था और आर्यों ने उन्हीं से इसको नहीं पाया, ऐसी बात जोर देकर नहीं कही जा सकती।

"वैदिक जाति यदि बाहर से भारत में प्रविष्ट हुई होती तो यह बात किसी न किसी रूप में इतिहास में लिखी होती और दूसरे साहित्य में भी इसका कहीं संकेत पाया जाता" (पृ० २५), इस प्रकार की दलील में श्री चौधरी किस "इतिहास" और किस "साहित्य" की बात कर रहे हैं वे ही जानें। पुराणों में आर्यों के इलावृतवर्ष से भारत में आने के इंगित वर्तमान हैं और भारत के आदिवासियों से उनके संघर्ष और सांस्कृतिक मिश्रण के संकेत भी मिलते हैं यह भी हम देख चुके हैं। इसके सिवा वेदों में दासों और दस्युओं की निन्दा है, उन्हें अमानुष, डकैत, अधार्मिक, काले रंग का और 'अनास' (नासिकारहित या सायण के अनुसार मुखरहित, अस्पष्ट बोलनेवाला) कहा गया है और उनके नाश की प्रार्थना की है। दासों की स्त्रियों और बच्चों तक की हत्या पर प्रसन्नता प्रगट की गयी है, जो शत्रु और भिन्न जाति के लिए ही सम्भव है। महाभारत के कुछ स्थलों में राक्षसों को हिमालय में अवस्थित (६।६।५१) बताया गया है, परन्तु बाद में उन्हें दक्षिण की ओर हटाते-हटाते लङ्का तक पहुंचा दिया गया है। इस प्रकार का सामूहिक स्थान-परिवर्तन विदेशी आक्रमण के दबाव से पराजित जातियां ही किया करती हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों में राक्षसों और असुरों के उपद्रवों का वर्णन है, परन्तु इस बात पर पर्दा डाल दिया गया है कि इन उपद्रवों का उद्देश्य और कुछ नहीं, अपने खोए हुए अधिकार को पुनः पा लेना था।

विदेशी—विजेता विजित जाति को हमेशा नीच प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, अपने कार्यों का समर्थन सभ्यता के नाम पर, शांति और सुव्यवस्था के नाम पर करते हैं। इसी नीति के अनुसार भारत के मूल निवासियों के कुछ अंशों को अनाचारी और नरमांसभक्षी तक कहा गया है। नीग्रो जाति के विरुद्ध गोरों का प्रचार इससे भिन्न नहीं

है। परन्तु संस्कृत साहित्य में अपवाद रूप में कहीं-कहीं वस्तु-स्थिति का भी संकेत मिल जाता है। जैसे महाभारत में युधिष्ठिर ने राक्षसों को अच्छी तरह धर्म को जानने वाला एवं धर्म का मूल बताया है:—

येन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये ।
धर्मम् ते समवेक्षन्ते रक्षांसि च विशेषत: ।।
धर्मस्यराक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम् । (३ । १५७ । १३–१४)

इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण में कहा गया है कि अदिति के पुत्र सुरापान के कारण सुर कहलाये और सुरा न पीनेवाले दिति के पुत्र असुर कहलाये (१।४५।३६-३८)। यह बात कोरी गप नहीं मानी जा सकती है क्योंकि केरल में जब लोग अपने पुराने राजा बलि की स्मृति में ओनम का त्यौहार मनाते है तो मद्य-मांस का त्याग करते हैं और इसका कारण यही बताते हैं कि बलि के समय में ये चीजें त्याज्य थीं। अतएव सुसभ्य राक्षस और असुर जातियों में न तो अनाचार था, न मद्यमांस का सेवन ही। इस प्रकार के लोगों को भी कलङ्कित करने का उद्देश्य क्या हो सकता है? इस प्रकार का कार्य कौन कर सकता है? उत्तर बहुत स्पष्ट है।

मटेली हाई स्कूल
पो० – मटेली
जि० – जलपाईगुड़ी (W.B.)

डिंगल गीतों की अनुक्रमणिका

शोध पत्रिका, वर्ष २४, अंक १
में प्रकाशित अनुक्रमाणिका से आगे

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
१४२	किसनजी आढा	हमीरसिंह चूंडावत (भदेसर) की वीरता
२६३	अज्ञात	महाराणा भीमसिंह की प्रशंसा
१८४	,,	विवाह वर्णन
१९३	सांवलदान आशिया	राजा बहादुर अमरसिंह (करेड़ा) की तारीफ़
२८१	किशनजी आढा	हमेरसिंह रावत (भदेसर) की वीरता
९७	,,	,, ,,
१४३	अमरसिंह महियारिया	फतहसिंह चौहान की पराजय
८	अज्ञात	रामदेवजी तंवर के घोड़े की प्रशंसा
७	,,	धरमसिंह की वीरता
१५६	बिहारीदास मेहडू	रावत प्रतापसिंह की वीरता
१७४	पताजी आशिया	कँवरसिंह झाला (सादड़ी) की प्रशंसा
६५	अज्ञात	धरमसिंह की वीरता
३१७	पताजी आशिया	कुंवरसिंघ की प्रशंसा
२०	,,	सिंघा झाला (सादड़ी) की प्रशंसा
५०	चमनसिंह मेहडू	कलाजी राठौड़ की प्रार्थना
११४	अज्ञात	महाराजा अभैसिंह (जोधपुर) की वीरता
८१	,,	,, ,,
३८१	पीरजी आढा	भवानीसिंह चांपावत (लाल्हूड़ा) की वीरगति
५०	अज्ञात	सवाईसिंह राठौड़ की वीरता
७५	सूर्यमल आशिया	श्री भेरुजी की प्रार्थना
२०६	अज्ञात	रावत रणजीतसिंह का दान
५१५	कीरतराम आशिया	महाराणा जवानसिंह की प्रशंसा
८६	,,	,, ,,
५४५	,,	,, ,,
७२	,,	,, ,,
३	अज्ञात	मूलराज भाटी की प्रशंसा
३	,,	महाराणा जगतसिंह की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३१३२	३३२	प्रथू राजा जेम धरा पाधरते	१३४
३१३३	३३४	प्रथु राजा जेम जमी पाथरतां	६४
३१३४	३२६	प्रबल् उद धणियाप असमाद काटण परां	१७३
३१३५	३१७	प्रबल् कोप कांठलि करे धोर रव पाखरां	१३५
३१३६	३१२	प्रबल् चौ तरफ निज बात प्रभा परकास री	८८
३१३७	३२६	प्रबल हाथ लछराज आधार सूदता पण	१७१
३१३८	३२८	प्रभत काज सोढां घरे कोट ऊमर परग	१०५
३१३९	३२८	प्रभा बखत कवि कुसम अंबोज रा प्रफुलत	५२
३१४०	३१५	प्रभू पूरीया पंचाली चीर तागा परत	२७
३१४१	३१८	प्रलै काल् कौ होयबो जको जटीस कोपबो कना	५९
३१४२	३१४	प्रलै काल कौ होयबो जको जटीस कोपबो कना	१३९
३१४३	३२९	प्रले काल् जल् बोल् पतसाह दल् पसरिया	१४८
३१४४	३१७	प्रले देण दुसहां पड़ण पेण तीरां पड़े	१५१
३१४५	३२७	प्रलै देण दुसहां पडण पैण तीरां पड़ै	११०
३१४६	३२१	प्रले देण दुसहां पड़ण पेण तीरां पड़े	४५
३१४७	३२५	प्रले देण दुसहां पडण पेण तीरां पड़े	५२
३१४८	३२१	प्रले देण दुसहां पडण पेण तीरां पड़े	३१
३१४९	३३१	प्रले देण दुसहां पडण पेण तीरां पड़े	१५३
३१५०	३२६	प्रलै साधवा फूटियौ सिंघ बार धकै लोप पाजा	१६३
३१५१	३३५	प्रलै होए भड़ भिड़ज रिण ताल् लेखा पखै	७४
३१५२	३२६	प्रलै होय भड़ भिड़ज रिण ताल लेखा पखै	१३५
१५३	३२१	प्रलै हुय भड़ भड़ज रणताल् लेखा पखै	६
३१५४	३२०	प्रव लाधे वसां छत्रीसां पहीलो	६६
३१५५	३१३	प्रसन अमर आह नवनीत ऊज़ल पनंग	८१
३१५६	३२७	प्रसण ठेल धमचक हुवां घोर अण पार रौ	६२
३१[illegible]७	३२०	प्रसण दल् प्रमाण खीची समर पालटे	६७
३१५८	३१४	प्रसण हात छातै जता अखूटी प्राजल्	६५

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
२८५	अज्ञात	,, ,,
१६२	,,	,, ,,
३८६	,,	कल्लाजी राठोड़ की प्रार्थना
१४४	,,	महाराणा राजसिंह की वीरता
१८४	चंडीदान गाडण	फतहसिंहजी (उणियारे) का दान
३८०	अज्ञात	लक्ष्मणसिंह का दान
२१७	भारतदान कविया	पाबूजी राठौड़ का यशोगान
१०७	वदनजी मिश्रण	महाराजा गजसिंह (बीकानेर) का यश
२७	अज्ञात	ईश महिमा
५५	तगताजी संढायच	रावत रणजीतसिंह (देवगढ़) की वीरता
२७८	,,	,, ,,
२८८	अज्ञात	राठौड़ बल्लूजी की तारीफ़
१६१	हुकमीचंद खिड़िया	महाराजा रणजीतसिंह की वीरता
११५	,,	शाहपुरा बनेड़ा का संघर्ष
५५	,,	,, ,,
१००	,,	,, ,,
२६	,,	,, ,,
१६५	अज्ञात	,, ,,
३२०	हुकमीचंद खिड़िया	जालिमसिंह (कुचामन) की वीरगति
३१	चतुरजी मोतीसर	भीमसिंह सिशोदिया की वीरगति
१६२	चतराजी ,,	,, ,,
४	,, ,,	,, ,,
१५६	करमसी आशिया	अखाजी चौहान की वीरता
७७	अज्ञात	गोरधन खीची का विवाह
६६	अमरसिंह महियारिया	महाराज सुनमानसिंह (इन्द्रगढ) का रण कौशल
२१६	अज्ञात	दलपतसिंह चौहान की वीरगति
१६२		रावत केसरसिंह (सलुंबर) की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३१५९	३२२	प्रसिध ऊगरे ईल़ बचा इंद्र दाता सुपह	६
३१६०	३३३	प्रह प्रहतै पूब महा गरि पै भरि	१५६
३१६१	३३४	प्रहलाद भालि़ गज भालि़ परीखित	१६३
३१६२	३२९	प्रहलाद भालि़ गज भालि़ परीखित	३१
३१६३	३५४	प्रहलाद भालि गज भालि परीखित	१४१
३१६४	३१७	प्रहलाद भालि़ गज भालि़ परिखित	२
३१६५	३१२	प्राणा क्रन भोज यसा ब्रद पावा	१३१
३१६६	३२१	प्रिथमी पुड़ि करण चिहूं दिसि पसरे	२१२
३१६७	३१३	प्रिथी कोटि पंचास पूजंति उदया पसर	१८७
३१६८	३१७	प्रिथी कोटि पचास पूजंति उदया पसर	६
३१६९	३५४	प्रिथी कोटि पंचास पूजंति उदया पसर	१३६
३१७०	३१२	प्रिथी पूर वा ह्ाम वरीयांम वहां प्रलंब	१५३
३१७१	३२१	प्रिथी पुर वा हांम वरीयांम वहां प्रल़ंव	५९
३१७२	३३५	प्रिथी पूर वा हांम वरियांम बहा पल़ंब	५१
३१७३	३१४	प्रिसण दलि़ एम पयंपै पातल़	४५
३१७४	३३२	प्रीछत अवतार जगत प्रतपालो़	१८८
३१७५	३१९	प्रीछत अवतार जगत प्रतपालो	७८
३१७६	३१९	प्रीछत अवतार जग पालो़	११४
३१७७	३१९	फजर ऊगते भांण फुरमाण दस दस फरे	१२५
३१७८	३१४	फजर ऊवड़ा भीड़ रणधीर लागे फरण	२१
३१७९	३१४	फजर ऊवड़ा भीड़ रणधीर लागां फरण	१४१
३१८०	३१९	फजर बीर नद बजे फरमांण चहु दस फरै	१४७
३१८१	३२४	फजर वीर नद बजे फरमाण चहु दस फरै	१४५
३१८२	३२८	फटत सात दरियाव ग्रह राव उलटौ फिरत	८३
३१८३	३५५	फते पावतां दीखाली तीख के वारा बखेरे फोजां	१०९
३१८४	३२०	फते कारीया भुजां अहंकारियां फाड़तो	९९
३१८५	३१४	फते कार थट भडां गुण लार टोल़ा फरत	७१

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
६	पाला गोल	झाझवा की प्रशंसा
१६६	हरिसूर बारहठ	सोभा चौहाण की वीरता
३६२	पृथ्वीराज राठौड़	ईश महिमा
६०	"	"
३०४	"	"
२	"	"
२७७	अज्ञात	महाराजा चतुरसिंह झाला (सादड़ी) की प्रशंसा
३३७	"	महाराणा मोकल का दान
१७६	जैमल बारहठ	सूर्य्यदेव की प्रार्थना
६	"	"
२६४	"	"
३२१	पताजी आशिया	अजब झाला (सादड़ी) की प्रशंसा
७६	"	" "
२१	"	" "
८६	अज्ञात	पत्ताजी चूंडावत की वीरता
४०६	मेघसिंह मेहडू	महाराणा शंभुसिंह से जागीर बहाल कराने की अरज
६०	"	" " "
१२३	"	" " "
१३६	अज्ञात	महाराणा भीमसिंह की वीरता
४१	"	गोकलसिंह सांगावत की वीरता
२८२	"	" "
१६०	"	महाराणा भीमसिंह की प्रशंसा
१५६	"	" "
१६३	"	महाराणा राजसिंह की प्रशंसा
१२०	"	रावत दूल्हेसिंह की प्रशंसा
२२०	"	रामसिंह हाड़ा की वीरगति
१४४	"	पदमसिंह चूंडावत की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३१८६	३१६	फते खाटिवा भंगरा गिरां फरा थे साह रा फेरे	१८६
३१८७	३३१	फते कारियां भुजां अहंकारियां फाड़तौ	१०४/१
३१८८	३१४	फबीया घरण अफर मांडि फरण फोजां	१६
३१८९	३१८	फबीया घरण अफर मांडि फरण फोजां	७६
३१९०	३३१	फबीया घरण अफर मांडि फरण फौजां	१९४
३१९१	३१५	फबे आब डीलां रेसम्मी सुफीलां चाढे राव फेंटां	८१
३१९२	३२१	फरके गजपीठ भंड फते रा	१७१
३१९३	३५५	फरण दीप अखीयात उपगार पाता करण	१७२
३१९४	३३५	फर फेर असुधा सुधा फरे	१६८
३१९५	३२१	फर फेर असुधा सुधा फेरे	१०/ख
३१९६	३१४	फर फेर असुधा सूधा फेरे	२६
३१९७	३२५	फर फेर असुधा सुधा फरे	१५४
३१९८	३२७	फरर तुरां नीलबरां आभूषण फूल में	७४
३१९९	३१९	फरर तुरां नीलंबरां आभरण फूल में	१४६
३२००	३१४	फरर तुरी ऊबा वरा आभरण फोज रा	६५
३२०१	३२५	फरर तुरी उबा बरा आभरण फोज रा	१४८
३२०२	३३१	फरर तुरां नीलंबरां आभरण फूल में	४६
३२०३	३१७	फांकतो मूठ पेसवो फरियो	६५
३२०४	३१४	फाबे बाघम्रब भूत्य अम्र सेली नाद कांन फट्टा	१८
३२०५	३१८	फाबे बाघम्रब भूत्य अम्र सेली नाद कांन फटा	११५
३२०६	३३४	फबे वाघम्रव भूत्य अम्र सेली नाद कान फट्टा	१४५
३२०७	३२८	फिर उदर उदर भुगते मत फोड़ा	७२
३२०८	३१७	फिरा पतिसाह री फोज सारा फिरां	३७
३२०९	३३५	फिरि फौज पतिसाह री पीठ मारां फिरी	११३
३२१०	३१३	फिरी पीठ पतसाह री फोज सिगली फीरी	६७
३२११	३२९	फिरे देस दुरवेस वधिरेस दिलेस विचि	१०
३२१२	३२८	फीलां पै जमी मंचोलवो हीलोलवो सिंधु ज्युं फौजां	८७

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
१८९	उमेदजी सांदू	प्रतापसिंह का आखेट
१३४	अज्ञात	रामसिंह हाड़ा की वीरगति
३३	गोरधन मोतीसर	अचलसिंह राणावत की वीरगति
७६	,,	,, ,,
२४५	,,	,, ,,
८१	अज्ञात	मानसिंह राठौड़ की वीरता
३०६	नरसिंहदान मेहडू	महाराणा शंभुसिंह की प्रशंसा
१६६	नरसिंहदास जगावत	दीपसिंह की प्रशंसा
११६	कलाजी सिंढायच	मेघसिंह चूंडावत (बेगूं) की वीरता
७	,,	,, ,,
४७	,,	,, ,,
३०५	,,	,, ,,
७७	अज्ञात	रावत द्वारकादास चूंडावत (देवगढ) की वीरता
१६२	,,	,, ,, ,,
१३२	,,	,, ,, ,,
२६३	,,	,, ,, ,,
६२	,,	,, ,, ,,
६७	बखतावर राव	महाराणा स्वरुपसिंह का यश
३१	अज्ञात	श्री शंकर के स्वरूप का वर्णन
११८	,,	,, ,,
२६६	,,	,, ,,
१४६	रोडसिंह भादा	भक्ति-वैराग्य
३८	हरिदास वाणावत	सत्ता चहुआण की वीरगति
४६	भोजराज महियारिया	राव शत्रुसाल हाड़ा की वीरगति
६३	,,	,, ,,
१६	हरिदास	माधवदास कल्याणदासोत का यश
१८१	हुकमीचंद खिड़िया	महाराजा मानसिंह (जोधपुर) की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३२१३	३३३	फुरणा सेस रो पाव आराण खाटण फते	१२०
३२१४	३१९	फेले धू वरंगां धरा धूंधली धड़के फूट	१६४
३२१५	३२०	फोजां पतसाह बिने आफलतो	१६६
३२१६	३३३	फोजां पातसाहां विन्है आफलता	६१
३२१७	३१३	फोजां पतसाह बिने आफलता	८८
३२१८	३२०	फोजां फेरवी अफेर तै फेरवी मेद चहु फेर	१३५
३२१९	३२६	फौजां भभाई हजारां थांभा लगाया आभास फाटै	६७
३२२०	३२२	बंका जीतणो समरां के ही बरदां उजाला बापो	७६
३२२१	३१७	बंका जीतणो समरां के ही बरदां उजाला बापो	६६
३२२२	३१७	बंका दाणवा अखाड़ा मंड बानैत कौतगी बीर	१३६
३२२३	३१५	बंका बाजता भीलड़ा देस लूटता गामड़ा वाला	८३
३२२४	३२८	बंका सीसोद कराड़ा जंगा सोहे पांण बाखियात	१००
३२२५	३१६	बंधे बेड तोपाण पड़ दमंग आगल बंधे	११७
३२२६	३१८	बकट थट घमसाण त्रंबागल वाजीयां	१७६
३२२७	३२६	बकट थट घमसाण त्रबागल बाजिया	१३८
३२२८	३५५	बकरी नह राल अंडो इक डचकण	१६४
३२२९	३२०	बखम हाक बीरा डमर डाक जट धरवजे	४२
३२३०	३१२	बखमो खग बाय दखण दल चो बग	१८६
३२३१	३१८	बगतर पहर बगस्या भव बीजे	७
३२३२	३२५	बगतर भड़ कसे गहर नद बाजे	८०
३२३३	३१४	बगतर भड़ कसे कहर नद वाजे	३८
३२३४	३१६	बगतर भड़ कसे गहर नद वाजे	१०४
३२३५	३२२	बगे ओखगी काहुला नाद कटकां सांफले बहु	१८२
३२३६	३२०	बचन रावरे सांच हिंदवाण सह बेखता	१६८
३२३७	३२१	बजारां मरे बेद धुबतां धरा बासते	१०१
३२३८	३२८	बाजै घूंघरा तणां भणकार चरणां बिहूँ	३४
३२३९	३२७	बडगर ग्रह बोम वैकुंट विसंभर	१५३

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
१३३	शेरजी दधवाड़िया	रावत दुलैसिंह चूंडावत की प्रशंसा
२०६	अज्ञात	मल्हारराव की वीरता
४२०	,,	महाराजा भीमसिंह (कोटा) की वीरगति
६२	,,	,, ,,
८४	,,	,, ,,
२६५	,,	राव उमेदसिंह (बूंदी) की वीरता
१८२	,,	जालमसिंह झाला (झालरापाटन) का यश
८०	,,	रावत सालमसिंह (कानोड़) की प्रशंसा
६८	,,	,, ,,
१४८	,,	श्री गोराजी की महिमा
८३	चमनसिंह मेहडू	कुबेरसिंह राठौड़ की वीरता
२०७	किशनजी आढा	महाराणा भीमसिंह का यश
१२६	वखतावरजी राव	महाराणा फतेसिंह की प्रशंसा
२०३	अज्ञात	रतनसिंह राठौड़ की वीरता
२६८	,,	,, ,,
२१८	,,	रिसिंह राठौड़ को उलहाना
६८	करनीदान कविया	रूपसिंह राठौड़ की वीरगति
३६६	अज्ञात	कूंपा राठौड़ की वीरगति
५	,,	सूरजमल सीसोदिया की वीरता
१५६	रामलाल आढा	रावत शिवदान सिंह (भगवानपुरा) की वीरता
७४	,,	,, ,,
१०६	,,	,, ,,
१८४	कृपाराम भादा	बहादुरसिंह की तारीफ
४२४	हररूप मेहडू	दुर्जनशाल हाड़ा की प्रशंसा
१६६	रोडजी मोतीसर	अमरसिंह बारहठ की वीरगति
६६	सूर्य्यमल आशिया	श्री भेरुजी से प्रार्थना
१६३	फतेराम आशिया	भक्ति

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३२४०	३२४	बड़ जवित्र हुवल् एक चारण बड़ो	३७
३२४१	३३०	बड़ हथ वरीयाम अभिनमा वीर रस	११०
३२४२	३२२	वड़ होवे कथा भजन मन बाधो	१९
३२४३	३१५	बड़ा आरंभ जपाणा ज्याग बली रै प्रमाणै बापो	११
३२४४	३३१	बड़ा कविया बोल प्रथमाद ऊपर फबै	१२५
३२४५	३२२	बड़ा झालिमां भार तरुआर आचार वप	१८४
३२४६	३२६	बड़ा फाबिया बोल प्रथमाद ऊपर फबै	८७
३२४७	३२९	बड़ा बडी रो त्रसूल कना पति त्रिलोक रो बाण	१४३
३२४८	३२०	बड़ा बोल तो बोल उदमाद करतो बढण	१५६
३२४९	३१३	बड़ा बोल तो बोल उदमाद करतो विढण	६३
३२५०	३३२	बड़ा बोलतो बोल वातां घणी बणातो	६८
३२५१	३२४	बड़ा बोलतो बोल बातां घणी बणातां	२४
३२५२	३२४	बड़ा राग रा हुवै सुर अच्छर गूघर बजै	२८
३२५३	३३०	बड़ा बडी रो त्रसूल कनां पती त्रिलाक रो बाण	४
३२५४	३२२	बड़ा सुभ मोहोरत लगन लेर रच सुमंवर	१७८
३२५५	३२२	बड़ा सुर सिरदार उदार माझी बड़ा	१७५
३२५६	३२७	बड़ा होए कथा भजन मन बाघौ	१४९
३२५७	३२६	बड़े तखत राजस का रेवास रावत बड़ा	१०१
३२५८	३१२	बडो नाट वरीयांम राणा घरा वाहरु	२००
३२५९	३१९	बडो रचतां जगन उदीया नयर बिचाले	५८
३२६०	३२४	बडो राण रो घराणो लंका बरीस सूरज वंसी	३३
३२६१	३३२	बडो हूँतो भ्रम छ भानु वेध हूंता विकट	२२
३२६२	३२७	बड़ो भाग चित्तौड़ रो साच रा	९४
३२६३	३२६	बडो भींच राणां तणीं धरा आडो वसै	१९५
३२६४	३२४	बडो भींच राणां तणी धरा आडो वसै	८१
३२६५	३१४	बडो साहि अकबर फिरै गढां गढि वाजतो	१५२
३२६६	३३४	बढण वार हाथल खडग तोलीया बहादर	७५

पृष्ठ-संख्या	रचयिता	विषय
५०	अज्ञात	अकबर और राणा प्रताप के युद्ध में काम आये वीर
२२४	गिरधर आशिया	दलपत सोलंकी की प्रशंसा
१६	अज्ञात	भक्ति
११	,,	रावत जोधसिंह का दान
१४७	,,	महाराजा गजसिंह द्वारा भीमसिंह की मृत्यु
१८६	,,	अभयराम राठौड़ का यश
२१०	,,	महाराजा गजसिंह द्वारा भीमसिंह की मृत्यु
२७८	,,	महाराजा बलवंतसिंह (रतलाम) की तारीफ़
३३७	,,	बलवंत हाड़ा की वीरगति
६४	,,	,, ,,
१३३	,,	शेरसिंह राठौड की वीरगति
२६	,,	शेरसिंह राठौड़ की वीरगति
३७	,,	बहादुरसिंह राठौड़ की वीरता
७	,,	बलवंतसिंह राठौड़ के भाले का वर्णन
१८०	जोरजी गाडण	रणजीतसिंह चूंडावत (देवगढ़) का दान
१७७	पत्ताजी आशिया	कल्लाजी की प्रशंसा
१५६	अज्ञात	भक्ति
२१५	,,	हृदय नारायण (रायपुर) की वीरता एवं दान
४१८	,,	रायपुर के स्वामी की वीरगति
७०	,,	सूरजमल सीसोदिया का यश
४३	,,	महाराणा संग्रामसिंह की प्रशंसा
४३	वखताजी खिड़िया	अभयकरण राठौड़ की तारीफ
६८	अज्ञात	बखतसिंह राठौड़ का युद्ध
३८४	,,	हिंगोलदास राठौड़ की गो रक्षा
१००	,,	,, ,,
३०४	,,	पत्ता चूंडावत (आमेट) का मरसिया
१५५	,,	देवकरन राठौड़ की वीरता

क्रमांक	ग्रंथ-संख्या	गीतों की प्रथम पंक्ति	गीत सं०
३२६७	३२६	बढिण जाल् अवगाढ़ विघन वीर वर	३
३२६८	३३०	बणी बार उदार जसराज राजा बड़ा	६
३२६९	३३१	बणी बार उदार जसराज राजा बड़ा	१७४
३२७०	३१७	बदन ईन्दु चख मीन छव घ्राण सख दीप बण	१४४
३२७१	३२४	बदन इन्दु चख मीन छव घ्राण सख दीप बण	५
३२७२	३१६	बदन बारहे दिवाकर भल हल् ते बखत	१५२
३२७३	३१८	बदरंग रंग पहल हेर दहुं उ बाजू	८८
३२७४	३२१	बदरंग रंग पहल हेर दहुं बाजू	१७७
३२७५	३२९	बदे राम वरियाम संसार रजपूत वट	१२
३२७६	३२७	बघत मयूरां सोर दादुर घणा बोलिया	१७८
३२७७	३२७	बधै कुरंगां अगाऊ धावां सलोच फरत बागां	१३०
३२७८	३२१	बरड़ै धर सहर तणी परि बोड़ा	२११
३२७९	३१४	बरद ऊंचा नीसांण मेघाडंबर वरुथां	२५
३२८०	३२२	बरद एह रजवाट लीधां यलां बचारै	१०६
३२८१	३२१	बरद धार कुलवाट नर बा धरम पतीव्रत	१००
३२८२	३१७	बरद धारीग्रां नेत धजर घोडा भडां बीटीग्रा	९५
३२८३	३२६	बरम ऊत्रड़क कडि विप त्रंबक डकरी बगां	१७
३२८४	३१७	बरमा उवडक कडा त्रंबक डुकरी बगा	७०
३२८५	३१७	बरमा उवडक कडा त्रबक डुकरी बगा	२८
३२८६	३३०	बरसा दसतणे बापरे वदले	९०
३२८७	३२९	बरसै घण मयण घणू का मसी व्रन	२५
३२८८	३२७	बरसै भंड़ मेह पफीया बोले	६०
३२८९	३५५	बरां अजे चसंमा चढै नगिद बस मांणव	२०५
३२९०	३२९	बल् चढ बोलियौ पतसाह वदीतो	१६५
३२९१	३३१	बल् चढ़ियां भडां वाधियै बीरत	२४
३२९२	३२६	बल् छूटै सुहड़ जापा दै बीजां	४९
३२९३	३२६	बल् छूटै सुहड़ जाण दै बीजां	६९

राजस्थान विद्यापीठ

साहित्य संस्थान

उदयपुर (राजस्थान)

उद्देश्य

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, भाषा, दर्शन, कला व संस्कृति के क्षेत्र में शोध सामग्री का संकलन, अनुसंधान, सम्पादन एवं प्रकाशन तथा मौलिक साहित्य का निर्माण

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के लिये उमाशंकर शुक्ल, अध्यक्ष साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा प्रकाशित।

विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर।

शोध पत्रिका
वर्ष २४
अंक ३-४
साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ,
उदयपुर.

शोध पत्रिका के बारे में—

१ पत्रिका का प्रकाशन वर्ष में चार बार होता है—[क] जनवरी–मार्च [ख] अप्रेल–जून [ग] जुलाई–सितम्बर [घ] अक्तूबर–दिसम्बर।

२ लेख की पांडुलिपि कागज के एक ओर टंकित या सुपाठ्य लिखी होनी चाहिए।

३ लेख प्राप्ति, स्वीकृति, अस्वीकृति की सूचना एक माह के भीतर दे दी जाती है।

४ लेख प्रकाशित होने पर लेखक को पत्रिका के सम्बन्धित अङ्क की एक प्रति और लेख के बीस अनुमुद्रण दिये जाते हैं।

५ पत्रिका में समीक्षा के लिये पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है।

अतिरिक्त संचालक, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा, राजस्थान, बीकानेर के परिपत्र [क्रमांक–ई डी बी/स० शि०/साधा०/डी/जी/ १/ विशेष /६५--६६, [दिनांक २२-३-६६ द्वारा] उच्च, उच्चत्तर व बुनियादी शिक्षण–प्रशिक्षण विद्यालयों तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

शोध पत्रिका

वर्ष २४, अंक ३-४ (संयुक्तांक)

जुलाई-सितम्बर, १९७३
अक्टूबर-दिसम्बर, १९७३

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, भाषा, दर्शन, कला व संस्कृति की त्रैमासिक अनुसंधानिका

इस अंक का मूल्य : पांच रुपया

वार्षिक — देश में— दस रुपया
विदेश में— पन्द्रह रुपया

साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ,
उदयपुर

विषयानुक्रम

१	राजस्थान सम्बन्धी अनुसंधान कार्य	सम्पादक	३–४
२	बनेड़ा सामन्तों के विशेषाधिकार	श्री प्रकाशचन्द्र व्यास	५–११
३	पौराणिक आख्यानों में कालञ्जर	प्रो० सुशीलकुमार सुल्लेरे	१२–१८
४	कविराय प्राणनाथ कृत–'विसन विलास काव्य'	श्री गोपाल नारायण बहुरा	१९–३१
५	बख्तसिंह और रामसिंह के मेड़ता युद्ध पर सिलोका	डॉ० नारायणसिंह भाटी	३२–३५
६	जोधपुर के महाराजा बख्तसिंह की प्रेयसी गायण जन महताब कृत मंदिर की प्रशस्तियां	डॉ० ब्रजमोहन जावलिया	३६–३७
७	मण्डोर के देवल व छतरियां	श्री रामदास शर्मा	३८–४३
	शोध सामग्री : सर्वेक्षण		
८	कृष्ण भट्ट देवर्षि कृत 'शृंगार रस माधुरी' (क्रमशः)	डॉ० कृष्णकुमार शर्मा	४४–५८
९	जोगीदास रचित–'हरिपिंगल प्रवन्ध'	डॉ० भगवतीलाल शर्मा	५९–६९
१०	संत-कवि सिद्ध लालनाथजी कृत 'निकळंग पुराण'	श्री सूर्यशंकर पारीक	७०–८५
११	कछवाहा तोपखाना (जयपुर) एक संक्षिप्त अध्ययन	श्री रवीन्द्रकुमार शर्मा	८६–९०
१२	मेवाड़-राजपरिवार के विभिन्न धार्मिक संस्कार	श्री शिवचरण मेनारिया	९१–९४
१३	अपभ्रंश का वर्णनात्मक व्याकरण संज्ञा शब्दों की रचना-प्रक्रिया	डॉ० कृष्णकुमार शर्मा	९५–१०४
	विमर्श		
१४	शेरशाह और चित्तौड़	श्री रामवल्लभ सोमानी	१०५–१०७
१५	काश्मीर में शैव-दर्शन का प्रादुर्भाव	श्री सूर्य प्रकाश व्यास	१०८–१११
	समीक्षा		
१	भारतीय संगीत वाद्य	श्री देवीलाल सामर	११२–११४
२	डॉ० कन्हैयालाल सहल-व्यक्तित्व और कृतित्व	डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	११४–११५
३	स्वतंत्रता सेनानी डूंगजी जवाहरजी	श्री देव कोठारी	११५–११६
४	राजस्थानी लोकगीत विहार,प्रथम भाग	"	११६–११८
५	पद रचना, ६. रोहिड़ै रा फूल	डॉ० ब्रजमोहन जावलिया	११८–११९
७	जागती जोत (पत्रिका)	"	११९
८	आखरमाळ	श्री ओंकार पारीक	१२०
९	कथालोक (संस्मरण अंक)	श्री मनोहरकान्त शर्मा	१२१
	शोध पत्रिका लेख-सूची,	**वर्ष २४ (१९७३)**	१२२–२४

राजस्थान सम्बन्धी अनुसंधान कार्य

आज राजस्थान सम्बन्धी विविध विषयों में अनुसंधान कार्य देश भर के विश्वविद्यालयों में किया जा रहा है । यद्यपि यह स्थिति भारत के स्वतन्त्र होने के पूर्व से रही है किन्तु स्वाधीनता के बाद यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढी है और आज कलकत्ता से लगाकर पंजाब तक और दक्षिण में महाराष्ट्र तक राज्यों के उच्च शोध संस्थान राजस्थान के पुरातत्त्व, इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य आदि विभिन्न विषयों पर अनुसंधान कार्य कर रहे हैं। यह अत्यन्त शुभ एवं प्रेरणाजनक स्थिति है । विशेष बात यह भी है कि देश में अन्य कोई ऐसा प्रदेश नहीं है जिसके सम्बन्ध में अन्य प्रदेशों में भी इतना व्यापक अनुसंधान कार्य किया जाता हो जितना कि राजस्थान के सम्बन्ध में किया जाता है । यह स्थिति इस बात को दर्शाती है कि राजस्थान प्रदेश विभिन्न विषयों के अनुसंधान कार्य की दृष्टि से विपुल मूल्यवान सामग्री से समृद्ध है ।

अनवरत अनुसंधान कार्य से यह प्रकट हो गया है कि राजस्थान देश के उन भागों में से एक है जहाँ मानव संस्कृति अपने प्रारम्भिक काल से पनपी और फली-फूली है । प्राचीन भारतीय इतिहास के वैभवशाली काल के महत्त्वपूर्ण केन्द्र इस प्रदेश में रहे हैं । मध्ययुगीन इतिहास और संस्कृति पर तो इस प्रदेश ने शौर्य, वीरता, उदारता, त्याग और बलिदान के अनुपम उदाहरणों से अपनी अमिट छाप छोड़ी है । इसलिये आज महाराष्ट्र, मध्य-प्रदेश, दिल्ली आदि के विश्वविद्यालय राजस्थान के पुरातात्त्विक स्थलों पर उत्खनन कार्य करवा कर इस प्रदेश की प्रागैतिहासिक मानव-संस्कृति को प्रकाश में ला रहे हैं । बंगाल, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों के विद्वानों ने राजस्थान में घूम-फिर कर प्राचीन इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं कला से सम्बन्धित व्यापक अनुसंधान कार्य किया है । इस दृष्टि से अंग्रेज विद्वान् कर्नल टॉड और इटालियन विद्वान् तेस्सीतोरी का नाम सदा अविस्मरणीय रहेगा जिन्होंने न केवल राजस्थान के प्राचीन इतिहास एवं साहित्य सम्बन्धी अनुसंधान का कार्य किया, अपितु भावी अनुसंधान की दृष्टि से मार्ग प्रशस्त किया । राजस्थान के मध्ययुगीन एवं मराठा काल के

इतिहास के सम्बन्ध में देश के कई राज्यों में अनुसंधान कार्य किया जा रहा है । पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित भी किया गया है ।

जब राजस्थान के बाहर के विद्वान् एवं शोधकर्मी राजस्थान में अनुसन्धान कार्य की दृष्टि से आते हैं तो उन्हें इस प्रदेश में किये जा रहे अनुसंधान कार्य की स्थिति को देखकर अत्यन्त आश्चर्य और क्षोभ होता है । प्रदेश के तीनों विश्वविद्यालयों में गुण और स्तर की दृष्टि से उतना अनुसंधान कार्य भी नहीं किया जाता जितना कि दिल्ली, पूना आगरा आदि के विश्वविद्यालय कर रहे हैं । अभी भी राजस्थान के विश्वविद्यालय एक प्रकार से कोरे उच्च शिक्षण के संस्थान हैं । मान्यता यह है कि पर्याप्त अनुसंधान कार्य के अभाव में शिक्षण कार्य अधकचरा ही रहता है, उस दृष्टि से उच्च शिक्षण का कार्य भी कितना संतोषजनक होगा–यह विचारणीय बात है । राजस्थान के अन्य शोध–संस्थानों की स्थिति भी उतनी ही खराब है, जिनमें राजकीय और अराजकीय दोनों प्रकार के संस्थान शामिल हैं । लक्ष्य एवं योजना का अभाव है, साधनों की कमी है, सक्षम एवं प्रशिक्षित शोधकर्मियों के लिये स्थान नहीं–एक ढर्रा, नाममात्र के लिये चल रहा है ।

सबसे अधिक त्रासजनक बात यह है कि राज्य सरकार और उसका शिक्षा विभाग अनुसंधान कार्य के महत्त्व, आवश्यकता एवं उपयोगिता से सर्वथा अनभिज्ञ हैं । वे इस ओर से आँख मूंदकर बैठे हैं । उन्हें यह भी अहसास नहीं कि वे एक ऐसे इतिहास–प्रसिद्ध भूभाग में रहते हैं और शासन करते हैं–जिसने देश के इतिहास और संस्कृति पर अपना प्रभाव अंकित किया है । वे अपने भाषणों और लेखों में अपने प्रदेश की गौरवपूर्ण ऐतिहासिक महिमा का तोतारटन्त बखान करते नहीं थकते किन्तु उनसे पूछा जाय कि वे प्रदेश की गौरवपूर्ण ऐतिहासिक परम्पराओं को उजागर करने व उनकी महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिये क्या योजनाएं चला रहे हैं तो उनके पास कोई उतर नहीं होगा क्योंकि राजस्थान की ऐतिहासिक परम्पराओं की महिमा को उजागर करने का काम तो अन्य प्रदेशों की सरकारें और संस्थाएं कर रही हैं । निस्संदेह ही यह एक बड़ी लज्जास्पद एवं अपमानजनक स्थिति है कि राजस्थान के प्रागेतिहासिक स्थलों का उत्खनन एवं अनुसंधान कार्य अन्य राज्यों के संस्थानों द्वारा किया जाय और राज्य सरकार और उसके विश्वविद्यालय उसमें रुचि तक नहीं लें ।

राजस्थान सरकार, शिक्षा विभाग एवं विश्वविद्यालयों के लिये यह समझना जरूरी है कि प्रदेश की इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य और भाषा की समृद्ध एवं अमूल्य निधि को प्रकाश में लाये बिना और स्वयं को अपनी सम्पन्न परम्पराओं की भित्ति पर खड़े किया बिना प्रदेश की चतुर्मुखी प्रगति का कार्य बराबर अपूर्ण एवं अपर्याप्त रहेगा ।

— सम्पादक

● प्रकाशचन्द्र व्यास

बनेड़ा सामन्तों के विशेषाधिकार

मेवाड़ राज्य में प्रथम श्रेणी के सामन्तों में बनेड़ा के सामन्तों[1] का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। बनेड़ा के स्वामी महाराणा राजसिंह के चतुर्थ पुत्र भीमसिंह के वंशज थे। महाराणा राजसिंह की मृत्यु के दस माह पश्चात् तथा महाराणा जयसिंह और आलमगीर में संधि होने के दो माह पश्चात् भीमसिंह बादशाह औरंगजेब के पास अजमेर चला गया और उसकी सेवा स्वीकार करली। बादशाह ने उसे चार हजारी मन्सब[2], ५२ परगने तथा राजा का खिताब दिया[3]। राजा भीमसिंह के बाद उसका दूसरा पुत्र सूरजमल तथा सूरजमल के बाद उसका पुत्र सुल्तानसिंह बनेड़ा का स्वामी हुआ। राजा सुल्तानसिंह तक तो बनेड़ा के स्वामी मुगल बादशाहों के नौकर रहे किन्तु सुल्तानसिंह के उत्तराधिकारी राजा सरदारसिंह के बाद सभी मेवाड़ के महाराणा के अधीन रहे[4]।

बादशाह औरंगजेब के समय तक तो दिल्ली की शाही सरकार भारतवर्ष के सभी सामन्तिक राज्यों की रक्षा और नियंत्रण करती थी, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद जब बादशाह केवल एक छाया मात्र रह गया, तब रियासतों को अनुशासन में रखने वाली शक्ति समाप्त हो गयी। अब तक जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं एवं आपसी प्रतिस्पर्द्धाएं रूकी हुई थी, वे निर्बाध रूप से फूट पड़ी। दिसम्बर १७५६ ई० में शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह ने बनेड़ा पर

---

१ बनेड़ा के सामन्तों को औरंगजेब द्वारा 'राजा' का खिताब प्रदान किया गया था तथा महाराणा भीमसिंह ने उन्हें 'राजाधिराज' के खिताब से विभूषित किया था।

२ कर्नल वाल्टर ने 'मआसिर-ए-आलमगीर' के आधार पर राजा भीमसिंह को पांच हजारी मन्सब देने का लिखा है। ओझाजी ने लिखा है कि राजा भीमसिंह के देहान्त होने तक उसका मन्सब पांच हजारी हो गया था, किन्तु बनेड़ा के राजाधिराज अमरसिंह द्वारा अप्रेल १८८९ में भारत सरकार को प्रस्तुत अपने मेमोरियल में चार हजारी मन्सब का लिखा है (डॉ० के० एस० गुप्ता का संग्रहालय, उदयपुर)

३ ओझा: उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग दूसरा, पृ० ९३४

४ वही।

आक्रमण कर १६ दिसम्बर, १७५६ ई० को उस पर अधिकार कर लिया। राजा सरदारसिंह भाग कर रूपाहेली चला गया और वहां से उदयपुर जाकर महाराणा के पास शरण ली[1]। महाराणा जगतसिंह (दूसरे) ने राजा सरदारसिंह की इस शर्त पर मदद करना स्वीकार किया कि वह महाराणा की प्रभुसत्ता स्वीकार करेगा और तत्पश्चात् मेवाड़ राज्य की सेना की मदद से २ जनवरी, १७५७ ई० को बनेड़ा पुन: राजा सरदारसिंह को सौंप दिया[2]। महाराणा जगतसिंह बनेड़ा से अपने अधीनस्थ सम्बन्धों को सुदृढ़ करने की दृष्टि से सलूम्बर के रावत केसरीसिंह के द्वारा राजा सरदारसिंह को उदयपुर आमंत्रित किया। राजा सरदारसिंह ने महाराणा से भेंट की, उस समय महाराणा ने बनेड़ा के राजा को अपनी गद्दी के सामने बैठने का विशेषाधिकार प्रदान किया तथा राजा सरदारसिंह के साथ जो अन्य नौकर-चाकर थे उन्हें भी दरबार में बैठने का अधिकार प्रदान किया[3]।

सन् १७५८ ई० में राजा सरदारसिंह की मृत्यु हो गयी तथा राजा रायसिंह बनेड़ा का स्वामी हुआ। इसके कुछ ही समय पश्चात् महाराणा अरिसिंह मेवाड़ की गद्दी पर आसीन हुए। महाराणा ने अपने दुर्व्यवहार के कारण कई सामन्तों को अपना विरोधी बना लिया। विरोधी सरदारों ने महाराणा को पदच्युत करने के लिये स्वर्गीय महाराणा राजसिंह (दूसरे) के मृत्योपरान्त उत्पन्न पुत्र रतनसिंह को मेवाड़ की गद्दी का दावेदार घोषित कर दिया। इस अवसर पर मेवाड़ के सरदार स्पष्टत: दो दलों में विभक्त हो गये तथा प्रत्येक दल बनेड़ा के राजा को अपने पक्ष में लेने का प्रयत्न करने लगा। राजा रायसिंह अवसर से लाभ उठाना अच्छी तरह जानता था। अतः महाराणा ने राजा रायसिंह को अपने पक्ष में करने के लिये कई विशेषाधिकार प्रदान किये। बनेड़ा राजा को नालकी (पालकी की तरह) रखने का विशेषाधिकार प्रदान किया।[4] यह विशेषाधिकार मेवाड़ में शाहपुरा के अतिरिक्त किसी भी अन्य सामन्त को प्राप्त नहीं था[5]। महाराणा ने बनेड़ा के राजा को

---

१ राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग्ज, जोधपुर सेशन-१९६७, पृ० ७०

२ वही, पृ० ७१

३ डॉ० के० एस० गुप्ता का संग्रहालय, उदयपुर– राजाधिराज अमरसिंह द्वारा अप्रेल १८८६ में भारत सरकार को प्रस्तुत मेमोरियल।
बनेड़ा राजा के निम्न नोकरों को दरबार में बैठने का विशेषाधिकार प्रदान किया गया:– चार सरदार, एक पुरोहित अथवा परिवार का पुजारी, चार मुत्सदी अथवा एहलकार। (डॉ० के० एस० गुप्ता का संग्रहालय, उदयपुर, रावत भीमसिंह का बनेड़ा राजा के नाम पत्र– माघ वदी २ संवत् १८४२)

४ बनेड़ा संग्रहालय के अभिलेख– प्रथम भाग, पृ० ७६

५ राजपुताना एजेन्सी रेकार्ड, नई दिल्ली– सन् १८५७ की फाईल नं० ८, खण्ड दूसरा, पृ० ९९–१००

यह भी विशेषाधिकार प्रदान किया कि जब भी महाराणा जयपुर और जोधपुर के महाराजाओं से मिलेंगे, बनेड़ा के राजा महाराणा की गद्दी पर उनके साथ बैठेंगे[1]। इसके अतिरिक्त बनेड़ा के राजा जब भी महाराणा से मिलने आयेंगे, महाराणा उनके स्वागत के लिये दरवाजे तक आयेंगे और यदि महाराणा केम्प में होंगे तो महाराणा अपने डेरे से बाहर आकर बनेड़ा के राजा का स्वागत करेंगे[2]। बनेड़ा राजा को यह भी विशेषाधिकार प्रदान किया गया कि बनेड़ा राजाओं को 'तलवार बन्धाई' अन्य सामन्तों की तरह उदयपुर में नहीं होगी वरन् पहले स्वयं महाराणा उदयपुर से बनेड़ा राजा के लिये तलवार अन्य लवाजमों[3] सहित बनेड़ा भेजेंगे, वहां पर बनेड़ा के राजा 'तलवार बन्धाई' की रस्म पूरी करने के पश्चात् उदयपुर आकर महाराणा के समक्ष उपस्थित होंगे[4]। इस प्रकार महाराणा अरिसिंह ने बनेड़ा के राजा की सहायता प्राप्त करने के लिये उसे अनेक विशेषाधिकार प्रदान किये। राजा रायसिंह उज्जैन के युद्ध में महाराणा की ओर से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ[5]। राजा रायसिंह के पश्चात् राजा हमीरसिंह तथा राजा हमीरसिंह के पश्चात् राजा भीमसिंह बनेड़ा का स्वामी हुआ।

महाराणा भीमसिंह ने बनेड़ा के राजा भीमसिंह को पत्र लिख कर यह भी सूचित किया था कि पूर्व की भाँति अब भविष्य में भी बनेड़ा राजा से 'तलवार बन्धाई' की रकम वसूल नहीं की जायेगी[6]। इससे यह स्पष्ट होता है कि बनेड़ा के राजा तलवार बन्धाई की रकम से मुक्त थे, जबकि मेवाड़ के कुछ सामन्तों को देनी पड़ती थी। यह विशेषाधिकार मेवाड़ के कुछ ही सामन्तों को प्राप्त था। बनेड़ा के राजाओं को महाराणा की उपस्थिति में चमर हिलाने तथा त्रिपोलिया दरवाजे से आगे तक नगारा बजाने का विशेषाधिकार

---

१ बनेड़ा संग्रहालय के अभिलेख– प्रथम भाग, पृ० ७६

२ वही, पृ० ७७

३ बनेड़ा राजा की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी को महाराणा तलवार बन्धाई के लिये निम्न लवाजमा भेजते थे:–
तलवार म्यान सहित, शौक की पोशाक, सरपेच, मोतियों की कंठी, एक घोड़ों का जोड़ा तथा एक हाथी।
(डॉ० के० एस० गुप्ता का संग्रहालय, उदयपुर, महाराणा भीमसिंह का बनेड़ा के राजा भीमसिंह के नाम पत्र, चेत सुदी ६, संवत् १८६३)

४ कर्नल वाल्टर: चीफ्स आफ मेवाड़, पृ० १२

५ ओझा: उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग दूसरा, पृ० ६३४

६ डॉ० के० एस० गुप्ता का संग्रहालय, उदयपुर, महाराणा भीमसिंह का बनेड़ा राजा भीमसिंह के नाम पत्र, चैत सुदी ६, संवत् १८६३

प्राप्त था किन्तु सन् १८१८ ई० की आंग्ल-मेवाड़ संधि के पश्चात् कर्नल टाड, जो मेवाड़ का प्रथम पोलिटिकल एजेन्ट था, दिसम्बर सन् १८१८ ई० में बनेड़ा की यात्रा की, तथा मेवाड़ के अन्य सामन्तों के विरोध के कारण, बनेड़ा के राजा को इस बात के लिये सहमत कर लिया कि महाराणा की उपस्थिति में बनेड़ा का चमर नहीं हिलाया जायेगा तथा त्रिपोलिया दरवाजे से आगे बनेड़ा का नगारा नहीं बजाया जायेगा[1]। त्यौहारों एवं अन्य उत्सवों पर जब मेवाड़ के सामन्त महाराणा की सेवा में जाते थे तब बारी-बारी प्रत्येक रात्रि में महाराणा के महल का पहरा देते थे तथा प्रातः अपनी हवेली में लौट आते थे, किन्तु बनेड़ा के राजा इस प्रकार की सेवा से मुक्त थे[2]।

इस प्रकार बनेड़ा राजा को राज्य के जुलूस इत्यादि में निम्नलिखित चिन्ह रखने का भी विशेषाधिकार था[3]:--

१. जरप चांदी का २. धूपखेड़ी ३. चमर
४. बन्दूकें ५. चरी रूपे की ६. हतलदार
७. सूरजमुखी[4] ८. नालकी

मुझे डॉ० के० एस० गुप्ता, उदयपुर द्वारा संग्रहित अभिलेखों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन अभिलेखों में मुझे एक ऐसा प्रलेख प्राप्त हुआ जिसमें बनेड़ा के राजाओं के सभी विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है। वह प्रलेख पाठकों की सुविधा के लिये यहाँ प्रकाशित कर रहा हूं:—

सिधे श्री श्री हजूर सु राजाधराज जगतसिंहजी की राह मरजाद की फरद मालम हुई सो पाछों हुकम हुवो सो आगे राजाधराज अमरसिंहजी सु लेन आज ताई चलती रही तीकी मालम करो सो बीचार ने लखाई भोपालसिंहजी, सादुलसिंहजी, गुमानसिंहजी धाभाई कासीराम चौधरी उरजरणसिंह ……………

(१) खिताब राजाधराज की माहाराणाजी श्री भीवसिंह जी बखसी

(२) सामा पधारे सो राजाधराज मुजरो करे श्री जी जुहार करे डोवढी उपर पधारे घोड़ा मुं उतर राजाधराज पगा लागे नजर करे नछरावल करे अर श्री जी बाह पसाव करे पछे दूजा दस्तूर परमाणे नजर करे

---

१ डॉ० के० एस० गुप्ता का संग्रहालय, उदयपुर– राजाधिराज अमरसिंह द्वारा अप्रेल १८८६ में भारत सरकार को प्रस्तुत मेमोरियल।

२ वही।

३ राजपुताना एजेन्सी रेकार्ड, नई दिल्ली, सन् १८५७ की फाईल नं० ८, खण्ड दूसरा, पृ० ९९-१००

४ यह चिन्ह रखने का विशेषाधिकार बनेड़ा के अतिरिक्त मेवाड़ के किसी भी अन्य सामंत को नहीं था (राजपुताना एजेन्सी रेकार्ड, नई दिल्ली, सन् १८५७ की फाईल नं० ८, खण्ड दूसरा, पृ० ९९–१००)

(३) सीख देवा डेरे पधारे सो राजाधराज सामा आये श्री जी घोड़ा सु उतरे जठे नजर करे पग मंड़ा करे पछे गादी ऊपर जाय बीराजे राजाधराज नजर करे नछरावल करे पछे दूजा भाई बेटा कामदार नजर करे जीको पानो पेली नजर होय जो बैठक वाला बठे दुजा उबा रह अोर घोड़ो सरोपाव नजर करे अतर बीड़ा नजर करे श्री जी राजाधराज ने बखसे राजाधराज श्री जी रा बागा रा दौरा के लगावे

(४) दरीखाना रो बीड़ो[1]

(५) सीख रौ बीड़ो

(६) दीवाली रे दिन हीड सीचाबा पधारे भाई बेटा सरस्ते अोर नजर नछरावल हवेली पधारे जी सरस्ते करे

(७) होदा रो हाथी खाली वा नीसान वा दुजारा हाथी होय सो हात्या सामिल चाले

(८) करणो चमर आरवी बाजा मेला आवे जदी तो ठाकुर श्री जगत सरोमण जी रा मंदर सुदी रहे अर अोरठे श्री जी का नजर देखाला सु माफ चमर तो कमर म्हे बांध लेवे अर करणो आगे राजाजी सु छेटी ले जावे वा श्री जी जलेब म्हे आय जावे

(९) नगारो तथा ऊंट की सुतरी सामा पधारे सो असबारी नजर आवे न माफक अर सामा नहीं पधारे तो सेर का दरवाजा सुदी अर असवारी म्हे श्री जी का नगारा पाछे रहे।

(१०) असवारी म्हे आगे मसल परमाणे चाले मुंड़ा आगे छड़ी सात सात रहे सीवाय होयसी श्री जी की जलेब म्हे रह कोतल एक रो दुवो है सो असवारी म्हे आपके चालेगा।

(११) पाटवी बेटा ने

(१२) सीख रो बीड़ो सरोपाव वा काका भाई कामदार वगेरा नाम परमाणे

(१३) अरजी लीखे जी के कोथली लखीरदार आसावरी गले फफुदी लखोटो छाप अरजी रा हास्या उपर हाथ अखसरा श्री जी की हजूर छोरू को पावा मुजरो मालम होवसी जी

(१४) श्री हज़ूर सु हाथ अखसरा लखसी तो रूको लखे अर सहीवाला लखे तो परवाना लखे

---

१. मेवाड़ के महाराणा, बनेड़ा के राजा तथा शाहपुरा के राजा को एक साथ बीड़ा प्रदान करते थे किन्तु अन्य मामलों में बनेड़ा के राजा को ही प्राथमिकता दी जाती थी। (डॉ० के० एस० गुप्ता का संग्रहालय, उदयपुर, महाराणा द्वारा बनेड़ा के राजा संग्रामसिंह को पत्र, माघ सुदी ४, संवत् १८८९)

(१५) हांकार की कलंगी[1] को डवोब नाग जक
(१६) नाम बगसे जदे मोती बगसे बलेणो घोड़ो बगसे
(१७) चोकी मंगलवार की उमरावा सरस्ते
(१८) मजमानी रुपया २००) दोय सो मीठाई मण ।।)
(१९) बलेणो हाथी १ घोड़ो येक
(२०) श्री जी रावला म्हे पधारे जदी भाई बेटा सरस्ते माय ले पधारे डीला ग्रर पाटवी बेटो
(२१) ग्रसवारी की नाव की ग्रगाड़ी उपर डावे खुणो बेटक
(२२) तरवार बदे जदी सरपाव १ गेणा में सरपेच १ मोत्यारी कंठी १ हाथी १ येक घोड़ो १ येक तरवार १ येक तनाल मुनाल सुदी
(२३) घडावल सहर मे वा फोज में बाजे
(२४) पाग को बंद उमेदशाही थको ग्रर दसरावे ग्रमरसाई
(२५) मोटा मीलाप म्हे जेपुर जोधपुर ग्रावे जदी तो हाजर रणो दुजु प्रसाव मागे ग्रा श्री हजूर नबेसर कर बगसी
(२६) जीमणा मीसल डेरा भाई बेटा सरस्ते
(२७) फोज की मुकती मारी देन मेले जदे फोज बलाणो बगमे
(२८) पहला काम म्हे सरपाव छोगा तुर री
(२९) सायपुरा सु जनानुं ग्रावे जदी श्री रावला म्हे बुलावा वगैरे सारी दस्तूर भाई बेटा सरस्ते
(३०) हवेली का दरवाजा ग्रागे सवारी पदारे तो मुजरो मालम करावे सो सीख रो बीड़ो छडीदार ले ग्रावे

ग्रतरी राह मुरजाद ही सी सो में मडाय दी दी ग्रर घणी सावत करी जी परमाणे घणी बाते ग्रर मे ई चालागा में मडाय दी दी ग्रर घणी सावत करी जी परमाणे घणी बाते ग्रर मेई चालागा मे मडाई सो घणी सावत करी मुरजी सीवाय करी फेर माकी ग्ररज छ घणी करेगा

(१) श्री हजूर सुं राजाधराज जगतसिह जी के राह मुरजाद की फरद मालम हुई सो ई परमाणे सायपुरा में राखवारो तथा मेवाड़ बना परदेस ले जावा को हुकम हुवो भोपालसिंहजी सादुलसिंहजी गुमानसिंहजी धाभाई कासीराम चौधरी उरजणसिह
(२) नालका १ मोरछल १ ग्रम्बा वाडी रो हाथी पातशाही १ हाथ रकीब वासी १ छडी वा चमर की डाडी सोना की मुरातब ग्रागे हे सी सावत १ ढाल फोज की

---

१ जब कभी कोई सामन्त युद्ध में ग्रपूर्व शौर्य प्रदर्शित करता था ग्रथवा उसके व्यवहार से शौर्य प्रदर्शित होता था तो महाराणा उसे हांकार की कलंगी प्रदान करते थे ।

लिखंत राजाधराज जगतसिंहजी का फोजदारा कामदारा ग्रा फरद न छे करी दसखत कर दीदा जो ई परमाणे चालसी राजाधराज का हुकम सु काका भाई धाभाई का मदार मालम वे न ग्रखर मा ग्रा दसखत पंचोली बलदेव का फागण सुद ८ सने संवत् १९०८ का ई परमाणे ग्रखर लख नजर कीदा सो ग्रसल तो श्री हजूर म्हे राख ग्रर ई की ग्रा नकल कर छापकर देवाणी है सो ई परमाणे बरतायगा हुवे प्रोथ सोमनाथ लिखता सइवाला रामसिंह सुरतसींघोत संवत् १९०८ फागण सुद ८ सुने

उपर्युक्त प्रलेख से बनेड़ा के राजाधिराज के महाराणा के प्रति जो कर्त्तव्य थे उनका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

शोधकर्त्ता, इतिहास विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

● प्रो० सुशीलकुमार सुल्लेरे

पौराणिक आख्यानों में कालञ्जर

प्राचीन भारतीय इतिहास के साहित्यिक साधनों में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक साहित्य में भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की निधि सन्निहित है। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण पुराणों में कालञ्जर का अनेक रूपों में उल्लेख है। पौराणिक साहित्य में कालञ्जर के सम्बन्ध में निम्न रूपों में आख्यान उपलब्ध होते हैं :—

सृष्टि विषयक आख्यान–

कालञ्जर से सम्बन्धित यह आख्यान भागवत पुराण में है[1]–"सर्व प्रथम प्रजापति-दक्ष ने जल, स्थल और आकाश में रहने वाले देवताओं, असुरों एवं मनुष्यों आदि की सृष्टि संकल्प के द्वारा की। लेकिन जब उन्होंने देखा कि संकल्पजन्य सृष्टि में वृद्धि नहीं हो रही है, तब उन्होंने विन्ध्याचल के निकटवर्ती पर्वत पर जाकर कठिन तपस्या की। वहां पर "अघमर्षण" नामक पवित्र एवं पापनाश करने वाला श्रेष्ठ तीर्थ है, जो समस्त पापों को हरने वाला है। वहीं पर प्रजापति ने आचमन स्नान के द्वारा विष्णु को तुष्ट किया। भगवान ने इस पर प्रसन्न होकर कहा कि आज से मैं सृष्टि का नियम बदले देता हूं, आज से स्त्री-पुरुष के संयोग से सृष्टि चलेगी।" सृजन का यह उद्घोष कालञ्जर क्षेत्र में स्थित "अघमर्षण" नामक स्थान में हुआ था। "अघमर्षण" शब्द का अर्थ पापों को नष्ट करने वाला है। पद्म पुराण में कालञ्जर को "ब्रह्मक्षेत्र"[2] एवं स्कन्द पुराण में "पुरुषोत्तम

---

१ मनसैवासृजत्पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः। देवासुरमनुष्यादीन्नभस्थलजलौकस तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः। विन्ध्यपादानुव्रज्य सोऽचरद् दुष्करं तपः।। तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम्। उपस्पृश्यानुसवनं तपसातौषयद्धरिम्।। अस्तौषीद्धंसगुहयैन भगवन्तमधोक्षजम्। तुभ्य तदमिधास्यामि कस्यातुष्यद् य तो हरिः।।

—भागवत पुराण–६।४।१९–२२

२ कालञ्जरो ब्रह्मक्षेत्रं मथुरो नाम वाहकः।
माया कान्वी तथाऽन्यानि दिव्यानि विविधानि च।।

—पद्म पुराण (भूमि खण्ड) ९०।३४

क्षेत्र" की संज्ञा दी गई हैं ।[1] पद्म पुराण में कालञ्जर को महान् पातकों के विनाश में समर्थ[2] एवं महापापों को संदग्ध[3] करने वाला बतलाया गया है । गरुड पुराण में सम्पूर्ण प्रकार के पापों से मुक्त करके मोक्ष प्रदान करने वाला बतलाया गया है ।[4] इन साक्ष्यों के आधार पर "अघमर्षण" और कालञ्जर का तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है ।

ऊखल सम्बन्धी आख्यान–

पद्म पुराण में कालञ्जर की गणना नो ऊखलों में की गई है ।[5] ऊखल पवित्र स्थल माने गये हैं, जहां पर सृष्टि के नियामक अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेकर विनाश करते हैं, तथा प्रलयंकारी जल की बाढ़ को स्तम्भित किये रहते हैं । जब प्रलय होता हैं, तब संपूर्ण सृष्टि जलमग्न हो जाती है । वह जल इन्हीं ऊखलों से फूट पड़ेगा तथा सृष्टि उस जल में डूब जायगी ।[6] इस प्रकार से कालञ्जर सृष्टि एवं प्रलय दोनों से सम्बन्धित है ।

कालञ्जर तीर्थ–

महाभारत के वनपर्व के तीर्थयात्रा प्रसंग में कालञ्जर लोकविश्रुत पर्वत के रूप में वर्णित हैं–"कालञ्जर नाम का पर्वत लोक विख्यात है, वहां पर देवह्रद में स्नान करने पर एक सहस्त्र गोदान का लाभ प्राप्त होता है, जो स्नान करता है, ऐसा प्राणी निश्चित ही

---

१ कालञ्जरं प्रभासश्च तथा बदरिकाश्रमः ।
महालयस्तथोंकारक्षेत्रं वै पौरुषत्तमम् ।।
—स्कन्द पुराण, ४।६।२४

२ सामर्थ्य नास्ति तीर्थानां महापातक नाशने ।
विदुराद्यास्ततस्ते तु गताः कालंजरं गिरिम् ।।–पद्म पुराण (भूमि खण्ड) ९१।३६

३ कालंजरं समासाद्या निवसन्ति सुदुःखिता ।
महापापैस्तु संदग्धा हाहाभूता विचेतनाः ।।–पद्म पुराण (भूमि खण्ड) ९२।१

४ गौकर्ण, परमं तीर्थं, तीर्थं माहिष्मतीपुरी । कालंजर महातीर्थं शुक्रतीर्थमनुत्तमम् ।।
कृते शोचे मुक्तिदश्च शांर्ङ्गधारी तदन्तिके । विरजं सर्वदं तीर्थं स्वर्णाक्षं तीर्थमुतमम् ।।
—गरुड पुराण–४४।१८–१९

५ रेणुका, सूकर, काशी, काली, काल, वटेश्वराः ।
कालंजर-महाकाला वूखलानव कीर्तिताः ।। –क.आ.स.रि, भाग २१, पृष्ठ २२

६ इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, भाग १४, पृष्ठ ३१०–३१२

स्वर्गलोक का अधिकारी हो जाता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है।"[१] महाभारत में कालञ्जर गिरि पर "हिरण्यबिन्दु" का उल्लेख है—"गंगा यमुना के संगम पर प्रसिद्ध प्रयाग स्थित है, जहाँ पर ब्रह्माजी ने यज्ञ किया था। अगस्त्याश्रम और तापसारण्य के अनन्तर कालञ्जर गिरि पर "हिरण्यबिन्दु" का वर्णन है।"[२] महाभारत में ही कालञ्जर स्नान एवं तर्पण का उल्लेख है—"गंगा यमुना के संगम तीर्थ में तथा कालञ्जर में एक मास तक स्नान एवं तर्पण करने से अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त होता है।"[३] रामायण के अनुसार श्री राम ने ब्राह्मण को कालञ्जर के कुलपति के पद पर अभिषिक्त किया था।[४] महाकाव्यों के कालञ्जर सम्बन्धी उल्लेख तत्कालीन युग में कालञ्जर के धार्मिक महत्त्व एवं तीर्थस्थल स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण पुराणों में कालञ्जर का उल्लेख तीर्थ–स्थल रूप में हुआ है। गरुड़ पुराण में कालञ्जर को "महातीर्थ"[५] अग्नि पुराण में "परमतीर्थ"[६] एवं पद्म पुराण में "उत्तम तीर्थ"[७] की संज्ञा

---

१ ततः कालंजरं गत्वा पर्वतं लोकविश्रुतम।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्त्रफलं लभेत॥
आत्मन् साधयेत्तत्र गिरौ कालंजरे नृप।
स्वर्गलोके महीयते नरो नाऽस्त्यत्र संशयः॥
—महाभारत (पूना) अरण्यक पर्व ३।८३।५३।५४

२ पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुतमम्। गंगायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम्॥
यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः। प्रयागमिति विख्यातं तस्यमादभरतसत्तम्
अगस्त्यस्य च राजेन्द्र तत्राश्रमवरो महान। हिरण्यबिन्दु कथितो गिरौ कालंजरे नृप॥
—महाभारत (पूना) अरण्यक पर्व ३।८५। १३-१५

३ गंगायमुनयोस्तीर्थे तथा कालन्जरे गिरौ। अश्वमेधामवाप्रोति तत्र मासं कृतोदकः॥
—महाभारत (पूना) अनुशासन पर्व १३।२६।३३

४ कालन्जरे महाराज। कौलपत्यं प्रदीयताम्। एतच्छ्रुत्वा तु रामेण कौलपत्यंऽभिषेचितः।
–वाल्मीकि रामायण, ७, प्रक्षिप्त सर्ग, २।३९

५ गोकर्ण परमं तीर्थं, तीर्थं माहिष्मतीपुरी। कालञ्जर महातीर्थं शुक्रतीर्थमनुतमम्॥
—गरुड पुराण, ४४।१८

६ कालंजर मुन्जवटं सूर्पारकं परम।
मन्दाकिनी चित्रकूट श्रृंगवेरपुरम् परम्॥ —अग्नि पुराण, १०९।२३

७ केदार तीर्थमुग्राख्यं कालन्जरमनुतमम्।
सारस्वतं प्रभासं च रूद्रकर्ण ह्यंशुभम्॥ —पद्म पुराण (आदि खण्ड), ३८।१५

दी गई हैं। पद्म पुराण में ही कालञ्जर को "हितकाम्यया"[१] एवं वहां जाने पर सहस्त्र गोदान का पुण्य देने वाला, आत्म साधना का स्थल तथा इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं कि स्वर्ग प्राप्त होता है।[२] वायु पुराण[३] एवं लिंग पुराण[४] में कालञ्जर को "शिखिरोत्तम" की संज्ञा दी गई है। पद्म पुराण में जम्बूद्वीपगत तीर्थों[५] में एवं यहां पर माघ स्नान[६] का उल्लेख है। वायु पुराण[७] एवं ब्रह्माण्ड पुराण[८] में यहां पर यत्नपूर्वक श्राद्धदान का वर्णन है। कालञ्जर महात्म्य के अनुसार यहाँ पर सब तीर्थों का फल एवं अनन्त पुण्य सहज ही प्राप्त होता है।[९] कालञ्जरगिरि के तीर्थस्थल होने के कारण पूर्व में हिन्दू मन्दिरों से पूर्ण रहा होगा, दुर्ग प्राचीर में लगे हुए, अलंकृत स्तम्भों एवं अन्य उत्कीर्ण अवशेष जो आरम्भिक काल के हैं, इसके प्रमाण है।[१०]

जड़ भरत का आख्यान–

कालञ्जर से सम्बन्धित यह आख्यान भागवत पुराण में मिलता है। यह आख्यान इस प्रकार से है–"नेपाल के निकटवर्ती गण्डक नदी थी। इसके समीप पुलहाश्रम था।

---

१ तदपि संस्थाप्यानिवै त्वयैव हितकाम्यया।
नैमिषे यानि तीर्थानि यानि कालन्जरे गिरौ।
सरस्वती तटे यानि स्थापयाम्यहमत्र वै ॥
–पद्म पुराण (उत्तर खण्ड), १९६।१४

२ तत्र कालंजर गत्वा गौसहस्त्रफलम् लभेत्।
आत्मन् साध्ये तत्र गिरौ कालन्जरे नृप ॥
स्वर्गलोक महीयेत नरौ नास्त्यत्र संशयः ॥
–पद्म पुराण (आदि खण्ड), ३९।५४

३ वायु पुराण— २३।२०४,

४ लिंग पुराण — २४।१०९

५ धूम्रं मित्रमदं तद्व द्वं जनाथं टृषद्वरम्।
क्षिप्रानदी महाकालं तथा कालन्जरोगिरिः ॥
—पद्म पुराण (उत्तर खण्ड) १३२।६३

६ शरयूर्यमुना चैव द्वारकाऽमरावती। सरस्वती सिन्धु कावेरी गंगासागर संगमः। काञ्ची त्रैयम्बकं चैव सप्त गोदावरीतटम्। कालञ्जरः प्रभासश्च तथा बदरिकाश्रमः ॥
–पद्म पुराण (उत्तर खण्ड), २३७।६-७

७ वायु पुराण– ७७।९३

८ ब्रह्माण्ड पुराण– ३।१३।१०.

९ सर्व तीर्थफलं तत्र पुण्यं चैव ह्यनन्तकम ॥ –कालन्जर महात्म्य–अध्याय १

१० इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, भाग, १४, पृ०–३१०-३१३।

यहां पर शालिग्राम शिलायें बहुतायत में पायी जाती थी, इस कारण से यह शालिग्राम तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध था। एक बार राजा जड़ भरत यहां पर आये। इसी समय एक गर्भिणी मृगी पानी पीने के लिये आयी। उसी समय दूसरे किनारे पर सिंह पानी पी रहा था। मृगी को देखकर सिंह ने गर्जना की। भयभीत हिरणी ने भय के कारण जैसे ही छलांग लगाई, उसके योनि स्खलन से मृगशावक गिर पड़ा। राजा जड़ भरत मृगशावक को देखकर द्रवित हो उठे। उन्होंने तप ज्ञान तथा धर्म को छोड़कर अपना सारा ध्यान मृगशावक पर केन्द्रित कर दिया। इस कारण मृत्यु होने पर उनका जन्म मृग योनी में कालञ्जर गिरी पर हुआ।"[१] जब राजा जड़ भरत को अपनी दुर्बलता का ज्ञान हुआ तो उन्होंने शालिग्राम तीर्थ पुलहाश्रम में जाकर जल समाधि ली।[२]

सप्त मृगों का आख्यान--

यह आख्यान कालञ्जर दुर्ग में स्थित "मृगधारा" नामक स्थान से सम्बन्धित है। यह आख्यान इस प्रकार से है-"सतयुग में सात ऋषि थे, जिन्होंने अपने आचार्य को अप्रसन्न किया था, इस कारण उन्हें श्राप दिया था।" इस पौराणिक कथा के पीछे ग्रह पूजा की छाया है। उसके नाम कश्यप, अत्री, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भारद्वाज थे। ये ज्योतिष के अनुसार नक्षत्रों के स्वामी हैं।[3] इन ऋषियों के सात जन्म हुए। ये दूसरे जन्म में दशार्ण वन में सात व्याध हुए, इसके बाद कालञ्जर में सात मृग हुए, लंका में बतख हुए, तदुपरान्त मानसरोवर में हंस और अन्त में कुरुक्षेत्र में ब्राह्मण हुए। इन्होंने अन्तिम जन्म में मोक्ष प्राप्त किया।[४] यह आख्यान हमें ब्राह्मणों, जैनों और बौद्धों में सामान्य रूप से उपलब्ध होता है। हरिवंश पुराण में इस आख्यान का वर्णन इस प्रकार से है- "शुभ कर्मों के कारण वे पूर्व जन्म का स्मरण रखने वाले मृग बनकर उत्पन्न हुए (पहले हिंसा के द्वारा दूसरों को) त्रास देने के कारण वे रमणीक कालञ्जर पर्वत पर सदा उद्विग्न रहते थे। इन मृगों के नाम उन्मुख, नित्यवित्रस्त, स्तब्धकर्ण, विलोचन, पण्डित, घस्मर और नादी थे। वे सब समान रूप से धर्म का पालन करते और शुभ कर्मों में तत्पर रहते एवं योगधर्म का आश्रय लेकर वन में इधर-उधर घूमते थे। इन मृगों ने हल्का आहार तथा मरू की साधना करके तपस्या में तत्पर हो, वहां अपने प्राणत्याग दिये। राजन जल

---

१ भागवत पुराण- ५।८। १-३०

२ इत्यैव निगूढ़ निर्वेदो विसृज्य मृग मातरं पुनर्मगवत्क्षेत्रमुपशीलमुनिगणैदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्पत्याजगाम ॥ -भागवत पुराण-५ वां स्कन्ध, ८।३०

३ जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, भाग, १७,१८४८, पृ० १५

४ इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, भाग १४, पृ० ३१०-३१३

तक न पीने की साधना करने वाले उन मृगों के पद चिन्ह कालञ्जर पर्वत पर अब भी पूर्ववत दिखाई देते हैं।[१] इनके सातों जन्मों का उल्लेख हमें हरिवंश पुराण[२], पद्म पुराण[३] एवं अग्नि पुराण[४] में मिलता है—जो दर्शाण देश में व्याध, कालञ्जर पर्वत पर मृग, शरद्द्वीप में चक्रवाक तथा मानसरोवर में हंस हुए। उनमें हम (चार) तो कुरूक्षेत्र में वेदपारगामी ब्राह्मण होकर दीर्घ मार्ग पर चले, तुम (तीन) क्यों कष्ट पा रहे हो ? जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र में यह आख्यान दूसरे रूप में कीत्र एवं सम्भूत की कथा में मिलता है, जिनमें वे समान जन्मों में रहे।[५] इस अनुसार "हम दर्शाण में दास, उसके बाद कालञ्जर में मृग, उसके बाद मृगगंगा के तट पर हंस और काशी में श्वापाक हुए।"[६]

कालञ्जर वन

वन के रूप में कालञ्जर का उल्लेख मत्स्य पुराण[७] एवं शिवोपनिषद[८] में हुआ है।

---

१ शुभेन कर्मणा तेनजाता जातिस्मरामृगा। त्रासादुत्पाद्य संविग्नः रम्येकालंजरे गिरौ। उन्मुखो नित्यवित्रस्तः स्तब्धकर्णो विलोचनः। पण्डितो धस्मरोनादिनामतस्तेऽभवनमृगाः ॥
ते सर्वे शुभकर्मणः सधर्माणो वनेचराः। योगधर्ममनुप्राप्ता विहरन्तिस्म तत्रह। जहुः प्राणान्मरू साध्य लब्धाहारास्तपस्वितः। तेषां मरू साधयतां पदस्थानानि भारत। तथैवाद्यापि दृश्यन्ते गिरौ कालन्जरे नृप ॥
—हरिवंश पुराण- १।२१-२४, २५, २६, २७॥

२ सप्त व्याधा दशारण्ये मृगा कालञ्जरे गिरौ। चक्रवाकाः शरद्द्वीपे हसांसरिस मानसे॥
तेऽमि जाताः कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणाः वेदपारगाः। प्रस्थिता दीर्घमह्यवानं यूयं किमवसीदथ॥
—हरिवंश पुराण—१।२०-२१

३ पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड), ४७,।३०२, १०।६१-६२, १०।६६,

४ अग्नि पुराण— ११७।५५

५ सेक्रिड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग ४५, पृ० ५७, पाद टिप्पणी, ३

६ सेक्रिड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग, ४५, पृ० ५७।

७ अमरं च महाकालं तथा कायावरोहणम्।
कालंजरवनं चैव शंङ्कुकर्णस्थलेश्वरम्॥
एतानि च पवित्राणि सान्निध्याद्धि मम् प्रिये॥
—मत्स्य पुराण— १८१।२६-२७

८ कालंजरवने— शिवोपनिषद (वैं० प० को०)

महाभारत में उल्लिखित तुंगकारण्य[1] एवं तापसारण्य[2] का तादात्म्य कालञ्जर के साथ किया जा सकता है।

शिव एवं काली का अधिवास

वामन पुराण में "कालंजरे नीलकंठम्" का वर्णन है।[3] नीलकंठ का मन्दिर ही कालंजर का प्रमुख स्थल है, तथा कालंजर में नीलकंठ की मूर्ति है। खजुराहो अभिलेख में नीलकण्ठ के अधिवास कालंजर का उल्लेख है—"उसने सरलतापूर्वक कालंजर पर्वत को जीत लिया जो शिव का अधिवास तथा मध्यान्ह सूर्य की प्रगति रोकने में समर्थ है।[4] कालंजर महात्म्य के उल्लेख के अनुसार "दो कोस तक का विस्तृत वह क्षेत्र ही मेरा मन्दिर है। वह कालञ्जर के नाम से शिवसान्निध्य कराने वाला है।"[5] स्वयं का नाम भी शिव से उद्भूत है। पद्म पुराण[6], देवी भागवत पुराण[7], एवं मत्स्य पुराण[8] में कालञ्जर को काली का स्थान बतलाया गया है। इस प्रकार कालञ्जर शिव एवं काली का अधिवास है।

अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
शासकीय विज्ञान महाविद्यालय
रायपुर (म. प्र.)

---

१ तदरण्यं प्रविष्टस्य तुंगकराजसत्तम्। पापं प्रणश्यते सर्वें स्त्रियोंपुरुषस्यवा॥
—महाभारत, ३.८३.५०

२ महाभारत (पूना) अरण्यक पर्व ३.८५.१५

३ कालंजरे नीलकंठम्– वामन पुराण– ६०।२७

४ यस्मिन्मध्यन्दिने स्यातरणिरनुदिन नीलकण्ठाधिवासं जग्राह क्रीड्या यस्तिलकमिव भुव किंच कालंजराद्रि॥ एपिग्राफिया इंडिका–भाग १, पृ० १२७-२८, श्लोक ३१

५ अर्धयोजनविस्तीर्णं तत् क्षेत्रं मम् मन्दिरम्। कालंजरेति विख्यातं मुक्तिदं शिवसन्निधो॥ कालंजर महात्म्य, १ अ०

६ जया वराह शैले तु कमला कमलालये। रूद्रकोट्यां तु रूद्राणी, काली कालंजरे तथा। पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड) १७।१९६

७ वराह शैले तु जया कमला कमलालये। रूद्राणी रूद्रकोट्यां तु काली कालंजरे तथा॥ कुरण्डले त्रिसन्ध्या स्यान्माकोटे मुकेटेश्वरी। मण्डलेशे शाण्डकी स्यात् कालंजरे पुनः॥ देवी भागवत पुराण (उत्तरार्द्ध) ३०।६२, ३८।३६

८ रूद्रकोट्यां तु रूद्राणी काली कालंजरे गिरौ। —मत्स्य पुराण १३।३२

● गोपाल नारायण बहुरा

कविराय प्राणनाथ कृत–'विसन विलास काव्य'

'मरु भारती' वर्ष ५, अंक १, अप्रेल १९५७ ई. में हमने कविवर प्राणनाथ की कतिपय रचनाओं सम्बन्धी सूचनाएं अंकित की थीं, उस समय जो विवरण दिया गया था, वह एक गुटके के आधार पर था, जिसमें कुलपति मिश्र और प्राणनाथ, दोनों की स्फुट रचनाएं संगृहीत थीं। जिन कृतियों का परिचय उक्त लेख में प्रस्तुत किया गया था, वे थीं– १-गिल्लानामा, २-शुकाष्टक, ३-चरण शीश संवाद, ४-नगर वर्णन और, ५ बेजारनामा। अब, महाराजा जयपुर के पोथीखाना स्थित ग्रन्थों के सूचीकरण प्रसंग में प्राणनाथ कृत अन्य बहुत सी रचनाओं और दो प्रबन्ध काव्य, 'राम विलास' एवं 'विसन विलास' देखने में आए हैं।

उक्त संग्रह में प्राणनाथ श्रोत्रिय की २७ कृतियां उपलब्ध हैं जिनकी सूची उनके प्राचीनतम प्रति संवत् सहित इस प्रकार हैं :–

१	अरिल्ल संग्रह,	१७२६ वि.	२	अन्योक्ति शतक	१७२६ वि.
३	काश्मीर दुर्दशा,	,,	४	कुरूप की पाती,	१७३७ वि.
५	गिल्लानामा,	,,	६	गुण क्रिया आलम,	१८ वीं. श.
७	गूढ़ शतक (सार्थ),	१७२२ वि.	८	झूलना,	१७२६ वि.
९	दूतिका चरित्र,	१७२९ वि.	१०	दूतिका लच्छन,	,, वि.
११	नित्य नवेली वर्णन,	,,	१२	पद्य (स्फुट) संग्रह,	१७३० वि.
१३	पहेली शतक,	१७२२ वि.	१४	पाती,	१७२६ वि.
१५	फूलपान झगड़ा,	१७४८ वि.	१६	मान कुतूहल,	१८ वीं श.
१७	मान महोत्सव,	१७२६ वि.	१८	राजतिलक वर्णन	१७२८ वि.
१९	राम विलास काव्य,	१७३१ वि.	२०	रेखता-संग्रह,	१७२६ वि.
२१	लीला हाव कवित्त,	१७२९ वि.	२२	विष्ठा विवेक,	१७३७ वि.
२३	वैद फजीहति,	१७३७ वि.	२४	विसन विलास काव्य,	१७४६ वि.
२५	शीश चरण संवाद,	,,	२६	शुकाष्टक,	१७२६ वि.
२७	स्वभाव चरित्र,	१७२६ वि.			

ऐसा लगता है कि प्राणनाथ मिर्जाराजा जयसिंह के समय में ही आम्बेर आ गये थे

और महाराजकुमार रामसिंह के पास रहने लगे थे। वह कुलपति मिश्र के सजातीय एवं बांधव थे। महाराजा जयसिंह के समय में रचित उनकी कृतियां तो हैं परन्तु वे प्रायः महाराजकुमार रामसिंह के प्रीत्यर्थ ही प्रणीत हैं। संवत् १७२४ वि. में जब रामसिंह गद्दी पर बैठे, तब से ही प्राणनाथ अधिक प्रकाश में आए। उपर्युक्त सूची में अधिकतर रचनाओं की प्रतियां संवत् १७२६ की हैं। अतः तभी वे राजकीय पुस्तक संग्रह में प्रविष्ट हुईं।

प्राणनाथ ने महाराजा रामसिंह के राजतिलक का प्रत्यक्षदर्शी के रूप में वर्णन किया और तत्पश्चात् भी अनेक कृतियों का निर्माण करके उनका मनोरञ्जन करते रहे। रामसिंह स्वयं बहुत अच्छे विद्वान् और रचनाकार थे। संस्कृत भाषा और साहित्य पर उनका विशिष्ट अधिकार था। भवभूतिकृत 'उत्तररामचरित' से प्रभावित 'जानकी राघवम्' नामक नाटक की रचना उन्होंने की थी जो अभी अज्ञात और अप्रकाशित है, प्रकाश में आने पर यह संस्कृत नाटक-साहित्य की मणिमालिका में एक प्रकाशमान रत्न के समान गुम्फित हो जाएगा। संस्कृत व्याकरण में शब्द और धातु मञ्जरियों के नाम से भी दो सरल रचनाएं महाराजकुमार रामसिंह ने अपनी आरम्भिक अवस्था में ही रच डाली थी। बाद में पेशवाओं और उनके प्रतिनिधियों के साथ उनका संस्कृत में पत्र-व्यवहार भी होता था। कविवर प्राणनाथ महत्त्वाकांक्षी परन्तु स्वाभिमानी व्यक्ति थे। वे राजकवि अथवा कविराय पदवी प्राप्त करने के इच्छुक थे परन्तु महाराजा रामसिंह का प्रौढ़ साहित्यिक ज्ञान, काव्य प्रतिभा और राजकीय मुसाहबों के प्रति कविजी का आलोचनात्मक रुख उनकी इच्छापूर्ति में बाधक बने रहे। वे जब भी दरबार में अपनी रचनाएं अर्पित करते महाराजा स्वयं अपने साहित्यिक अधिकार से उसमें त्रुटियां प्रदर्शित करते और कभी प्रसन्न होकर अनुकम्पा दिखाते तो मुसाहब लोग बीच में आ जाते थे। 'शुकाष्टक' और 'बेजारनामा' आदि रचनाओं में कवि ने ऐसी कठिनताओं के संकेत दिए हैं।

एक बात और भी है। प्राणनाथ महाकवि बिहारीलाल और कुलपति के रिश्तेदार (?) और समकालीन थे। उन वरिष्ठ कवियों के रहते भी इनकी अधिक पूछ नहीं हो पायी। महाराजा का रुझान भी संस्कृत काव्य और काव्य शास्त्र के प्रति अधिक रहा करता था।

संस्कृत में साहित्य–शास्त्र विषयक जितने भी ग्रन्थों की रचना हुई है उनमें मम्मटाचार्य प्रणीत 'काव्य-प्रकाश' सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ है। यद्यपि आगे चल कर विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' और पंडितराज जगन्नाथ विरचित 'रस गंगाधर' काव्य प्रकाश से भी प्रौढ़ और अधिक विवेचनात्मक शास्त्रीय ग्रन्थ माने गये हैं परन्तु 'काव्य-प्रकाश' ने जन-साधारण में जो स्थान प्राप्त कर लिया था उससे उसे कोई डिगा नहीं सका। 'काव्य प्रकाश' की कारिकाओं का ज्ञान प्राप्त करना शिक्षा का एक अनिवार्य अंग बन गया

था। रस, अलंकार और नायिका भेद का ज्ञान कराने के लिए 'काव्य प्रकाश' ही ऐसा ग्रन्थ था जिसके अध्ययन की दुहाई देकर नवीन कवि राज-दरबारों में प्रवेश पाते थे। यही कारण है कि संस्कृत के किसी भी रस-विवेचक ग्रन्थ के हिन्दी में इतने अनुवाद नहीं हुए, जितने 'काव्य–प्रकाश' के हुए हैं। इसको आधार बनाकर पण्डितों ने स्वतन्त्र निबन्धों की रचनाएँ भी की हैं। संस्कृत में भी सम्भवतः समान विषयक अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा 'काव्य प्रकाश' पर ही टीका-टिप्पणियां अधिक हुई हैं। राज-दरबारों में तो यह चलन ही हो गया था कि जब तक कोई कवि स्वतन्त्र रस ग्रन्थ या नायक-नायिका भेदपरक रचना बना कर प्रस्तुत न करे, उस की गिनती बड़े कवियों में नहीं होती थी और इस दौड़ में सफलता की कुञ्जी एकमात्र 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ था, जिसका प्रत्यक्ष आधार लेकर या किसी विशिष्ट उल्लास को लेकर स्वतंत्र रूप में या अनुवाद रूप में वे लोग पद्य रचना किया करते थे।

अनेक कवि, राजा के प्रीत्यर्थ समय-समय पर पद्य रचा करते थे और बाद में उनका संकलन करके प्रबन्ध का रूप दे देते थे। ऐसे प्रबन्धों में षड्ऋतु वर्णन, राजा का षडैश्वर्य वर्णन, आयुध वर्णन, युद्ध वर्णन, दान वर्णन, सभा वर्णन आदि विषयों पर विविध कवित्तों का संग्रह हुआ करता था।

कवि प्राणनाथ ने महाराजा विष्णुसिंह के समय में एक ऐसा ही प्रबन्ध तैयार किया जिसका नामकरण 'विसन-विलास-काव्य' किया।

मंगलाचरण में श्रीकृष्ण, सरस्वती, गणेश और 'जगत में पहले हुए समस्त सुकवि जन' को प्रणाम करके निसानी छन्द में 'आंबेर' का वर्णन किया है। इन छन्दों की भाषा पंजाबी प्रभावित है, शेष काव्य की भाषा व्रज है।

॥ आँबैरि बरननं ॥ छन्द निसानी ॥

कूरमदे गुन गावते रसना सरसावै।
देव असुर नर नाग भी सब दे मन भावै॥
मध्यदेसदे[1] मध्य मैं आंबैर कहावै।
अलका औ अमरावती जिस रूप न पावै॥
धरम चहूं पग सौं जहां खेलै चित चावै।
चहूं बरनदा दिप्यियै न्यारौ बरनावै॥
छांह महल पुरहूत दे महलौं पर आवै।
नीउ सेसदे सीसदी मनि जोति दवावै॥

---

१ 'मत्स्य देस' पाठ होना चाहिए।

दौलत दिष्षि कुबेर भी सुध बुध बिसरावै ।।
चतुराई बानी सुनैं बानी मुंहु बावै ।।
....

।। राज बरननं ।। निसानी ।।
बिसनसिंह भूपति जहां पुरहूत सवाया ।
मानवंस जय साहिदा परपोता गाया ।।
पोता राम नरिंदा दा किसने सो जाया ।
तिहुँ लोको बिचि जोति सौं जिसदा जस छाया ।।
अग्गें जिसदे तेज दे रवि हि मद दरसाया ।
लाली जिस परताप दी सब जगतु रंगाया ।।
वदन दुस्मनों का लष्या ज्यों तूल मंढाया ।
सूरस सीरति सारदा सरबसु ले धाया ।।
सुघराई सों सानिकै विधि डीलु बनाया ।
प्यार नीति अरु दान सौं निसद्यौस बढ़ाया ।।
चतुराई की गल्ल सों गुरु शुक्र हराया ।
मजलिस चंद सरद्दा-रन भानु लषाया ।।
सत्त समुद्दां पार भी, जिस खग्ग जगाया ।
दुसमन मारि गरद्द कैं कोड्याँ धन पाया ।।
जै मन्दिर में बैठिकें मौजें झर लाया ।
प्राणनाथ कों जगत मैं कबिराज कहाया ।।

संभवत: नगर, राज ग्रौर युद्ध की तैयारी का वर्णन निसानी छन्दों में लिखने की पद्धति ही थी। साथ ही, उस काल में ऐसे प्रबन्धों में एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग का भी प्रचलन था। राजस्थान, ब्रज और पञ्जाब से सटा हुआ प्रान्त है इसीलिए यह देखने में आया है कि यहाँ के अलग-अलग राज्यों की विभिन्न बोलियाँ होते हुए भी प्राय: कविता की भाषा ब्रज से प्रभावित रही है और अवान्तर भाषा के रूप में पञ्जाबी का प्रयोग होता था। रामसिंह प्रथम, उनके पुत्र किशनसिंह और स्वयं विसनसिंह सभी पञ्जाब और अफगानिस्तान की तरफ तैनात रहे थे, इस कारण भी इनके समय में रचित भाषा काव्यों में पञ्जाबी का रंग आना स्वाभाविक था।

महाराजा विष्णुसिंह की इतिहास में प्रसिद्धि कम है। बहुत से लोग उनके नाम को पहचानते तक नहीं। इसका कारण यह था कि आम्बेर की गद्दी पर उनसे पहले और बाद में दो ऐसे जयसिंह हो गये हैं कि उनका नाम और व्यक्तित्त्व दोनों के बीच में दब कर रह गया। पहले जयसिंह थे उनके प्रपितामह, जो 'मिर्जाराजा जयसिंह' के नाम से प्रसिद्ध

हैं और जो महाराजा शिवाजी को औरङ्गजेब के दरबार में लाने व वहाँ समुचित व्यवहार न होने के कारण उनको वहाँ से निकाल ले जाने में सफल हुए थे। औरङ्गजेब उनसे सदैव सशंक रहता था और कहते हैं कि उसी ने षड्यन्त्र करके उनको मरवा दिया था। तब ही वह पद्य कहा गया था—

घण्ट न बाजैं देहरा, शंक न मानें शाह।
एकतणां फिर आवज्यो, माहूरा जयशाह॥

बादशाह औरङ्गजेब की कुटिल और क्रूर प्रकृति के अनेक परिणाम इतिहास में सुविदित हैं। शिवाजी की चमत्कारिक विमुक्ति के पश्चात् वह आमेर के राजघराने के विरुद्ध गांठ बाँध कर बैठ गया। मिर्जा राजा जयसिंह की मृत्यु के उपरान्त वह उनके बड़े पुत्र रामसिंह से नाराज रहा क्योंकि शिबाजी की रिहाई में उन्हीं का सक्रिय हाथ माना गया था। परन्तु राजा मानसिंह के समय से ही आमेर राज्य और उसके सामन्तों की ऐसी दृढ़ संघटनात्मक परम्परा कायम हो गई थी कि अत्यन्त शक्तिशाली मुगल-सत्ता भी एकाएक कोई बहुत बड़ा ऊपकार करने की हिम्मत नहीं कर सकती थी–अपितु मजबूर होकर बादशाह को अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए कछवाहों का मुखापेक्षी ही रहना पड़ता था। इसीलिये कहा गया—

केते राजराना पावें मान पातसाहन सौं,
पातसाह पावै मान मान के घराने सौं॥

महाराजा रामसिंह प्रथम के जीवनकाल में ही उनके होनहार एकमात्र पुत्र महाराजकुमार कृष्णसिंह की मृत्यु हो गई। इसको भी शाही प्रकोप का ही परिणाम कहा जाता है। यही नहीं, औरङ्गजेब ने रामसिंह को अपने एकमात्र अल्पवयस्क पौत्र विष्णुसिंह को भी दक्षिण में भेजने का आदेश दिया– परन्तु, अब महाराजा का धैर्य और आशा टूट चुके थे। उन्होंने इस अनुचित आज्ञा का पालन नहीं किया। वे बीमार पड़ गये और अन्त में ५-६ वर्ष की अस्वस्थता के बाद १६८८ ई. में दिवंगत हो गये।

अपने पितामह की गद्दी पर बैठते समय विष्णुसिंह की अवस्था केवल सोलह-सत्रह वर्ष की थी। औरङ्गजेब की मूल में अप्रसन्नता और विवशता के कारण दिखावटी कृपा की धूप-छाँह में रहते हुए वे ग्यारह वर्ष तक मुगल साम्राज्य की सेवा और अपने राज्य की उन्नति करते रहे। उन्होंने अपने पितामह का समय देखा था, अपने घराने की परम्पराओं को समझा था और सद्गुरुओं से शिक्षा पायी थी। मथुरा जिले में सिनसिनी और सोधर के जाट उपद्रवियों का दमन करने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने दरबार की शोभा और स्थिति उसी ऊंचे स्तर पर बनाये रखी जो मिर्जा

राजा जयसिंह ने कायम किया था। बहुत से उस समय के कवि और विद्वान् विष्णुसिंह के समय तक वर्तमान थे और महाराजा के शालीन एवं सुरुचिपूर्ण व्यक्तित्व के कारण दरबार को सजग और सजीव बनाए हुए थे। महाराजा विष्णुसिंह के समय में रचित और लिखित हस्तलिखित ग्रन्थ अच्छी संख्या में उपलब्ध हैं। उनका झुकाव मुख्यत: आगम शास्त्र और नाटक, न्यायोग आदि विषयों पर अधिक था। शिवानन्द गोस्वामी, जनार्दन गोस्वामी, विश्वनाथ चितपावन, कुलपति मिश्र, दूनाराय, धुरन्धर कवि, हृदयराम और प्राणनाथ कवि आदि उनकी सभा के प्रमुख विद्वान् और रचनाकार थे।

परन्तु, बादशाह के प्रच्छन्न कोप के कारण आमेर राजघराने के बढ़ते हुए वर्चस्व में जो गतिरोध आ गया था उससे वे सदैव चिन्तित ही रहते थे। उन्होंने समझ लिया था कि उनकी सुशिक्षित और संस्कार सम्पन्न सन्तान ही समुन्नति को गति प्रदान कर सकती है। अत: उन्होंने अपने पुत्रों, जयसिंह और विजयसिंह की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया, अच्छे-अच्छे विद्वानों को अध्यापक नियुक्त किया और आगमोक्त रीति से उनके संस्कार सम्पन्न कराए। 'मान वंश वर्णन' नामक संस्कृत काव्य की एक खण्डित प्रति में इन संस्कारों का समसामयिक वर्णन मिलता है। इन सब प्रक्रियाओं ने जयसिंह के पूर्वजन्मार्जित पुण्य संस्कारों को और भी प्रबल कर दिया, या यों कहें, **सवाया कर दिया** और वे आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप में सवाई जयसिंह नाम से प्रख्यात हुए। वास्तव में, उनके विकास की भूमिका में महाराजा विष्णुसिंह का बहुत बड़ा योग था। अस्तु–

प्राणनाथ कृत प्रस्तुत रचना के नायक विष्णुसिंह दोनों जयसिंहों के बीच में एक अप्रसिद्ध, अलक्षित और अवर्णित व्यक्तित्व बन कर रह गये थे। ऊपर निसानी में कवि ने महाराजा विष्णुसिंह के पूर्वजों मिर्जाराजा जयसिंह, रामसिंह और कृष्णसिंह का उल्लेख किया है अत: उनका किञ्चित् परिचय पृष्ठभूमि के रूप में देना आवश्यक हुआ।

मंगलाचरण, नगर वर्णन और राजवंश वर्णन के अनन्तर काव्य का आरम्भ इस प्रकार होता है:–

एक बार शुभ्र चांदनी रात देख कर महाराजा विष्णुसिंह ने जनानी मजलिस की रचना करायी। उसमें गायन और विद्या में निपुण, वीणा वादन में प्रवीण, राग-रागिनियों के भेद को जानने वाली, बात कहने में विदग्ध और काव्य रचना करने वाली अनेक सुन्दरी पातुरियां उपस्थित हुईं। तब–

'कविता में जो निपुण ही, पातुर परम प्रवीन।
हुकम कियो विसनेस नृप, बरनन करौ नवीन।।'

'हुकम होय जा बात कौ, बरनन करौं बनाइ।
महाराज विसनेस जू, दीजे सो फुरमाइ।।'

महाराजा ने काव्य में वर्ण्य विषय की रूपरेखा इस प्रकार बतलाई है:—

छन्द पद्धरी

बरनियैं प्रथम ही गवरिनंद। वहु विघन हरन ग्रानंद कंद ।।
बरनियैं जोग माया विसाल। जाकी सुदिष्टि ह्वजे निहाल ।।
बरनियें सुद्ध उद्धत सुपाट। बरनियें ग्रच्छ दीनें ग्रघाट ।।
बरनियें दांन किहि भांति सोइ। बरनियें खग्ग जिहि बिधि जु होइ ।।
बरनहु प्रताप कै सरस चित्त। बरनौ भुजान तिहिं विधि कवित्त ।।
करियै बखान ग्रब सुजस रूप। बरनौ गयंद ग्रति ही ग्रनूप ।।
बन बैरि वधू भागी डराइ। तिनके कवित्त कीजे बनाइ ।।
कीजियै रहसि घोरे नु गान। बरनियै जवाहर ग्रति प्रमान ।।
बरनियै चाँदनी चित लगाय। बरनौ कलंक किहि विधि लखाय ।।
बरनियै बागु करि चित्त चैंन। बरनियै नलनु सम ग्रौर हैं न ।।
कीजियै नलिनु संवाद राज। किहिं भाँति नयो कहि कौन ग्राज ।।
पोथिनु विरोध कविता जु होय। किहि भाँति कहौ रस परै सोय ।।
बरनियै छहूँ रितु ग्रति रसाल। जिय होत सुनैं ग्रति खुस्याल ।।
नायिका ग्राठ किहि भांति होति। रस नवौं बरनिये जगत जोति ।।
बरनिये साँझ सुन्दर सँवार। बरनौ सिकार सब ते उदार ।।
बरनौ समीर सीतल सुगंध। जिहि भ्रमत भँवर ह्वै कै सु ग्रंध ।।
नाराच त्रिभंगी रचहु छंद। जिन सुनैं होत ग्रति ही ग्रनंद ।।
कीजै विचार छप्पै विधान। जिहिं पढ़त सुने रीझत सुजान ।।
हम कालि छुटायो मान जाइ। तुम देखि लियौ सगरौ उपाइ ।।
तिहि भाँति करौ कविता बनाइ। पदवी तब पैहो कब्रित राइ ।।

इस प्रकार रचना का विषय विभाग निर्धारित हो जाने पर कवि ने ग्राज्ञप्त पातुरी के मुख से विविध विषयों का वर्णन किया है। सामान्यत: प्राणनाथ कोई चमत्कारी ग्रौर ग्रसाधारण प्रतिभा सम्पन्न कवि नहीं थे। फिर भी, वे पद्य रचना में ग्रभ्यस्त ग्रौर वर्णन-पटु ग्रवश्य थे। कितने ही स्थलों पर उनकी बन्दिश ग्रौर कल्पना सुन्दर ग्रौर चित्ता-कर्षक है। उदाहरण के रूप में कतिपय पद्य यहां उद्धृत किए जाते हैं।

ऐसा लगता है कि महाराजा विष्णुसिंह दुर्गा भक्त थे। कुलपति मिश्र द्वारा उनके लिये 'दुर्गा भक्ति चन्द्रिका' की रचना, 'त्रिकूटा रहस्य संग्रह' ग्रौर जनार्दन भट्ट रचित 'मातृका निघण्टु' ग्रादि ग्रन्थ इसके साक्ष्य हैं। शिवानन्द गोस्वामी से पूर्णाभिषेक ग्रौर मन्त्र दीक्षा लेना भी उनके ग्रागमानुयायी होने का प्रमाण है। संभवत: इसीलिए कवि प्राणनाथ ने गणेश से भी पूर्व चण्डिका चरणों की चर्चा की है :—

छप्पै

जोग जुगति अवलोकि लोक देवनि कहँ दिन्हौ।
ओज पुंज प्रज्वलित दलित दानवदल किन्हौ ।।
चिन्तामणिमय महल वहल कल्पद्रुम मण्डित।
ध्यावत जिहि जगदीस ईस ब्रह्मादिम पंडित।
नृप विश्नुसिंघ किसनेस सुव, कूरम भव औढर ढरन।
सम्पति समग्ग संचित करइ, चित चिंतित चंडिय-चरन ।।

गद्दी पर बैठते ही महाराजा विष्णुसिंह ने दान-दातारी शुरु कर दी और अनेक दान-पत्र ताम्रपत्रों के रूप में वितरित किये। कवि प्राणनाथ ने इस प्रसंग के अनेक पद्य लिखे हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

कवित्त

कूरम कलस महादानि बिसनेस जू नैं,
　　ऐसे दान कीनें ऐसे दान काहू कीने हैं ?
इतने अघाट भाट चारन कविन दीने,
　　ताँबे की आकरे सब भई ते'ब खीने हैं ।।
पैसा कौ प्रचार यातें रह्यो पुहमी के बीच,
　　प्राननाथ कबिराय यहै मतु लीनै हैं ।
राजा बिसनेस तांबेपत्र कै बकसि दै तो,
　　साहनि के सिक्का जानि टक्का छोड़ि दीने हैं ।।

कूरम कलस कुल आलम निवाज्यौ सब,
　　आलम के गुनीन की रहै द्वार छांवनी ।
प्राननाथ कविराय कीजिए अनेक साज,
　　मौजनि कौ दै दै भाँति भाँति मन भांवनी ।।
एते तांबेपत्र दीने भूपति बिसनुसिंघ,
　　जेते ताँबे पत्र नाहीं करत गनांवनी ।
आठौं जाम सोचु जिय लाग्यौ ही रहत,
　　फेरि तांबे की आकर करतार कों बनावनी ।।

कूरम करेरौ किसनेस को बिसनुसिंघ,
　　देत बकसीस न सुहात नाम देर को ।
रूपे के पहार देखियत दुज बार तेरैं,
　　दान के विलास कविलास लागै सेर को ।।
रगद बगद करी दगदगी मुहरैं तैं,

प्राननाथ कवि है जितैया बेर बेर को।
अरब खरब देत दरब दुनी कौ टेरि,
परब के आये तें गरब गरै मेर को।।

सवैया

जैसो प्रताप प्रथी मधि रावरौ ऐसौ प्रताप बियौ नहि होनौं।
जाचक ते महिभूप करे कहूं दारिद कौ न बच्यौ छिति छोनौं।।
कूरम सी बिसनेस बली जग दांनि महा सब भांतिन लोनौं।
बेरक सौ सब मेर रह्यौ सु दुबेर कौ दानु कुबेर को सोनौं।।

चतुरङ्गिणी सेना में हाथी का प्रमुख स्थान रहा है। बाद में, राजा महाराजाओं, नवाबों, जमींदारों और जागीरदारों के लवाजमे में भी हाथी की विशेषता मानी जाती थी। जो जितने अधिक हाथी रख सकता था, वह उतना ही बड़ा समझा जाता था। भारतीय साहित्य का भी गज-वर्णन एक आवश्यक अङ्ग बन गया था। कवि प्राणनाथ ने भी महाराजा विष्णुसिह के गजराजों का वर्णन करते हुए अपन्हुति अलंकार का निर्वाह किया है:–

जाकौ बेरबेर बग–पंक्तिन बतावति हो,
दंतुन की पंक्ति ऐसैं भ्रम कौन काज के।
दामिनी न होय जे बतावति हो हाथनु सौं,
अंकुस लसत बसकरन इलाज के।।
झींगना न झमकत पाखरैं झलमलत,
बरसै न मेह मद झरैं सुख साज के।
कारी घटा जानि तैं तो साज्यो अभिसार,
गाजैं गजराज विसनेस महाराज के।।

मन से भी अधिक वेगवान घोड़ों का वर्णन भी देखिए :—

बलकि बलकि बोलैं बैन आपसु में सब,
भूले हू न कोऊ काहू बदत हैं बाइ कै।
प्राननाथ कहै करतार जिय गांसु धरि,
सहज ही मांझ जोग जोरचौ आइ कै।।
राजन के राज महाराज सी विसनुसिंघ,
रावरे हयन साथ पहुँचै न धाइ कै।
कोस पैं पवन रु दुकोस पैं गरुड थाक्यौ,
तीन कोस पर मन थाक्यौ चित चाइ कै।।

शरदोत्सव मनाने की प्रथा भी हमारे देश में बहुत पुरानी है। विविध कालों में

इसके विधान में परिवर्तन होते रहे हैं। परन्तु पिछले जमाने में राजा-महाराजाग्रों के यहाँ शुभ्र चांदनी में सफेद दूधिया चद्दर बिछाकर दरबार लगाया जाता था। सभी सभासद सफेद पोशाक पहन कर ग्राते थे, पगड़ी का रंग हल्का गुलाबी होता था। इस दिन राजा के सामने कविता-पाठ का कार्यक्रम ग्रावश्यक था। सभी राज्याश्रित कवि उपस्थित होकर चाँदनी की चटक ग्रौर राजा की प्रशंसा में कवित्त पढ़ा करते थे।

कविवर प्राणनाथ के दो कवित्तों में कालित कल्पता की करामात द्रष्टव्य है:—

कवि रहे फेन से बिछौना छिति पर ऐसे,
कलित क यों कपूर कौ ललित लस्यो लेसु है।
चारु चहुँ दिसि मुकतानि को प्रकासु तैं सौ
विमल वितान कौ ग्रजब इल भेसु है॥
तामें राजसिरी सों विराजमान भूप बैठे,
बानक विलोकि यो कहत सब दैसु है।
देख्यौ परगट जो सुन्यौ हो निगमनि गायौ,
दूध के समुद्र मध्य सोई विसनेसु है॥

सुधा के महल मध्य बहल प्रसून फूले,
चाँदनी बिछौंननि में सोभा सुख कंद की।
ग्रमल ग्रमोह हीरा मोतिन की जोतिन सौं,
कविता पढ़त कवि कीरति ग्रमंद की॥
महाराज विस्नुसिंघ रावरे सभासद की,
कौंन की न उधरी हो सुधरी ग्रनंद की॥
चंद छबि नीचैं करि बीचैं बीच फैली जातैं,
ग्राँखिन कों सींचै ए मरीचैं मुखचन्द की॥

ग्राम्बेर के राजमहलों से लगे हुए बागों में नल-बल से उछलते जल के फव्वारों का उत्प्रेक्षापूर्ण वर्णन वास्तव में सुन्दर है—

रतन जटित रौंसें बागनि की बनि रही,
ग्राइकै बस्यो बसंत ऐसी छवि पाई है।
ठौर ठौर भौंर भारी झूमत झुमत फिरैं,
तैसी ये सुगंध की लपट मन भाई है॥
प्राननाथ कबिराइ कही न परति कछु,
नलन पैं ऐसी निबुग्रान छबि छाई है।
ऊँची गति देखि महाराज विसनेस जू नैं,
जल रीझि पीरी पीरी पागैं पहिराई हैं॥

सवैया

बाग बिछौननि की छबि देखि कैं वासव जी उर नित हैं हारैं ।
तीनिहुं भाँति की बात बहै जहाँ बात कहा कहि यौं सुविचारैं ॥
कूरम सी विसनेस महीप फुहारेनु की छबि चित्त निहारैं ।
बाँह अनंत उठाइ मही मनौं रीझि महा मुकतागन वारैं ॥

आगे छः ऋतुओं का और अष्ट विध नायिका का पारम्परिक वर्णन है। एक ही पद्य में नवरस का विधान इस प्रकार है—

छप्पय

शृंगारी रनिवास हासमय रिपु विक्रम किय ।
दीने देखि हुव करुन रूद्द दुज्जन विलोकि जिय ॥
दया दान खग बीर भिरत भट भीर भयंकर ।
खंडित खलदल रकत रंगि वीभत्स सुभंकर ॥
अद्भुत समग्ग साहस प्रगटि, सहित सांति गुरू निकट जप ।
जयसिंघ बंस अवतंस सम, नवरस मय विसनेस नृप ॥

राज दरबार में आते ही सब लोग राजा का अभिवादन करते हैं। इस को मुजरा करना कहते हैं। प्रतापी राजा के तो प्रकृति भी वश में रहती है। महाराजा विष्णुसिंह को पवन द्वारा मुजरा करने का वर्णन बहुत सुन्दर हैं –

न्हायौ भलीभाँति अरविंद मकरंदन मैं,
मंद मंद चलनि मैं चित्तकौ हरतु है ।
विषधर दुज्जन दबाइ कैं, पटीरवास[1],
करत प्रकास ऐसी धीरता धरतु है ॥
दलनु हलावै तन-तपनि मिटावै भारी,
प्राननाथ कवि कैसें चित्त तैं टरतु है ।
महाराज विश्नुसिंघ लक्षन सहित देखौ,
दक्षन पवन कैसो मुजरा करतु है ॥

इस पद्य में 'दलनु हलावै' 'लक्षन' और 'दक्षन' शब्दों का श्लिष्ट प्रयोग चमत्कार पूर्ण है।

---

१ चन्दन ।

यह वर्णन सुन कर महाराजा ने 'चारु छप्पै विधान' के प्रति रूचि प्रकट की। कुछ मालोपमा से अलङ्कृत छप्पय बहुत सुन्दर बन पड़े हैं—

खैंचत कोट उदंड कोटिउ वृत हिम्मति हद ।
उग्ग रूप विसनेसु करत दुज्जन कंजनि रद ।।
हिम्मति सुद्ध विसुद्ध कित्ति दारिद्र विहंडन ।
जगपोषन परसिद्ध दान इमि नृप कुल मंडन ।।
हलधर जिमि हठ हमीर जिमि हरिनाकुस हेमंत जिमि ।
हारक जिमि हिम जिमि हेम जिमि हर जिमि हार जिमि ।।

जग वंदित बिसनेसु करत रिपु बंस निकंदन ।
कोक कला उद्धरत हरत सुजन दुख दंदन ।।
उद्धत जुद्ध विसुद्ध बोल रुद्धत अरिवृंदन ।
मन बंछित फल देत लेत इमि आनंदन ।।
कह्लर जिमि कल कुह्लार जिमि कामदेव कर्पूर जिमि ।
कुंजर जिमि कवि जिमि कर्ण जिमि कलपद्रुम कल्यान जिमि ।।

डगमगात वेतंड सुनत डिंडिम डंकन धुनि ।
थर थर थर थहरात धसकि दब्बत पब्बय पुनि ।।
जुद्ध क्रुद्ध रिपु कट्टि पट्टि आमिष महि मंडिय ।
विश्नुसिंघ चकवत्ति चाहि चर्चित चित चंडिय ।।
पातकहर पुण्य प्रतापमय प्रगटदानि प्रभुतानि इमि ।
सुरधुनि जिमि सुर जिमि सूर जिमि सुरतरु जिमि सुरपति जिमि ।।

दावानल करि रेज तेज अक्कै घटि तक्कै ।
मान मौज साहिबी सौंज सक्कैं नित नक्कै ।।
कूरम पोषन भरन कुटुम कविकुल करुनामय ।
विश्नुसिंघ छितिपाल प्रबल पूरन प्रभुतामय ।।
गुरु सहनसील सुंदर सरस अधिक उच्च अभिराम इमि ।
मंदर जिमि महि जिमि मार जिमि मंदाकिनी मंदार जिमि ।।

ओज पुंज उग्गवत दुष्य दुग्गवत बुधिवर ।
जग पर जसु जुग्गवत भोग भुगवत सुद्धिवर ।।
रन अडोल सब सत्य बोल पुरुषारथ पूरन ।
दान देत विसनेसु कै न दिष्यौ इम तूरन ।।

सूरजमय सुभ सिंगारमय महामोदमय मदनमय ।
धीरजमय धनमय धर्म्ममय चिंतामनिमय चंद्रमय ।।

इसके पश्चात् मजलिस में नृत्य और मानिनी नायिका को मनाने का वर्णन है और काव्य इस प्रकार समाप्त होता है–

महाराज विसनेस जू, कविता सुनी रसाल ।
रीझि दियौ तन मनु सवै, और दई उर माल ।।
करी बड़ाई तियनु में, और बढ़ाई आब ।
कवितराय कौ रीझिकै दीनौं सरस किताब[1] ।।
प्राननाथ कविराइ नैं, कीनौं सुजस प्रकास ।
भुगति मुगति जामैं वसै, ऐसो विसनु विलास ।।

वर्तमान में ऐसे काव्यों और वर्ण्य–विषयों का मान नहीं है परन्तु रीतिकालीन रचनाओं के तो ये प्राण ही रहे हैं। साहित्य के मध्यकालीन इतिहास से इनको विलग नहीं किया जा सकता। इनको भुला देना संस्कृति और इतिहास की सीढ़ी की मध्य स्थित पैड़ियों को तोड़ देने जैसा होगा। यही तो वह सोपान है जिसके द्वारा हम वहां आकर पहुँचे हैं, जहां अब हैं।

सत्ता का स्तवन करना मनुष्य का स्वभाव रहा है। जिस काल में जो वर्ग सत्ता-रूढ़ रहा, उसी का गुणगान करना कविता का मान बन गया। इसी कारण आश्रयदाता राजा-रईसों का यशो-वर्णन कवि लोग करते रहे हैं और उसी में उनकी साहित्यिक प्रतिभा भी आलोकित होती रही है। यद्यपि कविता के स्थायी मूल्यों के आधार को खोजने वाले कवियों का स्थान सदैव ऊँचा रहा है परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि साहित्य, और इतिहास की विकास शृंखला में से इन मध्यम कड़ियों को निकाल देना कहाँ तक समीचीन होगा ?

—महाराजा सवाई मानसिंह म्युजियम
सिटी पेलेस, जयपुर (राज०)

---

१ खिताब ।

● डॉ० नारायणसिंह भाटी

बख्तसिंह और रामसिंह के मेड़ता युद्ध पर सिलोका

मारवाड़ के इतिहास में बख्तसिंह और रामसिंह के बीच गद्दी के लिये जो संघर्ष हुआ, वह डिंगल काव्य का भी विषय रहा और उस पर कई गीत, दोहे आदि लिखे गये। इस युद्ध में स्वामीधर्म का अद्भुत उदाहरण रीयां ठाकुर शेरसिंह ने दिया था। यह युद्ध संवत् १८०७ में अगहन सुदी ९ को मेड़ता के पास हुआ था। महाराजा रामसिंह की ओर से शेरसिंह और बख्तसिंह की ओर से आउवा ठाकुर कुशालसिंह ने सैन्य संचालन किया था तथा दोनों वीर इस युद्ध में काम आये थे। ऐसी घटनाओं पर तत्कालीन चारण कवि तो काव्य रचना करते ही थे पर लोक–मानस पर इन घटनाओं की जो छाप पड़ती थी वह सिलोका आदि सरल विधाओं में व्यक्त की जाती थी और उनका जनता में खूब प्रचार होता था। प्रस्तुत सिलोका उसी का उदाहरण है। ग्रन्थ का प्रथम पत्र त्रुटित होने से प्रारंभ का अंश यहां नहीं दिया जा सका है परन्तु-बाकी के अंश को पढ़ने से युद्ध में भाग लेने वाले बाघा, हरनाथ, डूंगर, सूरजमल आदि कुछ नये योद्धाओं के नाम सामने आये हैं जिनका उल्लेख इतिहासों में नहीं है। यदि इस प्रकार की कृतियों को इतिहासकार आंखों से ओझल न करें तो कई घटनाओं के तथ्यों को सही रूप में प्रेषित किया जा सकता है।

सिलोको

....

.... — ....

... .

कोई कुसला नु मोरे सैवरै ।।
जालम पूछै सेरसिंघ भाई ।
फौजां बखतसिंघजी री ऊपरै आई ।।
भाई वो जालमै, कीसै वीदै कीजौ ।
वेडांर बीरा वाद नुं लीजौ ।।
मेड़ता ऊपर फोजां जी आई ।
वेगा वेग सुं करो रे सजाई ।।

घोड़ो पांखरी वो बगतर टोपो ।
सेरसींघ कीनो भारी जी कोपो ॥
सेरसींघ पूछै रांमसींघ राजा ।
नोपत नगारा सरु छतीसैं वाजा ॥
पाछा भागा नुं ठोर न कांई ।
मारोणो तेवरी वो साते सकोई ॥
भाई सगळाई टणकाजी होजो ।
ऊभा पगां तो धरती मत दीजो ॥
राजा रामसिंघजी ऊपर कीजो ।
काचा पाकां रै पुठा रहीजो ॥
श्रारावो सगळो सांमो कर लीजो ।
सार सीसा रो सांम कर लीजो ॥
पूरा पाखरी वा खोलो दरवाजा ।
पुठौ हीलकारैं रांमसिंघ राजा ॥
सेरो न जालम केसरीया कीना ।
मरणंतो सांमा पांवडा दीना ॥
सेर नै जालमै वेढ मचाई ।
माताजी श्राग होम करावो ॥
माता ईसरी ऊपर कीजो ।
भाई कुसळा सुं मेळोजी दीजो ॥
मेड़ती वो जालमौ सूरो न पूरो ।
सौखेरी सजाई पाखैर नूरो ॥
दोवे दोव तरवारां बुरछां जी जीपौ ।
सेरो ने जालो मरण खेत जीपौ ॥
सेरो ने जालो मड़छां बैल घालौ ।
सांमा जीण जावा मरवा नुं हालौ ॥
वागो लसै रीयो रूरो वीराजो ।
मौत री समा सोवनी छै जो ॥
भाई सगलाई मील खैर वात वीचारी ।
कजीयो कीयां वीनां न्ही लागकारी ॥
चांपा नै कुंपा वद वद बोलौ ।
तरवारियां री वई भाला चीढो वई तोलै ॥
चोसट जोगणी मील खांनु चाली ।
सींदुवां जोतं फोजां जी चाली ॥

सांम रो कांम आजौ ऊदा रौ ।
हीमत बांदो तो कदे नु हारो ।।
जोर चलता पाळाजी पीता ।
मांरो राजाजी नु मुजरो कहीजो ।।
किणी वात रो चुकौ मत जांणी जो ।
पोहो फाटी नो सुरजी ऊगो ।।
आरबो सगळो मोरचां पूगो ।
कुसला रा कागद बांमण लायो ।।
धीरा भाभाजी अेपग आयो ।
गेलां री वेढ माफै करायो ।।
पछै जौट कारो जीको लीरायो ।
पाछ ऊलरीया जीको लीराजो ।।
सेरा री तवाई कुसलार लागो ।
सांमा ऊडा की ऊण रत भागो ।।
बोलइ रा बाघा मरबा नुं हालो ।
टूटी तरवारीय रिण खेत धावा ।।
ऊ दीनै चीतारो वागांम जाता ।
दारु रा पाला राजाजी पीता ।।
ईसरो परमेसर ईचरजौ कीनौ ।
भाई वंट नै रण खेत लीनौ ।।
टूटी तीरवारीयां भाला जी भलकौ ।
सूरां रा वाया खालै खळकौ ।।
ऊपरै कैलका देवी जली वांई चमको ।
नीचोलीयां रा खाळ खळको ।।
सो याई नाल आवर सु गाजो ।
सूरा जु जौन कावे सनागो ।।
जीठां मेडतीया बोलीया आंटा ।
सैदांई हल यल जौता रा बेटा ।।
बौगतो जौतावत सारंग हालौ ।
सारां ई पेली मेलीयो लालो ।।
ईतरो कहनै मांये जी धसीयो ।
वाजौ करनालां कजीयो जी मचीयो ।।
वायो भाभाजी भालो हमां नुं ।
षछै हुवा ऊ जोटको तमां नुं ।।

सेरसींघ कुसलसिंघ नु जोटकी जी वायो ।
आवै हरनाथी सांमो जी झेलीयो ।।
कुसलसिंघ सेरसींघ नु भालोजी वायो ।
सांमो सेरसींघ पर काळ जो आयो ।।
भारी दुदाजी रा भालाजी भालक ।
मेले बुरी नुं सई मोती जैला ।।
ऊ दीन दीसंतां मोटी महमई ।
कजीया रो मोसर करलो जी कीनो ।।
डुंगर नै रांमसींघ रुरा जोर परीया ।
पांचु पाखरीया हीदवांगु रीया ।।
वेडालो खांडो सेरसींघ वायो ।
वाडे घोड़ो न रणखेत धायो ।।
ईटार सुरजोमल सीयासु आयो ।
वत आरबै सामो धकायो ।
मासैं तीनौ रीजैं जो कैराई ।
हो पीर पुठां थापी ज राई ।।
आंमी नै सांमी नालां दगाई ।
दारो व दीयो नै रात वेह रांगी ।।
होली मात नै सेर गवोलाई ।।
कंवर चेनसिंघजी भोलाई जाया ।
हाती राजाजी रै ऊजीर जी धाया ।।
आवै गुणपत नु कीवी सीलामो ।
सील माहाराजा दाद जो दीनो ।।
ईसरो रजपुत मरण नही पायो ।
कै देक दीली रै आवसर आयो ।।
जाये गार री मो कीनी लराई ।
थाल भोर जोग मोतां वधावा ।।
जो राजो रामौ कलसु सुदरीया ।
सेर नै कुसलो रणखेत रहीया ।।

मारोठ मैं लीखीयो सीलीको संपुरण हुवो लीखतु सुरांणा ऊमेदमल लीखीयो छै सं० १८७३ रै असाढ वद ८.

निदेशक,
राजस्थानी शोध संस्थान,
चोपासनी (जोधपुर) राजस्थान

● डॉ० ब्रजमोहन जावलिया

जोधपुर के महाराजा बख्तसिंह की प्रेयसी गायण जन महताब कृत मंदिर की प्रशस्तियां

शोध पत्रिका वर्ष २३ अंक १ में मैंने 'गायण जन महताब कृत साखी और बख्तसिंह की मृत्यु का रहस्य' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया था। साखी के आधार पर लेख में यह भी सूचना दी गई थी कि गायण महताब ने महाराजा विजयसिंह से निवेदन कर उसको बख्तसिंह द्वारा दी गई राधामोहन की मूर्तियों के लिए मन्दिर का निर्माण करवाया था। हाल ही में मुझे श्री रा० व० सोमानी से मंदिर विषयक मोहनकुंड की दो प्रशस्तियां प्राप्त हुई है। प्रथम प्रशस्ति में संवत् १८१३, वसंत ऋतु में मधुमास (वैशाख) शुक्ला एकादशी (सोमवार) को निर्माण की सूचना दी गई है। इसमें उसकी भक्ति की तुलना भक्त मीरां के ज्ञान और ध्यान से की गई है।

मोहनकुंड के द्वितीय अभिलेख में इस मंदिर के लिए महाराजा विजयसिंह तथा राजकुमार फतहसिंह की आज्ञा से मंडोवर की सीमा में मांडावतों का बेरा (कुआ) भेंट करने तथा सं० १८१५ की उनालू की फसल से हांसिल लेने विषयक आज्ञा का उल्लेख है। मूल अभिलेख निम्न प्रकार हैं—

(१)

दूहा

मिंदर मोंहनलाल को, मन सुध कियौ मौहेताब।
गायण बखत नरेस की, भ(ा)गवंत वडभाग ।।
संमत अठारै तेरमै, रीत वसंत मधुमास।
सुकल पष ईकादसी, मोहन करत विलास ।।
मीरा अरु मौहताव मैं, भेद गिनै सो कूर।
प्रेम भगत पूरन दोउ, ग्यान ध्यान भरपूर ।।
संवत् १८१३ रा वैसाप वद ११ सोमवास(रे)
श्री श्री

(२)

१. स्वस्त श्री अनेक सकल शुभ ओपमा वि
२. राजमाना महाराजाधिराज महाराजा श्री
३ श्री विजैसिंघजी महाराज कुंवर श्री फतैसिंघजी
४. देव वचनात् तथा गढ मंडोवर री सीम मै बेरी
५. मांडावता रो ठाकुर जी श्री मोहनलालजी रै भैं
६. ट कियौ सो संवत् १८१५ रा उनालू
७. साष सू बेरा रो हासल लेणो
८. विदमान पढिहार सिकदार सिवदान
९. सांवळदासोत मुसरफ जोसी उदेराम

प्रभारी,
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान,
राजमहल, उदयपुर (राजस्थान)

रामदास शर्मा

मण्डोर के देवल व छतरियां

भारत में स्मृति–परक स्मारक बनवाने की परम्परा बहुत प्राचीन रही है । प्राचीन साहित्य में भी 'देव प्रासाद' बनवाने का उल्लेख मिलता है । बौद्ध धर्म की प्रमुख साहित्यिक कृति 'महापरिनिब्वानसुत्तं' से ज्ञात होता है कि एक बार भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि उनके 'महापरिनिर्वाण' के बाद, उनके शारीरिक अवशेषों पर किसी चौमुहानी पर उसी प्रकार स्तूप निर्मित कराया जाय, जिस प्रकार किसी चक्रवर्ती राजा के लिये किया जाता है ।[१] स्तूप 'देव प्रासाद' का ही रूप हैं । 'देवल' भी 'देव प्रासाद' का पर्यायवाची जान पड़ता है । 'देवल' अथवा 'देवली' संस्कृत शब्द 'देव कुलिका' का देशज रूप है । 'देवली' शब्द १३–१४ वीं शताब्दी में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है ।[२]

देवल अथवा छतरियों का निर्माण न केवल नरेशों की स्मृतियों में ही हुआ, अपितु उन दिवंगत वीरों, देश–भक्तों एवं सतियों की स्मृति में भी हुआ, इतिहास जिनकी आरती उतारता है । भारत में राजस्थान ऐसा भू–भाग है, जिसने सबसे अधिक वीर–वीरांगनाओं को जन्म दिया । इनकी स्मृतियों में यहां आहाड़ (उदयपुर) के गंगोद्‌भव कुण्ड के समीप मेवाड़ के सिसोदिया नरेशों की छतरियाँ, नागौर में राठौड़ नरेशों की छतरियाँ, जयपुर में गैटोर व आमेर स्थित कच्छवाहा नरेशों की छतरियां, भरतपुर के जाट राजाओं की गोवर्द्धन (मथुरा) स्थित छतरियाँ, जैसलमेर के भाटी नरेशों की छतरियाँ आदि स्थापत्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

राव सीहा को मारवाड़ में राठौड़ वंश का संस्थापक माना जाता है । उसकी स्मृति में लेख युक्त चबूतरा बीठू (पाली जिला) नामक गाँव में बना हुआ है । जोधपुर के प्रारंभिक नरेशों की राव चूण्डा से राव जोधा (वि० सं० १४५१–१५४६) तक छतरियां मण्डोर में पंचकुण्ड नामक स्थान पर बनी है । यहाँ न केवल नरेशों की ही छतरियाँ हैं; अपितु उनकी रानियों की छतरियां भी निर्मित हैं ।

---

1 Sircar–Studies in early Budhist Architecture of India, Page 3.

२ श्री विजयशंकर श्रीवास्तव–'पत्थर में छिपी यादगारें' कादम्बनी–अक्टूबर ६८ का अंक ।

राव चूण्डा की छतरी

मारवाड़ के नरेशों में राव चूण्डा का नाम शिखर शूरमाओं में लिया जाता है। राव चूण्डा की छतरी का स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसका स्वरूप मन्दिर के समान है। दिवंगत शासक को भारतीय संस्कृति में शिव–सायुज्य माना गया है।[१] अतः छतरी के गर्भ गृह में शिवलिंग–स्थापित किया गया होगा।[२] (जो कि अब विद्यमान नहीं है) क्योंकि 'लिंग' शब्द में ही समस्त शिवत्व अन्तर्निहित है–'लयं गच्छन्ति भूतानि' अथवा 'त्रिजगल्ल यनाद् यतः।' गर्भगृह के द्वार पर गंगा–यमुना अपने वाहनों सहित विराजमान है। द्वार खण्डों पर अष्ट मातृकायें भी अपने वाहनों पर आरुढ़ हैं। छतरी के वेदि–वन्द पर विभिन्न मुद्राओं में गज–प्रदर्शन का बाहुल्य है। गज का मानव, सिंह एवं अन्य पशुओं के साथ संघर्ष शिल्पकार की श्रेष्ठता का द्योतक है। इसके अतिरिक्त शैया पर एक व्यक्ति लेटा हुआ है, जिसके पैरों की ओर एक स्त्री बैठी हुई है।

छतरी की शिल्प कला में धार्मिक व सामाजिक दृश्यों का सृजन भी हुआ है। एक अश्व वेदि से बंधा हुआ है; जिसके समीप चतुर्भुज गणेश विराजमान है। वेदि वन्द पर शिवलिंग पूजा, नृत्य एवं संगीत वादन के सुन्दर दृश्य है। ध्यानमग्न योगी से लेकर वासनारत नारी के दृश्य मूर्तिकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सिह द्वारा स्त्री के साथ भोग क्रिया का प्रदर्शन कर स्थापत्यकार ने भारतीय स्थापत्य–कला की परम्परा को आत्मसात किया है। इस छतरी का स्थापत्य सभी प्रकार से मन्दिर के समान है। शीर्ष शिखरबद्ध है, ताकों में किसी देवता की मूर्ति रही होगी, जो अब विद्यमान नहीं है।

पंचकुण्ड पर ही अन्य राजा व रानियों की छतरियां भी बनी हुई है। इन सभी छतरियों में मण्डोर के निकट 'घोड़ाघाटी' की खानों का लाल पाषाण प्रयुक्त हुआ है। किसी २ छतरी में संगमरमर का प्रयोग भी हुआ है। संगमरमर में पीले, लाल व नीले रंगों का प्रयोग भी हुआ है। राव चूण्डा की छतरी एवं यहां पर स्थित अन्य छतरियों के तुलनात्मक विवेचन से कोई भी कला–पारखी इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि राव चूण्डा के मरणोपरान्त जोधपुर के नरेश मुगलों की सामाजिक–सांस्कृतिक परम्पराओं को आत्मसात करने लगे थे। पंचकुण्ड स्थित कुछ छतरियों का तुलनात्मक विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ कलात्मक दृष्टि से भव्य नहीं है। ऐसा इसलिये सम्भव है कि तत्कालीन राजनैतिक जीवन में उथल–पुथल रही हो, जिसने आर्थिक विपन्नता को जन्म दिया हो।

---

१ श्री विजयशंकर श्रीवास्तव का लेख–राजस्थान के प्राचीन भवन व उनकी प्राकृतिक संपदा–आकृति

२ राजस्थान के अधिकांश देवल व छतरियों में शिवलिंग ही आज भी देखने को मिलते हैं।

मारवाड़ के उत्तरवर्ती राजाओं की छतरियाँ राव मालदेव से महाराजा तख्तसिंह तक मण्डोर के वर्तमान राजकीय उद्यान में बनी हुई है। इनमें भी घोड़ाधाटी का लाल पाषाण प्रयुक्त हुआ है। उद्यान स्थित देवल भी मन्दिर स्थापत्य परम्परा में ही निर्मित है। शिखर पर अलंकरण, मण्डोवर भाग पर विभिन्न देवी देवताओं की मूर्तियां, वेदि बन्द पर धार्मिक व सामाजिक जीवन के दृश्य एवं गर्भगृह के प्रवेशद्वार पर विभिन्न प्रकार के अलंकरण आदि सभी कुछ मन्दिर–परम्परा के अनुसार है। देवलों में हिन्दू स्थापत्य शैली का प्राचुर्य है। इन देवलों की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि महाराणा कुम्भा की महान् कृति 'विजय स्तंभ' की भांति इन देवलों के प्रमुख सूत्रधारों एवं अधीनस्थ सूत्रधारों के नाम भी उत्कीर्ण है। अजीतसिंह देवल में तो उसके निर्माता कलाकार की मूर्ति तक उत्कीर्ण है। इस देवल के विभिन्न भागों में जो देव प्रतिमाएं उकेरी हुई है उनके नीचे स्थानीय भाषा में उनके नाम भी उत्कीर्ण है।

राव मालदेव (वि० सं० १५८९–१६१९) का देवल

राव मालदेव का देवल शिखरबद्ध है। उसके मण्डोवर भाग पर चारों ओर देव प्रतिमाओं की ताकें है। लेकिन उन ताकों में देव प्रतिमाएं विद्यमान नहीं है। गर्भगृह में न कोई प्रतिमा है और न शिवलिंग। गर्भगृह के द्वार खण्डों पर गंगा यमुना अपने वाहनों सहित स्थानक मुद्रा में है। इस देवल का वितान समतल है। गर्भगृह के द्वार खण्ड पर एक शिलालेख उत्कीर्ण है, जो इस प्रकार है –

। संवत १६४७ वर्षे फागुण वदि १ दने
।। श्री राव उदय संघ जी राजे सूत्रधार
।।। नरसंघ पूत्र नेता हेमा फलागुणपत कराव ··· ।

सौभाग्य से इस देवल के निर्माता कलाकारों के विषय में भी शिलालेख से सूचना प्राप्त होती है। इस देवल का निर्माण–कार्य सूत्रधार 'नरसिंह' की देखरेख में हुआ। देवल का निर्माण राव मालदेव के पाचवें पुत्र उदयसिंह ने संवत् १६४७ में कराया था।

मोटाराजा उदयसिंह (वि० सं० १६४०–१६५२) का देवल

मोटाराजा उदयसिंह का देवल सूरसिंह ने बनवाया था। यह देवल स्थापत्य की दृष्टि से मालदेव के देवल से अधिक विशाल है। सभा मण्डप चारों ओर से घिरा हुआ है। मण्डोर स्थित देवलों में सबसे अधिक सूत्रधारों के नाम इसी देवल से उपलब्ध हो सके हैं जो इस प्रकार है—

१. सूत्रधार केसव
२. सूत्रधार किसना सरहथ
३. पापा (?) रसमल कीसन धनराज ता ? [···]
४. हरी
५. श्रासा सोनवाल
६. गीवा
७. रंमदास
८. घंघल

इस देवल के शिखर का अलंकरण मालदेव के देवल के अलंकरण से अधिक सुन्दर है।

महाराजा सूरसिंह (वि० सं० १६५२-१६७६) का देवल

इनका स्वर्गवास वि० संवत् १६७६ की भादौ सुदि ९ वीं को दक्षिण में 'महकर घाणों' में हुआ। मण्डोर में इनका देवल महाराजा गजसिंह ने बनवाया था। इस देवल में किसी भी सूत्रधार का नाम नहीं मिल सका है। गर्भगृह के द्वार खण्डों पर गंगा, यमुना भारतीय शिल्प विधान के अनुसार अपने वाहनों सहित क्रमशः मकर व कच्छप पर स्थानक मुद्रा में है। ताकें रिक्त है एवं सभा मंडप पूर्णतः नष्ट हो चुका है।

महाराजा गजसिंह (वि० सं० १६७६-१६९५) का देवल

स्थापत्य की विशालता की दृष्टि से महाराजा गजसिंह के देवल का स्थान अजीतसिंह व जसवंतसिंह के देवलों के बाद आता है। यह पूर्णतः सुरक्षित अवस्था में है। गर्भगृह के द्वार खण्ड पर परिचारिकाओं के अतिरिक्त गंगा, यमुना स्थानक मुद्रा में हैं। गर्भगृह पूर्णतः रिक्त है। इसका वितान पूर्णतः विक्षिप्त है। सभा-मण्डप के स्तंभ मंगल कलशों व घट पल्लवों से अलंकृत हैं। सभा-मण्डप विशाल है। सभा-मण्डप की वितान में बतखों का वृताकार दृश्य बहुत ही सुन्दर हैं। पत्र-लताओं का अलंकरण भी प्रशंसनीय है। इस देवल से मात्र एक सूत्रधार 'शुजागोइद' का नाम प्राप्त हो सका है।

महाराजा गजसिंह का देहान्त आगरे में वि० सं० १६९५ की जेठ सुदि ३ को हुआ। यमुना के किनारे ही इनकी अंत्येष्टि हुई थी। अतः बादशाह शाहजहां ने उसी स्थान पर इनकी एक छतरी का निर्माण कराया।[1]

महाराजा जसवंतसिंह प्रथम (वि० सं० १६९५-१७३५) का देवल

यह देवल आकार में तो भव्य है, लेकिन अलंकरण में अजीतसिंह देवल की तुलना में साधारण है। इसके विशाल स्तंभ तत्कालीन तक्षणकार की उच्च तकनीकी सूझबूझ के प्रतीक हैं। गर्भगृह में एक पीठिका बनी हुई है। गर्भगृह के प्रवेश द्वार स्तंभों का अलंकरण बहुत ही सुन्दर है। इस पर शैव परिवार के देवी-देवताओं की मूर्तियों का तक्षण है। मन्दिर की भांति चन्द्र शिला में शंख व पल्लवित पुष्प-लताएं मंगल भावना की प्रतीक हैं। शृंगार मण्डप का वितान विक्षिप्त है।

सभा-मण्डप कई विशाल एवं सुन्दर स्तंभों पर आधारित है इसके शृंगार-मण्डप का विक्षिप्त वितान कई अलंकरणों से ओतप्रोत है। घट पल्लव व मंगल कलशों का तक्षण सुन्दर है। मुख्य प्रवेश द्वार के वितान में कृष्ण-लीला का मनोहर दृश्य है। कृष्ण

---

१ रेऊ कृत-मारवाड़ का इतिहास; प्रथम भाग-पृ० सं० २०८

वंशी की तान ले रहे हैं। गोपियां मुरली की तान पर मुग्ध होकर नृत्य कर रही हैं। गऊएं घास चरती हुई विचरण कर रही है। इस देवल से इसके निर्माता सूत्रधार का नाम उपलब्ध नहीं हो सका है। लेकिन जसवंतसिंह के देवल एवं अजीतसिंह देवल के स्थापत्य का तुलनात्मक विवेचन करने पर यह अनुमान लगाने में कठिनाई नहीं होती कि इस देवल के सूत्रधार भी 'सोमपुरा' 'गजधर' ही रहे होगें।

महाराजा अजीतसिंह (वि० सं० १७६३–१७८१) का देवल

महाराजा अजीतसिंह का देवल राजस्थान के समस्त देवलों में न केवल भव्यतम है, अपितु इसकी कलात्मक विलक्षणता से इसे स्मृति-भवनों में उच्च स्थान प्राप्त हुआ है।

इसके गर्भगृह में एक पीठिका स्थित है। गर्भगृह के द्वार स्तंभों पर अन्य देवलों एवं मन्दिरों की भांति शिल्प विधान के अनुसार गंगा-यमुना नहीं हैं। उनके स्थान पर शैव परिवार के देवी-देवताओं का अंकन तत्कालीन समाज में शैव धर्म के महत्त्व की ओर संकेत करता है। इस देवल के गर्भगृह के चार द्वार हैं एवं चार ही शृंगार-मण्डप हैं। इन चारों द्वारों के खण्डों पर शैव परिवार के देवी-देवताओं का अंकन है। द्वार-खण्डों पर अष्ट मातृकाएं अपने वाहनों सहित स्थानक मुद्रा में हैं। गर्भगृह के चारों द्वारों की चन्द्र शिलाओं पर शंख, पल्लवित पत्र एवं पुष्पलताएं मंगल भावना की प्रतीक हैं। शिल्पकला की परम्परा के अनुसार अधिकांश मन्दिरों में गर्भगृह के द्वार के ऊपरी भाग में बहुधा नवग्रहों का अंकन होता है। लेकिन अजीतसिंह देवल में इस स्थान को शैव परिवार के देवी–देवताओं ने ले लिया है। देवल के शृंगार-मण्डप का वितान विक्षप्त है। वितान में, प्रतिहारकालीन मण्डोर दुर्ग के कुछ प्रतीकों व अलंकरणों को आत्मसात करने की सफल चेष्टा की गई है[1]

सभा-मण्डप के वितान में महाराजा जसवंतसिंह के देवल की भांति कृष्ण की रासलीला का सुन्दर दृश्य है। बीकानेर में देवीकुण्ड पर स्थित अनूपसिंह की छतरी में भी रासलीला के सुन्दर दृश्य हैं। लेकिन अनूपसिंह की छतरी की गोपियों के आभूषण व परिधान मुगल परम्परा में है, जबकि अजीतसिंह देवल की गोपियों के परिधान विशुद्ध राजपूती है।[१] देवल में विरहणी का परदेसी पिया को संदेश, योजनाबृद्ध नृत्य, शूल से मर्माहत होकर नारी का पीडा भाव; आखेट; नृत्य से थक कर पैरों से पायल खोलती हुई नृतकी आदि ऐसे विविध विषय हैं जो कला की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करते हैं उनको विस्तार से प्रकाश में लाना आवश्यक है।

इस देवल का निर्माण महाराजा अभयसिंह ने संवत १७९३ में प्रारम्भ कराया था। लेकिन उसके जीवन काल में देवल पूरा न हो सका। तदुपरान्त अभयसिंह के प्रपोत्र महा-

---

1 Art and Architecture of Bikaner State, p. 93, fig. 54

राजा भीमसिंह ने संवत् १८५६ में पूरा कराया था। इस आशय का एक शिलालेख देवल के मुख्य द्वार पर उत्कीर्ण है, जो इस प्रकार है।

महाराजाधराज श्री अजीतसींघ जी रा देवल माराज श्री भीवसिंघ जी करायौ दरौगा की रायत गोव

चदनथु गजदर वीरामह समती काती वद १ समत १८१० रा।
समत १८५६ मास भदवा सुद १४ स...... द्रवा।

उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि अजीतसिंह देवल न केवल स्मृति-भवनों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, अपितु १८ वीं व १९ वीं शताब्दी के स्थापत्य में अपना अनुपम स्थान रखता है। इसमें कला और सौन्दर्य की प्राचीन परम्पराओं को आत्मसात् करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

मण्डोर के देवल एवं छतरियों का स्थापत्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य विद्वान कर्नल जेम्स टॉड ने इन देवलो के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है–

"These dumb recorders of a nation's history attest the epochs of the Marwar's glory, which commenced with Maldeo and ended with the sons of Ajeet. The temple monument of Maldeo, which yet throws into shade, the still more simple shrines of Chonda and Jodha, contsasted with the magnificent mausoleum of Raja Ajeet, reads us a lesson on the advancement of the luxurious pomp in this desert state."

संग्रहाध्यक्ष,
राजकीय संग्रहालय,
कोटा (राज०)

● डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

शोध सामग्री : सर्वेक्षण

कृष्ण भट्ट देवर्षि कृत

शृंगार--रस–माधुरी

(गतांक से आगे)

अष्टम् आस्वाद

प्रिय प्यारी बिछुरत बढ़त अति सनेह बिसतार।
विप्रलंभ[१] शृंगार सो, बरनत चारि प्रकार ॥१॥
आदि सकल अनुराग के कहि पूरवानुराग।[२]
करुना मान प्रवास पुनि अपनी अपनी लाग ॥२॥
देखत ही कछु और सौ नैनन पर्‌यौ सुभाई।
सुख–सागर सूरति ललन बिन देखें दुखदाई ॥३॥

॥ श्री राधिका को प्रच्छन्न पूर्वानुराग ॥यथा॥

रचि रस–रंग उन अंगन कौं संग लहि,
महावर रंग हू तैं अति गति रंगी है।
रूपजल माँझ तिरै लोकलाज सौं न घिरै,
भूली फिरै गेह सौं सनेह सगबगी है।
लाल लखि लाल इन्हैं कीजिये निहाल बिन,
देखे ये बिहाल नटसाल सौं दगी है।
मोहनी के मंज लगी वै ही मृदु हास पगी,
पेम कैं ठगोरी ठगी रैंन दिन जगी है ॥४॥

---

१ विप्रलंभ के उपभेदों के संदर्भ में दो मत हैं। एक मत के अनुसार विप्रलंभ ५ प्रकार का है–अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शाप। दूसरे मत के अनुसार पूर्वराग, मान, लगभग पर्याय हैं। इसके अतिरिक्त वियोगजन्य दश काम–दशाओं का वर्णन भी परम्परा भुक्त है। देवर्षि ने पूर्वानुराग भेद और अभिलाषा, चिन्ता गुनकथन, स्मृति उद्वेग, प्रताप आदि काम–दशाओं का विवेचन इस आस्वाद में किया है।

२ पूर्वानुराग में गुण श्रवण अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से अनुराग उत्पन्न होता है। दर्शन स्वप्न में भी हो सकता है।

।।यथा।।

रहै बरसाई रोइ–रोइ सरसाई अति,
आँहि तरसाई नैंक रूप दरसाउ रे।
उठि उठि धाई लोक लाज बिसराई बर–
–जी न चित लाईं आनि तू ही समुझाउ रे।
नेह कैं लगाई दूनी दूनी कै जगाई आंच,
जात न बुझाई तू ही आई कै बुझाउ रे।
मोह जाल आंई भई आखैं दुखहाईं ऐसैं,
तैं ही उरझांई अब तू ही सुरझाउ रे ।।५।।

।। श्री राधिका कौ प्रकास पूर्वानुराग ।।

हौं समुझी हित होरी के ख्याल मैं लालनि मूठ गुलाल की डारी ।।
ताहि अनेक अंगोछनि सौं कब की लै अँगोछत ही पचि हारी ।।
देख्यौ भयै यहै फागुन यौं सुख बीज बयौ वृजहू लहै प्यारी ।।
आँखिन मैं अनुराग बढ्यौ सु उंही अनुराग चढै रंग भारी ।।६।।

।।यथा।।

पूरन पराग रतिराज सर फूलन कौं,
मोदक कमोदन कौ मोहक लगायौ है।
रावरे रसीले कर कंजु मंजु मूठि भरि,
वैं ही तन चाहि चाहि चौगुनौ चलायौ है।
छींटत गुलाब रस धोइ धोइ हारी उन,
कोइन मैं मोदु धर्‌यौ क्यौं हू न छुड़ायौ है।
डार्‌यौ लाल बूका लाल फागुन कैं ख्याल वहै,
सोई वृजबालनि कै आँखिन मैं छायौ है ।।७।।

।। कृष्ण जू कौ प्रच्छन्न पूर्वानुराग ।।

तार की सी, दीप की सी, दामिनी सी तिन बीच,
कोर चंद चाँदिनी सी अंगनि मैं ह्वै गई।
अतुल अनंदनि सौं माधुरी अमंदनि सौं,
कोरि छवि छंदन सौं नैननि सौं छ्वै गई।
लागत न भाई तिंहु लोक की निकाई ऐसी,
मोह मदिराई चटकीले चित च्वै गई।
कासौं कहूं जांनै कौन अंतर ही लीनौं मौंन,
ता दिनां तैं चहुं दिस चित्रसारी ह्वै गई ।।८।।

॥ कृष्ण जू कौ प्रकास पूर्वानुराग ॥

पलन पर न पावै, कल न लगन पावै,
तारे न चलन पावै चंचलता भागी है।
नींदहु न समुहाति ऐसैं ही बिहाति राति,
बिथा सरसाति घाति विरह की जागी है।
तौ बिन बिहाल हाल भये री गुपाल लाल,
दीजीयै दरस बाल जो पै रस पागी है।
जमुना कै नीर कहुँ काल्हि लखि पाई उन्हैं,
सोई छबि लीन ह्वै वैं नैंनन सौं लागी है ॥६॥

॥ दोहा ॥

देखत बोलन मिलन बिन, बढै विरह दिनमांन।
उपजत तासौं दसू[१] दिसा तिन कौ करऊं बखान ॥१०॥
प्रथम होत अभिलाष अवर चिंता गुन भाषन।
सुमिरिति अरु उद्वेग प्रलय न मुख लाखन ॥११॥
अंग अंग मैं व्याधि जोर जड़िता पुनि होई।
नेह बढ़ै भय होत मरन पावऊ जिन कोई ॥१२॥

॥ अथ श्री प्रिया जू कौ प्रच्छन्न अभिलाषा ॥[२]

बीजना कीजत अंगनि अंग खरी स्रम की जलधार कढ़ी है ॥
के तो उसास भरैं निसवासर देखि विथा मन मेरे बढ़ी है ॥
ऊँचो मनोरथ मंदिर ताकी सिढीन तू कोरिक बार चढ़ी है ॥
नैंकु तो धीरज कौं धरि हे अति पातरे गातनि हार बढ़ी है ॥१३॥

॥ प्रकास अभिलाषा ॥

डोलि कटि काछिनी मैं नाभी सर न्हाइये री,
त्रिवली तरंगनि मैं अति सरसाईयै।
रोमावलि रूख तर नैंक बिरमाइये री,
राची उर केसरि के रंगनि रचाईयै।

---

१ दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम्, द० रू० ४।५१
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः।
जड़तामरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥ दशरूपक ४।५२

२ सम्मिलन की इच्छा को अभिलाषा कहते हैं।
'अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्से सर्वांगसुन्दरे', दशरूपक ४/५३

वांकी बनमाल सौं लपट उरझाइये री,
अंग के त्रिभंग पर वारि वारि जाईयै ।
तैं ही छिन तन मन ताप बिसराईयै जू,
प्यारे बृजचंद कौ दरस नैंक पाईयै ।।१४।।

।। श्री कृष्ण जू कौ अभिलाष ।। यथा ।।

कंचन मही[१] सी कब ह्वै है नैंन खंजन कौं,
लोचन चकोर कब पाइहैं जुन्हाइ सी ।
फूली अलनी सी कब लै हैं अभिलाष अलि,
लाख लाख भांतिन कै सौरभ सुहाई सी ।।
चह चहे चाह चाउ चातक सिखीन कब,
ह्वै है सुख मेह बरषा की अधिकाई सी ।
रूप प्रभुताई सब सोभा सभाई कब,
दैहै दरसाई तिहु लोक की निकाई सी ।।१५।।

।। यथा ।।

पीरी परि आई कान्ह अंगनि की झांई असी,
बेदम बढ़ाई को लखी है गजगामिनी ।
औचक सी परी चित्त धीरता न धरी सुख,
साज परहरी असी भामिनी को भामिनी ।
ध्यान सौ लगावत ही बासर बितावत हौ,
मोहि न बतावत हौ कैसी किहि नामिनी ।
लाख लाख भाँति अभिलापन ही राखियत ।
भाषियति बैंन सौं न को है वह कामिनी ।।१६।।

।।श्री कृष्ण जू कौ प्रकास अभिलाष ।।

ता दिन तैं ललिते ललचाइ रह्यौ चित्त चाइन चौ गुनौ दूखै ।।
वारत हौं तिहु लोक निकाइहि दूखत पूष पियूष मयूषै ।।
चैनं नही अब नैननि लागि रही अवलोकनि की बहू भूषै ।।
आंसू बियोग अताप कै बीच पर्यौ उर फेरि भरै फिरि सूखै ।।१७।।

।। श्री अथ चिंता लछिनम् ।।

क्यों मिलियै क्यों बोलियै, क्यों बसि करीये कंत ।
उपजत चित चिंता दसा, निस दिन रहत सचिंत ।।१८।।

---

१ महो=मई

॥ अथ श्री राधिका को प्रच्छन्न चिंता ॥

जाकै अंग अंगनि की छबि की तरंगनि मैं,
बूडि मन जात ताहि कैसैं मन दीजियै ।
जाकै बस आइ तिहू लोक की निकाई नीकी,
लागत सुहाई ताहि कैसैं बस कीजियै ।
बृंदाबन चंद सुखकंद कोरि छंद निधि,
नंद कौ दुलारौ भरि नैननि क्यौं लीजियै ।
कैसैं करियाहि निसबासर समीप लैं,
अलंग जुर हरन, मधुर मधु पी लीजियै ॥१९॥

॥ राधा जू की प्रकास चिंता ॥

दीप चित चाह लाज सलिल अथाह सोच,
नदी परवाह अति विषम बहाउ सी ।
नेह बडवागि दिन रैंनि रही जागि रति–
राज रह्यौ लागि ज्यौं मगर कीयै दाउ सी ।
कोरिक बिचार लहरीन बिसतार कैसैं,
परै निसतार नित होति अधिकाउ सी ।
देखत हौं लाल तुम्हैं देखि बृजबाल वहै,
पैरी फिरै बिरह पयोनिधि मैं नाउ सी ॥२०॥

॥ यथा ॥

अति मतवारे लाल लोचन तिहारे प्रेम–
पयोनिधि पूर मधि डारी बृज नारी हैं ।
तेऊ कुल कांनि लोह जालनि जटित लाज,
कठिन जिहाज वैठि केते दिन टारी हैं ।
बिरह दसन दै कैं लाग्यौ मैंन महामीन,
अब निरधार भई बिकल बिचारी हैं ।
उरज उतंग घट उर सौं लगाई लीने,
तेउ अंसुवनि भरि कीने अति भारी हैं ॥२१॥

॥ श्रीकृष्ण जू की प्रच्छन्न चिंता ॥

अवलोकत ही रहियै निसवासर क्यौं अवलोक न होइ धरी ॥
अवलोकै बिना नहीं लोक मैं जीवनि, जौ भई तौ बिरहागि जरी ॥
बृज चंचल चाइ चवाइन की चरचा चहुं ओरन ते पसरी ॥
छिनके बिछुरैं जिय जानि परी सु बुरी इन नैंनन बान परी ॥२२॥

।। अथ प्रकास चिंता ।।

अंचर के अंतर तैं आनन विकासत ही,
आस पास पून्यौं कौ उजास दिन देखिये ।
फूले अरबिंदन तैं पारिजात वृंदनि तैं,
सौरभ समूह अंग अंगनि बिसेखिये ।
बृज कहा है तिहूं लोक मृगनैननि के,
नैंननि की तारका सु एकै वह लेखिये ।
प्रानन तैं प्यारी वृषभांन की दुलारी हिय,
लागी रही भारी कहुँ एकौ छिन पेखिये ।।२३।।

।। अथ गुन कथन ।।

प्रानपति के गुनन कौ, कीजै जहाँ बखांन ।
गिन गिन मोती रतन ज्यौं, सो गुन कथन प्रमान ।।२४।।

।। श्री राधिका जू कौ प्रच्छन्न गुन कथन ।।

उरज उतंगनि कौ नीलमनि हार है कि,
एकै महिमोहनी के मत्र कौ बिहार है ।
लोचन चकोरन कौं चंद अवतार है कि,
चित्त चातकनि सुधा घन बिसतार है ।
प्रानन तैं प्यारो लोक आनन अधार है कि,
सौरभ कौ सार है कि सोभा को पसार है ।
रूप रस माधुरी कौ गात सुकुमार है कि,
रूप धरै मार है कि नंद कौ कुमार है ।।२५।।

।। राधिका कौ प्रकास गुन कथन ।।

केलि के प्रसंग और और ही निहारे रंग,
छिन छिन घरी घरी सांझ औ सँवार के ।
जिय के जियारे अंग अग उजियारे लखि,
वारि वारि डारे बाँन मैंन मतवारे के ।
माधुरी तरंग भर्‌यौ लौंनो रूप सागर सु,
कैसें पीयो जात भये लोचन किनारे के ।
एक रसना सौं अलि जात न बखाने गुन,
मोर चंद वारे नंदनंदन पियारे के ।।२६।।

।। कृष्ण कौ प्रछन्न गुन कथन ।।

दीन ह्वै दुरत मंद पौंन के दबाये दीप,
चंपक चितै कैं चंचरीक हू न मान्यौ है ।

हाटक हिरानो देह दहन अधीन करि,
केसरि कराई गहि रूप ही न जान्यौ है।
कंचन के केतक की रंचन रची है रुचि,
फूली भौन सौंनजुही कौन उर आन्यौ है।
लाल ललना के नैक अंगन की आभा लखि,
चौंकि चौंकि चंचला गगन तन तान्यौ है ॥२७॥

॥ यथा ॥

लाल ललना के मुख उपमा कौ कमलनि,
कल ना परति मुरझाई जात पल मैं।
पूरन पराग भर अंगनि बिभूति धर,
केसरि जटा निकर है न हलचल मैं।
कोमल मृणाल एक चरन कें हाल गढे,
छिपे बहु काल कल दल बल कल मैं।
अलिन के जाल रूद्र अछन[1] की माल लै कैं,
रवि जू कौ जापु करैं जोगी भये जल मैं ॥२८॥

॥ श्री कृष्ण जू कौ प्रकास गुन कथन ॥

परम प्रकास रतिराज कौ निवास कला,
सोरह उजास प्रतिमास भास भीनौ है।
हिय को हुलास कुवलय कौ बिकास अंध,
कारनि कौ नास नैंन प्यास हरि लीनौ है।
तेरे मुख सुखमा की उपमां कौ है न तऊ,
यातैं छिप जाति छिन छिन छबि छीनौ है।
बेग ही गगन गहि भाजि गयौ चाहै चित्त,
याही तैं मयंक ने कुरंग रथ कीनौ है ॥२९॥

॥ अथ स्मृति लछिनम् ॥

ज्यौं ज्यौं पिय सुधि होत है, त्यौं त्यौं सब सुधि जात।
वहै कही सुमिरत दसा, लगी रहै दिन रात ॥३०॥

॥ अथ श्री राधेजू की प्रछन्न स्मृति ॥

जिन जमुना कें कूल कीनी रसमूल केलि,
जिन द्रूम मूलनि अतूल सुख धरती।

---

१ रूद्र अछन (रुद्राक्ष)

जिन बन बेलिन सहेलिन के संग जिम,
भूषन कैं चाइ फूल बीनत बिहरती।
जिन बृज कुंजनि की बीथिन निशीथनि मैं,
पीतम के अंग रति रंग रस धरती।
तेई ठौर नैनन सौं जात न बिलोकी जिन,
ठौरन कैं चाइ घर आंगन बिसरती ॥३१॥

॥ अथ राधिका की प्रकास स्मृति ॥

फूले फूले पंकज छिपाइ कहूं दूरि धरि,
पल्लव उठाउ अलि आंखिन के आगैं तैं।
अंबर तैं आजु पून्यौं चन्द हि उतारि लेहु,
दूनों दुख होत चैत चांदनी के लागैं तैं।
वा बिन बसंत के बिहारन रबि पाई करु,
चूर्‌यौ जात चित्त पिक पंचम के रागैं तैं।
नैन नींद खोइ रही ऐसी गति होइ रही,
सबै सुधी सोइ रही एकैं सुधि जागैं तैं ॥३२॥

॥ श्री कृष्ण जू की प्रछन्न स्मृति ॥सवैया॥

फूले से भूले से झूले से लोचन रोचन कैं रूचि राचि रचाये ॥
है उझके से छके से चके से उंही मग चाहत नैंक नचाये ॥
चंपक चंदक चंदन चांदिनी चंद चहै अति ताप तचाये ॥
पूछत कान्ह कहो किन कौंन कैं सोच सकोच सचोटी सचाये ॥३३॥

॥ कृष्णजू की प्रकास स्मृति ॥

मोरनि हिलावत खिलावत सुकनि मृग,
सावक मिलाव परम सरसात हैं।
चंदहिं बुलावत डुलावत अलीन अकु-
लावत हिये मैं अंग अंग अरसात हैं।
भैटत अचंभन सौं रंभन के थंभन,
लता को परिरंभन कैं अति ही सिहात हैं।
आजु कालिह बाल मोह जालन के हाल इन,
ख्यालन ही लालन के बसर बिहात हैं ॥३४॥

अथ उद्वेग लछिनम् ॥ दोहा ॥

लगनि अगनि के जोर तें; सुखदायक दुख होइ।
इहै उद्वेग दसा वहै, भाषत हैं कवि लोइ ॥३५॥

प्रियाजू को प्रछन्न उद्वेग ।। सवैया ।।

जिन जमुना कैं मूल कीनी बटमूल केलि,
तेई लगे सूल से न जात दृग धरी है।
केतकी की कातिन करेजा कतलान कीयौ,
कोकिला कसाइन की केती कू कू परी है।
जानि तिम मधुप धूम धारन को देखीये,
पलासन की डार फूल भारन सो भरी है।
देखन बियोगिनीन रुखन चढी हैं आगि,
केती जारि डारी अरु केती अधजरी है ।।३६।।

।। अथ प्रियाजू को प्रकास उद्वेग ।।

कोरत करेजो कर पत्र से करेरे कर,
करत करुरे कांम नैंक न सकातो है।
सिंधु के मझार बसि ल्यावत जहर पीसि,
कैंधौं लै कहर असि देति अतघातो है।
सीरो कौन कहै सखि सारद सुधाकरहि,
वाडव अगनि ज्वाल जा मधि समातो है।
चिहुँ दिस बिथुरत तारागन तेजकन,
तन मन तापन तपनहू तैं तातो है ।।३७।।

अथ कृष्णजू को प्रछन्न उद्वेग ।। सवैया ।।

वाही छबीली के अंगनि राचि कैं लोचन रंग भए गुललाला ।।
बीरी बिनोद बिसाल बिसारे से भावै न और अनूपम बाला ।।
जानति हौं यह कुंजनि नाहिनैं फूली पलासन की बन माला ।।
मो मन मांझ बढ्यौ विरहानल ताकी बिसाल ये फैलति ज्वाला ।।३८।।

।। प्रकाम उद्वेग यथा ।।

नव पल्लव कसि कबचन सुभट बरस रस रसालनि ।।
सुरभि सुमन सर चाप चारु चंपक तरु जालनि ।।
मलयानिल मातंग मधुप यह संग हजारनि ।।
कदलि थम्भ नीसान मत्त पिक गान नगारनि ।।
नृप काम हुकम बिरहीन पर चढ़ि बसंत इहि बिधि बने।
भासत पलास बनिता सु अति अरुन भास तंबू तने ।।३९।।

।। अथ प्रलाप लछिनम् ।।

निकस जात मुख तैं कछु, पीतम की हित बात।
ताहि प्रलाप बखांनियै, बिरह घात अधिकात ।।४०।।

॥ राधिका कौ प्रछन्न प्रलाप ॥

मासों मन्मथ बैर पर्‌यौ तिहि मित्र सुधाकर बैरी खरोई ॥
तू तिहि मित्र ह्वै आनन मेरे महाई बुरो यह न्याऊ जरोई ॥
बैठी इकंत मैं कंत बियोग मैं वात कहौं मन ही मन ज़ोई ॥
सोई तूं नीकै कै बोलि बतावत बैठ्यौ समाज सुनै सब कोई ॥४१॥

॥ प्रकास प्रलाप यथा ॥

ऐहीं भाँति ख्याल सम जांनि हौं बिहाल औरैं,
संतति बिसाल मोह जाल उरझाई हौं।
ऐसी ये अनीत कैहौं पानी कंज रीत लैहौं,
नैंकु न प्रतीति दैहौं प्रीति उपजाई हौं।
दूनो दुख पावै सूनैं उठि उठि धावै अरु,
आठौं जांम ध्यावै ताहि औही तरसाई हौं।
ह्वै हौं नहिं भोरी दैहौं नेह झकझोरी जो पै,
रावरे की थोरीहू ठगोरी करि पाई हौं ॥४२॥

॥ श्री कृष्ण कौ प्रछन्न प्रलाप ॥

कान्ह इकंत मैं बात कियैं सरसात हियैं तुम कान दई हौ ॥
बैठे कहै अपनी उर पीर सो बीर कछू तुम बूझि लई हौ ॥
लागी रहौं नित ही जक सी जपिबे पढ़िबे मैं बिनोद मई हौ ॥
वा मन मोहनी मंत्र मनोहर वा मुख काम को बेद भई हौ ॥४३॥

॥ प्रकास प्रलाप यथा ॥

अंचल उठाई अति चंचल बिलोक रही,
चारि नैंन होत ही मैं कैसी फिरि गई है।
अनबतरानी पुनि नैंक सतरानी कत-
रानी इन नैंनन मैं जात लीन भई है।
काहे जान दीनी भर अंक क्यौं न लीनी रस-
भीनी बसि कीनी किनि कौन विधि ठई है।
आई जात धाई जात फेरि आई जाति ताहि,
जानिबूझि ललिते न तैंहूं सीख दई है ॥४४॥

॥ अथ उन्माद लछिनं ॥दोहा॥

गिरत फिरत रोवत हसत, कहत और की और।
सो उनमाद दसा कही, बढ़त बिरह की दौर ॥४५॥

।। प्रिया को प्रछन्न उन्माद ।।

विरह बिथा बाढ़ी बहु बालहि पीतम रूप हियें अहिटानौं ।।
कसिक उतै मुख आल बाल बकि घटत घटत सब अंग घटानौं ।।
उरज उतंग सींचि आँसू जल छूटी लर ऊपर, उपटानौं ।।
मानहु संभु अन्हात गंग जल ता सिर काल ब्याल लपटानौं ।।४६।।

।। पुनः ।।

मैंन के सहस सर तेरे सुर सातों सुनि,
कौन तिय होत हिय दार्‌यौ फट फूटि कैं ।
देखि देखि तेरे की ये छतियाँ अछेक छेक,
कौन रही आँखिन ही आँसू जल घूंटि कैं ।
तेरे गुन गाथ बृजनाथ हाथ साथ सदा,
अधर सुधा सौं रही है न छिन छूटिकैं ।
मुरली रसीली तू हमार उर साली बन-
माली सौं अकेलिये मनोज सुख लूटि कैं ।।४७।।

।। राधाजू को प्रकास उन्माद ।।

चंदन गुलाब घनसार धार दीजियत,
कीजीयत सेज जलजातन के पात की ।
सीरे उपचारनि में बार बार राखियत,
त्यों त्यौं अति दौर तन ताप अधिकात की ।
रंग भरी रावरे की बांसुरी कौ नाद सुंनि,
तैंही छिन प्यारे गति भूलि सुखसात की ।
देखो परभात की परी है बड़े तात की,
न सुधि गोरे गात की न घात की न बात की ।।४८।।

।। श्री कृष्णजू को प्रछन्न उन्माद ।।

आवत कहूं कौं उठि धावत कहौं त्यौं गुन-
गावत अनेक ऐसी चित्त अति अटंकी ।
बिरह के भार मधि अंगनि संभार है न,
छूटी लट टूटी मोती लरहू मुकट की ।
नैंक बंक नैननि बिलोकी न बिलोकी तू,
सु ताके उर बेदन निपट चटपट की ।
एरी पनघट की बिसारी सुधि धट की न,
सुधि पीतपट की न तट की न बट की ।।४९।।

।। श्री कृष्णजू कौ प्रकास उन्माद ।।

अंगनि थकित अति जिय मैं जकित चलि,
चाहत चकि तकित द्यौंस कितराति है।
ग्वारनि कौं दूरि कैं बिहारनि कौं चूरि आँसू,
धारनि को पूरि रहे पीर अधिकाति है।
बहु विधि सोसनि सौं मन के मसोसनि सौं,
पीरी परी जाति गात दुति दरसाति है।
जा दिनां तैं कीने हैं कटाछ रसभीने ता दिनां-
तैं वे अधीने घरी घरी यौं बिहाती है ।।५०।।

।। अथ व्याधि लछिनम् ।। दोहा ।।

अंग रूप मैले परे, निस दिन भरैं उसास।
व्याधि दसा सो बरनियैं, जिय उपजत अति त्रास ।।५१।।

।। राधिका की प्रछन्न व्याधि ।।

दूबरी देह भई दुलही दिन तौं बिरहागनि ताप तई जू ।।
कोरि सखीन करी बिनती तब नेंक बजावन की न लई जू ।।
गूढ़ वेई गुन गावत रावरे रीति नई नई लेत भई जू ।।
जानत ता रही कैं अमवा तन मूरछना बहु बार छई जू ।।५२।।

।। प्रकास ।। व्याधि कवित्त ।।

परम सुजान आन आनंद निदान कान्ह,
बिछुरन दान गुन ग्रंथ यौं कीये सटीक।
मोह सिंधु गहरैं त्यौं मूरछा की लहरैं परे-
ई प्रान थहरैं न पाये पीय पान पीक।
गति मति घटि गई आभा अंग अटि गई,
प्रकृति पलटि गई लटि गई लीक लीक।
चित्त गति बढ़ि गई भूख प्यास घटि गई,
नींदहू उछटि गई जटि गई हूक हीक ।।५३।।

।।यथा ।।

सीतल गुलाब मिलि चंदन उसीर जल,
दूरि ही बफात करि लेत जरि जात हैं।
सेज रचिवे के काज पंकज न पाइयत,
कोस दस बीस के सरोवर सुकात हैं।
रावरैं बिरह नई बेदनि के वारिधि मैं,
धीरज बिलात यौं अताप अधिकात हैं।

माह से मवास मैंन बचत अवास जन,
देखियत दौंके से दगध द्रुमपात है ।।५४।।
एकैं रूकि जात परे सो पुट के संपुट मैं,
एकैं मुरझाति डारि आधो अंग बारि पैं।
एकैं पुनि पाहनहू पानी होइ जात एकैं–
अकुलात सरिता सरोवर की पारि मैं।
एकैं चिगदात एकैं दागनि दगात कहा–
भयो जो पै प्यारी प्रीति पंजर की सारि पैं।
चांदनी को चाई चंदा मीडैं जुग मारतु है,
कैसैं कै उठाई जाई नारि वैसी नारि पैं।।५५।।

श्री कृष्ण की प्रछन्न व्याधि ।।यथा।।

राखियै संजोग सुख सीतल उसीरनि मैं,
मंद हास चंदन बिलास रससाने मैं।
कोमल कटाछ बिजना के पौंन टारनि मैं,
आनंद फुहारनि मैं प्रीति तहखाने मैं।
तपत उसास लूक लागन न दीजीयै हौ,
कान्ह सुकुमार कंजदल हू ते जाने मैं।
मन रितु ग्रीषम बिरह बितेज आंच,
आंचियै न प्यारो सुख कोरि सिख माने मैं ।।५६।।

।।प्रकास व्याधि।।यथा।।

करै जिन रोस तोहि हैं न कछु दोस नैंक,
जानैं न मसोस दुख दारुन दुसह की।
तेरे जान हासी न चलत है उहासी जहां,
परी पेम फांसी गुन गासी देह दह की।
काके मन भाई यह एती निठुराई बीर,
जानै न पराई पीर गिरहू गिरह की।
ल्यावैं कौं न चीठी वह जरोरी बसीठी उन,
कीनी है अंगीठी उर आगि से बिरह की ।।५७।।

।।अथ जड़ता लछिनम् ।।दोहा।।

अति बेदन बिसतारि सो, होइ जात तन भीति
तासौं जड़ता कहतु है, यहै विरह की नीति ।।५८।।

।।अथ प्रियाजू की प्रछन्न जड़ता ।।सवैया।।

सीतल और खरे उपचार करे बहु बार सु एक सुभावै ।।
ज्यौं ही हितु जन त्यौं गुरू लोग बढ़ी भ्रम भूल को भेद बतावै ।।

रावरे नैननि देखि कहा किसो देखहु फेरि कहौं सचुपावै ।
…… …… … …… …… …… ……… ॥५९॥[1]

॥ अथ प्रकास जड़ता ॥

नैननि सौं मिली बहु सैननि सौं मिली मुख
बैननि सौं मिली दिन रैंन दरसात हैं ।
ध्याननि सौं मिली गुनगाननि सौं मिली मैन—
बाननि सौं मिली निस बासर बिहात हैं ।
भाइन सौं मिलो चित चाइन सौं मिली यौं-
उपायन सौं मिली अति हियें सरसात हैं ।
बृंदाबन चंद नंद नंद प्रान प्यारे तुम्हैं
प्रानन सौं मिली अब एकै भई जात हैं ॥६०॥

॥कृष्ण की प्रछन्न जड़ता॥

पाइ सरोज के संगम लालच ह्वै, हैं असोक किधौं सुखदाई ।
कै अति लोल बिलोचन कैं रूचि रीभि कैं ह्वै हैं रसाल सदाई ॥
कै तुव अंग मिलाप कैं कारन ह्वै हैं भलै बन चंपक माई ।
नैंक हलैं न चलैं गहे थंमहि जानौं कहा करि हैंब कन्हाई ॥६१॥

॥ अथ प्रकास जड़ता ॥

आठौं जाम कुंजनि मैं रहे द्रुम पुंजनि मैं,
भूलि सुध खांन पांन काको कौन तेह है ।
बैठे लहि एक ठांम कैसो होत सीत धांम,
देखियत छाम अति पुलकित देह है ।
आनंद के मंदिर मैं रोम रोम रमि रहे,
बरसत मानहु अछेह रस मेह है ।
मिटी आधि व्याधि अब ए कौन उपाधि यह,
आतम समाधि किधौं राधिका कौ नेह है ॥६२॥

॥दोहा॥

नवौं दसा पिय नेह की, ये सब कही समूल ।
एक रही दसईं दसा, लगो सु अंबर फूल ॥६३॥
जौ कबहूं दसईं दसा, प्रगटै प्रेम प्रभाव ।
तौ हू वाहि न बरनीयैं, सुनत घटत चित चाव ॥६४॥

---

१ प्रस्तुत पांडुलिपि में इस सवैये का चतुर्थ चरण नहीं है ।

राधा जुत राधा रमन, कोरि मनोज हुलास ।
अजर अमर नित प्रति रहौ, करत अनेक बिलास ।।६५।।

।।इति श्री मन्महाराजाधिराज श्री राउ राजेन्द्र श्री बुधसिंहजी देवाज्ञप्त कवि कोविद चूड़ामणि सकल कलानिधि श्री कृष्ण भट्ट देवर्षि विरचितायां शृंगार-रस माधुर्यां अष्टमास्वादः ।। (क्रमशः)

हिन्दी विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राजस्थान)

।———।

● डॉ० भगवतीलाल शर्मा

जोगीदास रचित- 'हरिपिंगल प्रबन्ध'

राजस्थानी के विपुल एवं वैविध्य--पूर्ण वाङ्मय में छन्द–शास्त्रीय लक्षण ग्रन्थों की परम्परा गौरवपूर्ण तथा समृद्ध रही है। नागराज पिंगल, छंद ग्रन्थ गीत, पिंगल सिरोमणी (कुशललाभ), हरिपिंगल प्रबन्ध (जोगीदास), छंद रत्नावली (हरिरामदास निरंजनी), गुण पिंगल प्रकास तथा लखपत पिंगल (हमीरदान रतनू), रघुवर जस प्रकास (किसना आढ़ा), रघुनाथ रूपक गीतां रौ (मंछराम सेवग), हणूत प्रकास, कविकुळ बोध (उम्मेद राम), अजीत पिंगल (अजीतसिंह महता), रतन विलास (अज्ञात), लघु पिंगल (चेतन विजय), माला पिंगल (नरांण), छंद प्रकाश (मेघराज), दलपत पिंगल (दलपत), डिंगल कोश (कविराजा मुरारिदान), प्रत्यय–प्रबोध (हिंगलाजदान कविया), महाभारथ गीत रूपक (सांवलदान आशिया) आदि अनेक ग्रंथ राजस्थानी में व्यवहृत अन्य छंदों के साथ–साथ उसकी अपनी विशिष्ट निधि 'गीत' को उजागर करते हैं।[1] लक्षण–निदर्शन के साथ प्रबन्धत्व एवं इतिहास का विरल सुमेल इन काव्यों को काव्यों के इतिहास में और इतिहास–संस्कृति के काव्यों में वैशिष्ट्य प्रदान करता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

विवेच्य ग्रंथ 'हरिपिंगल प्रबन्ध'[2] इस लक्षण–ग्रन्थ–धारा का महत्त्वपूर्ण लक्षण–काव्य

---

१ अ. इनके अतिरिक्त पिंगलगुणग्रंथरूपदीपभाषा (जय कृष्ण), छंद सूची भाषा (साधुराम), नाग पिंगल, पिंगल टीका (चित्रसेन), छंद प्रकास (दानदास दयाल), छंद प्रबन्ध पिंगल भाषा (भंडारी उदेचंद), छंद विवेक (जयनारायण) आदि अनेक ग्रंथ संस्कृत–प्राकृत के छंद–शास्त्रीय ग्रंथों की राजस्थानी टीकाएं तथा स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

आ. इस संबंध में श्री अगरचंद नाहटा का 'राजस्थानी के छंद शास्त्रीय ग्रंथों की परम्परा, ('भाषा' पत्रिका, वर्ष ६, अंक २, दिसम्बर १९६६) नामक शोध–निबन्ध भी द्रष्टव्य है।

२ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर में सुरक्षित। ग्रन्थ सं० ६२, पृष्ठ ८५, आकार–२६. २×१४. ४ से० मी०, स्याही–काली, कागज पुराना घोसुण्डा (चितौड़गढ़) का बना हुआ। लिपि संवत् १७२५, चैत्र वदि ११, लिपि स्थान-देवगढ़ (प्रतापगढ़) राजस्थान, लिपिकर्त्ता–कोदरेण।

ग्रन्थ है। इसका अब तक अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणों से सम्यक् अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत नहीं हो सका। केवल राजस्थानी भाषा एवं साहित्य के इने-गिने इतिहास-ग्रन्थों एवं सूची पत्रों में इस पर टिप्पणियां ही दी जाती रहीं।[१] विधिवत् अध्ययन के अभाव में कतिपय त्रुटिपूर्ण धारणाएं एवं भ्रामक मन्तव्य भी निकले।[२] इन सबका निराकरण आवश्यक है।

कवि परिचय

यह ग्रन्थ कवि-आचार्य चारण जोगीदास विरचित है। ये चारणों की १२० शाखाओं में से कुंआरिया शाखा के थे, जिसका निकास कुंआरिया (मेवाड़) ग्राम से माना जाता है। प्रतापगढ़ के महारावत श्री हरिसिंह (वि० सं० १६८५-१७३०) के ये राज्याश्रित कवि थे। प्रस्तुत ग्रन्थ एवं इतर सूत्रों से इस सामान्य सूचना के अतिरिक्त कवि के जीवन-वृत्त का विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता।

अब तक की शोध से कवि का यही प्रस्तुत ग्रंथ 'हरिपिंगल प्रबन्ध' उपलब्ध हुआ है। इनके लिखे हुए कुछ गीत भी मिलते हैं। इस प्राप्त कृतित्व को देखकर यह विश्वास दृढ़ होता है कि कवि जोगीदास ने कुछ अन्य ग्रन्थों की भी रचना की होगी क्योंकि हर दृष्टि से ऐसा प्रौढ़ ग्रन्थ कवि की प्रथम रचना नहीं हो सकती, अन्तिम रचना भले ही हो।

---

१ अ. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, तृतीय भाग, पृ० ७ भूमिका (सम्पादक श्री उदयसिंह भटनागर)।

आ. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २१४ (डॉ० मोतीलाल मेनारिया)

इ. राजस्थानी सबद कोश, भूमिका, पृ० १५३ (सम्पादक श्री सीताराम लाळस)

ई. राजस्थानी वीर गीत संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ३ (सम्पादक श्री सौभाग्यसिंह शेखावत)

इस ग्रन्थ के महत्त्व को प्रकट करने वाली उपयोगी सूचनाएं इन सब में प्रस्तुत की गई हैं।

२ अ. 'राजस्थानी साहित्य में रामभक्ति-काव्य' पर डॉ० चन्द्रप्रकाशसिंह के निर्देशन में जोधपुर विश्वविद्यालय से शोध प्रबन्ध लिखने वाली सुश्री गुलाब कुंवर भंडारी ने अपने टंकित शोध प्रबन्ध पृ० १९६ पर इसे रामभक्ति काव्य के अन्तर्गत मानते हुए लिखा है कि इस ग्रन्थ में छंदों के उदाहरण स्वरूप राम-भक्ति विषयक पद भी लिखे हैं जबकि इसमें ऐसा कुछ नहीं है।

आ. जोधपुर विश्वविद्यालय में ही 'राजस्थानी का छंद-विधान' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाली सुश्री तारा सापट ने अपने टंकित ग्रन्थ में इस कृति पर एक शब्द तक नहीं लिखा।

इ. अब इस लेख के लेखक द्वारा इसका सम्पादन किया जा रहा है।

ग्रन्थ शीर्षक

ग्रन्थ का शीर्षक 'हरिपिंगल प्रबंध' इस ग्रन्थ के समस्त वर्ण्य विषय को प्रकट करता है। कवि ने इस त्रि-पद शीर्षकानुरुप अपनी रचना को तीन परिच्छेदों में विभक्त कर प्रथम दो परिच्छेदों में छंद–निरुपण प्रस्तुत करते हुए अंतिम तृतीय परिच्छेद में अपने आश्रय-दाता के गौरवपूर्ण वंश-वृक्ष के साथ काव्य-नायक श्री हरिसिंह की यशोगाथा प्रस्तुत कर प्रबन्धत्व को सार्थक किया है।

रचनाकाल

कवि ने इस कृति के प्रणयन का श्रीगणेश सं. १७२० ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी गुरुवार को किया, यथा—

पुख गुर पंचम जेठ सुद, अमरत योग विचार ।
सतरह सैं वीसे समत, हरि पिंगल विसतार ॥१२॥

मात्रिक छन्दों तक का निरुपण उसने संवत् १७२१ श्रावण पंचमी गुरुवार तक समाप्त किया।[1] वर्णिक छन्दों का वर्णन उसने सं० १७२१, भाद्रपद त्रयोदशी मंगलवार को पूर्ण किया।[2] तत्पश्चात् दंडक प्रकरण से लेकर राजवंश वर्णन करते हुए कवि ने सं० १७२१ के कार्तिक मास में अपना यह ग्रंथ समाप्त किया—

समत सतर इकवीस में, कातिक सुभ पख चंद ।
हरिपिंगल हरिअंद जस, वणियो खीर समंद ॥३८॥[3]

मंगलाचरण

ग्रंथारंभ में कवि ने मंगलाचरण प्रस्तुत करते हुए ऋद्धि-सिद्धि प्रदायक गणपति, शेषनाग, 'मोर पंख शिरोधरं शुभकरं' श्री दामोदर तथा व्यास, वालमीकि, माघ, वाण, दंडी, कालिदास प्रभृति सुकवियों की वन्दना की है।[4]

गुरू

चारण जोगीदास के गुरु का नाम जयदेव था। इस मंगलाचरण में तथा ग्रंथ में अनेक स्थलों पर कवि ने भावाभिभूत होकर उनका गुणगान किया है—

विसवनाथ जयदेव गुर, पैं पंकज उर वंदं ।
तारै जेण तरंड जिम, पिंगल अकल समंद ॥५॥

---

१ मात्रिक छन्दान्त छं० सं० ११६
२ वर्णिक ,, ,, १५६
३ डॉ० गोवर्द्धन शर्मा ने अपने ग्रंथ 'राजस्थानी साहित्य के ज्योतिष्पुंज' पृ० ५ पर इसका रचनाकाल सं० १७१५ दिया है जो त्रुटिपूर्ण है।
४ प्रारंभिक छंद संख्या १ से ४ तक।

विनम्रता–प्रदर्शन

कवि ने यहीं अपनी विनम्रता प्रदर्शित भी की है। लोक-जीवन से ग्रहीत इन उपमाओं से कवि की विनोक्तियों में सुन्दर काव्यात्मकता का सन्निवेश हो गया है—

वाणी शेष वचाखा, मैं मन की धड पेष ।
कांकिडा लोडै न की, गज घुमंता देष ।।७।।
हणमंत सहजै डाकिओ, गो लोपै महरांण ।
तकी न कूदै दादरौ, हत्थ बेहत्थ प्रमाण ।।८।।
राणी गज मोताहलै, बोह मंडै सणगार ।
की भीली झालै नहीं, गल गुंजाहल हार ।।९।।

प्रभाव ग्रहण

इस रचना पर परंपरा-प्रसिद्ध अनेक छंद-शास्त्रीय ग्रंथों के प्रभाव को स्पष्ट स्वीकारते हुए कवि ने उनका इस प्रकार उल्लेख भी किया है—

वाणी भूषण जोइ वरहत पिंगल जोइ पिंगल ।
भट्ट हलायुद्ध जोइ जोइ व्रतह रतनावल ।
व्रत मोताहल जोइ वरत जोइ रतनाकर ।
छंद चूड़ामण जोइ रत्त पट्टह शेतंबर (?) ।
पाशपत वप्पभट्ट जोई वल, छंदोमंजर आद सह ।
कवि जोग वंद जयदेव गुर, इम बंधै हरिपिंगलह ।।११।।

काव्य-प्रयोजन

भामह के शब्दों में सत्काव्य का निर्माण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में वैचक्षण्य, आनंद तथा यश प्रदान करता है—

धर्मार्थकाम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्य–निबन्धनम् ।।
—काव्यालंकार १/२

कवि जोगीदास ने काव्य-एषणाओं को इस प्रकार निबद्ध किया है—

कायव कीरत करण वले कायव धन करण ।
कायव जग वयहार कायव सह असुभ निवारण ।
कायव करत आनंद कायव पुरुषारथ मंडण ।
कायव कला बुध करण कायव भूपालां रजण ।
उपदेश करण कामिण जहिं काव भणंत अनेक रस ।
गद वरत बंध कायव्व सोइ, कावमूल छंदह कहस ।।१३।।

इस छंद की चतुर्थ पंक्ति उत्तरार्द्ध 'कायव भूपालां रंजण' मध्ययुगीन साहित्यसर्जना के राज्याश्रित होने का पुष्ट संकेत करता है। अपने आश्रयदाता महारावत हरिसिंह द्वारा काव्य-रचना का आदेश मिलने का भी कवि ने यहाँ उल्लेख किया है—

रावत हरैं रचावियो हरिपिंगल सामंद ।
छंद-जवाहर पाणविण, चुण चुण ल्यो कविश्रंद ॥६७॥

ग्रन्थानुक्रम

तत्पश्चात् कवि ने इस प्रकार ग्रन्थानुक्रम प्रस्तुत किया है—

पहिल जांण ग्रंथाण क्रम, गुरु लघु लषण वषाण ।
मात्रा गण तस भेद अर, नाम वषाण प्रमाण ॥१८॥
वरण, गण अर देवता, सुगण अगण विचार ।
तास फलाफल,मीत,अरि,दास, उदास उधार ॥१९॥
दुइ परथार सुदीठ नठ, दोएँ दोएँ मेर पताष ।
संख्य गुरु लघु छंद की, अर संख्या सब दाष ॥२०॥
मात्रा छंद अनेक विध, वरणह छंद अनेक ।
दूजा दंडक आदि दै, नृपकुल तवन विवेक ॥२१॥

इस क्रमानुसार कवि ने आगे 'गुरु-लघु आदि विचार[1] में गुरु लक्षण १, लघु लक्षण २, इनके उदाहरण ३. ४. ५. ६, गुरुनाम ७, लघुनाम ८, गण मात्रा एवं गण संख्या ९. १०. ११, ट-ठ-ड-ढ-ण भेदादि सहित १२. १३. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६, वर्ण गण २७. २८, गण लक्षण २९, आठ गण नाम ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८, गण देवता ३९, फलाफल ४०,सगुण-दुगण विचार ४१. ४२. ४३. ४४. ४५, यति निरूपण ४६. ४७. ४८. ४९. ५०, वर्ण निषेध कथन ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९, छंद भेद कथन ६०. ६१. ६२. ६३, मात्रा छंद नाम ६४. ६५. ६६, वर्ण छंद नाम ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७, का विचार किया है ।

फिर प्रस्तारादि निरुपण[2] करते हुए कवि ने मात्रा छंद लक्षण ६. ७. ८. ९, मात्रा सुदिष्ट लक्षण १०. ११, मात्रा मेरू लक्षण १२. १३. १४. १५. १६, मेरु मध्य गुरु लघु ज्ञान १७. १८, प्रकारान्तरेण गुरु लघु ज्ञान १९. २०. २१, मात्रा पताका लक्षण २२. २३. २४. २५. २६, वर्ण नष्ट लक्षण २७. २८, वर्ण सुदिष्ट लक्षण २९, वर्ण मेरु लक्षण ३०. ३१, खंड मेरु लक्षण ३२. ३३, वर्ण पताका लक्षण ३५. ३६. ३७, यति भेद संख्या ३८. ३९, गुरु लघु संख्या ज्ञान ४०, षड्विंशति जाति भेद ४१ दिये हैं ।

---

१ डिंगल में अन्ध, छबकाल हीण, निनंग, पांगलो, जाति विरुद्ध, अपस, नालछेद, पखतूट, बहरो, अमंगल नामक ग्यारह प्रमुख काव्य-दोष माने गये हैं ।

२ छंद संख्या १. २. ३. ४. ५ ।

इसके आगे कवि ने मात्रिक छंदों[1] का निदर्शन किया है। गाहू तथा उसके भेद २. ३, गाहा एवं उसकी पद चाल—मात्रा संख्या-भेद-प्रकारान्तरेण भेद—सप्तविंशति नाम जाति—अवस्था भेद—विषम जगण दोष ४. ५. ६. ७—८—९—१०—११—१२—१३—१४. १५. १६. १७. १८. १९, विगाहा २०, उग्गाहा २१. २२, गाहिणी सिंहिणी २३, खंधाण एवं उसके अष्टविंशति भेद—नाम—अन्य २४. २५. २६. २७ देकर सर्वप्रथम गाथा प्रकरण समाप्त किया गया है। तत्पश्चात् दोहा और उसके जाति—भेद—नाम २८. २९. ३०. ३१. ३२, रसिका एवं उसके आठ भेद ३४. ३५. ३६, रोला तथा भेद—नाम ३७. ३८. ३९, कंधाण ४०, चौपैआ ४१, धत्ता ४२. ४३, धतानन्द ४४, काव्य छंद भेद ४५. ४६. ४७. ४८. ४९, दिये गये हैं।

यहीं पर कवि ने काल-दोष भी निरुपित कर दिये हैं—

खोडौ मत्ताहीन, मात आगळ उन्मतह।
पद अथूध पंगूल, अरथ हीणों दूबल लह।
मोगो गण विपरीत, झल्ल आखर विण बधिरह।
अलंकार विण अंध, डेर भण वयण कठोरह।
काणों कहंत गुण विण सयल, नागो कवि मारग रहित।
कवि कहत जोग हरिपिंगलह, तज काअव दूषण रहित ॥५०॥

इसी विवेचन को आगे बढ़ाते हुए कवि जोगीदास ने उल्लाह एवं उसके भेद ५३.५४, षट्पद तथा उसके वर्ण भेद—नाम ५५-५६. ५७. ५८. ५९-६०. ६१. ६२, पञ्झटिका ६४. ६५, अडिल्ला ६६. ६७, चौपइ ६८. ६९. ७०. ७१. ७२, चौबोला ७३, रड्डा-उसके पंचपद गण नियम-भेद ७४. ७५. ७६,करमी-७७, मोहणी-७८, चारूसेना-८०, भद्रा-८१, राजसेना-८२, तालंकणी-८३, पद्मावती ८४. ८५, कुंडलिया ८६. ८७, सोरठा ८८, गगनांग ८९, द्विपदी ९०, झूलणा ९१, खंजा ९२, शिखा ९३, ९४. ९५. ९६. ९७, माला ९८, चोला ९९, हाकली १००-१०१, मधुभार १०२, आभीर १०३, दडकला १०४, दीपक १०५.१०६, सिंहावलोकन १०७, प्लवंगम १०८, लीलावती १०९, हरिगीता ११०, त्रिभंगी १११, दुर्मिला ११२, हीर ११३, जनहरण ११४.११५, मदनगृह ११६.११७, मरहट्टा ११८, छंद लक्षण—उदाहरण सहित वर्णित हुए हैं।

तदुपरांत कवि ने द्वितीय परिच्छेद में वर्णिक छंदों के लक्षण एवं नाम-भेद विवेचित किये हैं—

---

१ **ठविआ पत्थर (प्रस्तर) आद है, प्रत्यय छंद तणाह।**
हव मता छंदह चवुं, जिणरा भेद अथाह ॥१॥

मात छंद गण बंधिश्रा, पंचाली 'सह' भात।
वरण वरत वरणीस हव, जास छवीसह जात ॥१॥

इस छंद-वर्णन-क्रम में कवि ने श्री ५. ६, काम ६, मधु ७, मही ८, सारू ९, ताली १०, प्रिया ११, शशधर १२, रमण १३, पंचाल १४, मृगेन्द्र १५, मंदर १६, कमल १७, तीणा १८, धारी १६, नगानिका २०, संमोहा २१, हारीत २२, हंस २३. २४, जमक २५, शेषा २६. २७, डिल्ला २८, विज्जोहा २९, चोरंसा ३०, मंथाण ३१, शेषनारी ३२, मालती ३३, दमणक ३४. समानिका ३५, सुवास ३६, करहंस ३७, शीसा ३८, कुरंग ३९, विद्यु-न्माला ४१, प्रमाणिका ४२, माल्लिका ४३, तुंगा ४४, कमला ४५. ४६. ४७, महालक्ष्मी ४८ सारंगिका ४९, पाइत्ता ५०, कमल ५१, बिंब ५२, तोमर ५३, रूपमाली ५४, संयुत ५६, चंपकमाला ५७, शाखती ५८, सुखमा ५९. मृतगति ६०. ६१, बंधु ६२, सुमुखी ६३, शालनी ६४, दमनक ६५, सेनिका ६६, मालतीमाला ६७, इन्द्रवज्रा ६८, उपेंद्रवज्रा ६९, रथोद्धता ७४, स्वागता ७५, अनुकूल ७६, विद्याधर ७८, भुजंग ७९, लक्ष्मीधर ८०, तोटक ८१, सारंग ८२, मौक्तिक ८३, मोदक ८४. सुन्दरी ८५, वसंतबिल ८६, चंद्रवशा ८७, कुसुम विचित्रा ८८. तामरस ८९, तरलनयनी ९०, माया ९२. तारक ६३, कंद ६४, पंका-वली ६५ मृगेन्द्रमुख ९६, प्रहर्षणी ६७, चंडी ६८, मंजुभाषणी ६६, सिंहनाद १००. वसंत-तिलका १०२, चक्र १०३. १०४, भ्रमरावली १०५, सारंगिका १०६, चामर १०७, निशि-पाल १०८, मनहंस १०९, मालनी ११०, शरभ १११. ११२. ११३, नराच ११४, नील ११५, चंचला ११६, ब्रह्मरुप ११७, अवर ललित ११८, अचल धृति ११९, पृथ्वी १२०, मालाधर १२१, शिखंणी १२२, मंदाक्रान्ता १२३, हरणी १२४, कोकिल १२५-१२६, मंजीरा १२७, क्रीडाचन्द्र १२८, चर्चरी १२६-३०, शार्दूल १३१, चन्द्रमाला १३२, धवला १३३, शंभु १३४, मेघविस्फूर्जित १३५, गीता १३७, गल्लका १३८, शोभा १३६-१४०, सृग्धारा १४१, नरिंद्र १४२-१४३, हंसी १४४, मदिरा १४५-१४६, सुन्दरी १४७-१४८, दुर्मेला १५०, किरीट १५१, तनवी १५२-१५३, कौंचपदा १५४-१५५, भुजंग विजृंमित १५६-१५७ छंद यहां विवेचित हुए हैं।

इसके आगे तृतीय परिच्छेद में दंडक–छंद–प्रकरण और राज–वंश–वर्णन क्रमशः आये हैं। दंडक-छंद प्रकरण प्रारंभ कर कवि ने चंड वृष्टि १, वक्र छंद २, पथ्यावक्र ३, विपरीत पथ्यावक्र ४, चपलावक्र ५, विपुला ६, भविपुलादि ७.८। वैतालीय छंद प्रकरण में आपातलिका ३, दक्षिणांतिका ४, उदीच्यवृत्ति प्राच्यवृत्ति ५, प्रवृत्तक अपरांतिका ६, चारूहासिनी ७। अर्द्धसम प्रकरण में उपचित्रा १, द्रुमध्या २, वेगवती ३, आख्यानकी ४, ख्यानकी ५, हरिणप्लुता ६, पुष्पिताग्र ७, भद्रवेराठ ८, केतुमती ९, अपरवक्र १०, यवमती ११। विषम वृत्त प्रकरण में पद चतुरूर्द्ध १, आपीड २, प्रत्यापीड़ ३.४, उद्गता १, सौरभक २, ललित ३। प्रचुपित प्रकरण में प्रचुपित १, वर्द्धमान २, ऋषभ ३। प्रकीर्ण प्रकरण में

दोहक २, मोतीदाम ३, खंड ४, द्विपदीखंड ५, पंचशेखर ६, मलयमरूत ७, मुक्तातिलक ८, वेसर ९, कम्पा १०, कामवल्ली ११, हाटकी १२, गजबंध १३, मनहरण १४, शालूर १५, सवैया–प्रकारांतरेण लक्षण–वर्ण संख्या १६–१७–१८, गाथा १९, का विवेचन कर दण्डक–छंद प्रकरण समाप्त किया है।

इनके पश्चात् राजस्थानी साहित्य की अप्रतिम छंद–विभूति 'गीत' छंद को लिया गया है। गीत छंद के लक्षण देकर कवि ने २२ गीत–भेद[1] अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किये हैं–रोलागीत ४, अठताली १, डोढ़ा ६, अडील्ल ७, मुडिल्ल ८, खुडिल्ल ९, घुपक्खरा १०, त्रिकूट बंध ११, गजगत १३, त्राटक १४, लहचाल १५, झमाल १६, दसताला १७, निसाणी १८, सेलार १९, त्रंबकड़ा २०, गवाक्ष २१, हंसचाल २२, भमर गुंजार २३, शावझड़ २४, रसाउला २५, रायरूपक २६, विभिन्न छंदों का विवेचन यहाँ समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें रचनाकार के आचार्य–रूप एवं उसके विस्तृत संस्कृत ज्ञान का आभास होता है। इसके पश्चात् हमें ग्रंथकार के कवि–रूप का परिचय उसके द्वारा प्रस्तुत अपने आश्रयदाता के 'राजवंश वर्णन' से मिलता है।

आदि ब्रह्मा से संबंध स्थापित करके[2] कवि ने चित्तौड़ाधिपति मोकल से राजवृंशवृक्ष प्रस्तुत किया है। पद्धरी छंद में कवि ने मोकल का इस तरह वर्णन किया है—

अवतार अंश मोकल अभंग । गहिलोत शीश खलहलि गंग ।।
कालंगराय कंदार राण । मदुआंय राण गंगा समांण ।।
पापीय राव जेहो प्रयाग । सूरज्जजेम तप तेज भाग ।।

---

१ अ. डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने अपने ग्रंथ 'डिंगल पद्य साहित्य' पृ० सं० २०१ पर इसमें ९९ प्रकार के गीत होने का उल्लेख किया है जो भ्रामक है।

आ. डॉ० मोहनलाल जिज्ञासु ने अपने ग्रन्थ 'चारण साहित्य का इतिहास' भाग १ पृ० २८९ पर भी इसमें ९९ प्रकार के गीत होने का लिखा है जो भ्रामक है।

इ कविराव मोहनसिंह ने प्राचीन राजस्थानी गीतः भाग ३ : पृ० ३ पर इसमें अनेक प्रकार के गीतों का होना लिखा है। यह भी सही नहीं है।

२ ऐसा लगभग सब वंशावलियों में प्राप्त होता है।

महाराणा मोकल के बाद परम्परानुसार राज्याधिकार कुंभा को मिला। उसके समय में मांडव के बादशाह से जो युद्ध हुआ, उसका बड़ा ही ओजपूर्ण वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है। सेना-प्रयाण का यह चित्रोपम दृश्य देखिये—

डहडहीय भेर नफ्फे रसद्द। गुडळंत आभ फोजां गरद्द।
पड़ताल नाळ धूजें पंचाल। थरहरत जाण शपत्ति थाल।
हाला बहलत्र मेवाड़ सीस। उरडंत जाण दख जाग ईश॥

इसी वंश में आगे चलकर बाघसिंह और सूरजमल ने देवलिया या देवगढ़ राज्य की नींव डाली। जब जसवन्तसिंह देवलिया के राजा हुए तो मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह ने उन्हें धोखे से मनमुटाव स्वरूप मार डाला। जसवन्तसिंह के साथ उनके बड़े पुत्र महासिंह थे। जब सरदारों ने उन्हें रण से चले जाने को कहा तो उन्होंने कहा—

महासिंह कुंवर उच्चरे गहल्ल। भाजण नहीं सूरजमल्ल।
वाग्ररे वंस उतंग लाज। गहवंत मरें सुण गयण गाज॥
पूत जो जाय रण पितापंक। ते वंस सिरस लग्गे कलंक।
उरड़ियो कुंग्रर जिम अभैवन्न। गाहतो थाट लागो गगन्न॥

आन के लिये मर मिटने की सच्चे क्षत्रिय की आकाँक्षा इन शब्दों में साक्षर हो उठी है। बाघसिंह और सूरजमल ने चित्तौड़ की पहले लज्जा रखी थी। उसी के वंशज जसवन्तसिंह का इस तरह मरणा सुनकर चित्तौड़ ने सिर धुन लिया। कवि ने मानवीकरण अलंकार द्वारा चित्तौड़ की वेदना इस तरह व्यक्त की है—

मो सिर सूरजमल्ल चाड पूगो रण चाचर
जे दादो रावत बाघ मूंग्रो मो उप्पर
पहिलोका रावत्त जसो जसवंत नरेसर
मंझ चाड आवंत किग्रो हुंतो करणीगर
जागपत्त राण खुमांण पह कूभाव तेसु कियो
जसवंत मरण सुणियो नई चीतकोट सिर धोणियो॥

तत्पश्चात् जसवन्तसिंह के द्वितीय पुत्र काव्यनायक हरीसिंह गद्दीनशीन हुए, उसकी गौरव-गरिमा की महिमामय झांकी अंकित की है।[1] इस वर्णन में आगे जो तत्कालीन

---

१ तैं जनम हुंत दवखुं वखांण। संवत सोल अस्सीह जाण।
शक बंध शालवाहन नरिंद। पिताल पत्तर संख्या धरंद।

राज्य-वर्णन आया है, वह अपनी चित्रोपम शब्दावली के कारण बड़ा अनूठा बन पड़ा है, झांकी प्रस्तुत है-

विराजै जसी साहेबी इंद्रवाळी । त्रषा ताम भाजै घणां हेक ताळी ।
विराजै मुहल्लां खणां सात वाळां । दरव्वां लखां कोड मोजां दंताळा
छगै मंदरै इंद राजाण छाजा । वजै मंगली नाद नीशांण वाजा ।
अरासां अरासां महल्लां उजाळां । वणै जाण ऊजास कीस्त वाळा ।
महल्लां महल्लां हुए मज्जलस्सां । सवैं भाँत अनेक ओपै सरस्सां ।
अनंधां सुगन्धां चराका उजाला । मंडै वास लीधो सदा दीपमाला ।

कवि ने इस वर्णन-क्रम में तत्कालीन नारी-समाज के अनुपम सौन्दर्य एवं शालीनता का भी मोहक चित्र खींचा है—

बहू भंत सोभंत चालंत वाला । जला हंस सेवंत तै लग्ग जाला ।
वलै अंगली रूप दीसै वणंता । लहू कंदलं जाण तेता वणत्ता ।
वलै नक्ख तासं उजासं वखाणै । जिसी पाय लागी कला चंद जाणैं ।
रचै रूप जै जाण पूरव्व रूपं भुजंती विजै धज्ज जै काम भूपं ।।

इसी क्रम में कवि ने उनकी दानशीलता, राज-सभा, चतुरंग-सेना आदि के अनेकानेक प्रसंग समाहित किये हैं। कवि ने नायक के साथ हुए पठानों से युद्ध का ओजमय वर्णन करके इस ग्रन्थ को वीर-रस संयुक्त भी बना दिया है। पठानों की चढ़ती हुई फौज का यह चित्रोपम दृश्य दर्शनीय है-

कोपै पठांणा अ्रह ताणां अस्समाणां लग्गए ।
तेडै वरद्दां मीरजद्दां ले जरद्दा लक्खए ।
आवै दुरत्ता जम्मगत्ता हूहमत्ता हुव्वए ।
गेंजूह गुम्मर फौज डम्मर हरा ऊपर हल्लए ।।८।।

यह सारा युद्ध-वर्णन कठोर-वर्णों, संयुक्ताक्षरों एवं वयणसगाई के निर्वाह के कारण अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन गया है।

रस की दृष्टि से इस काव्य में वीर रस का पलड़ा भारी है। कहीं-कहीं शृंगार रस की छटा भी मनमोहक बन पड़ी है। भाषा इसकी शुद्ध डिंगल है।

सोहंत मास श्रावण सुभाण। प्रकास चंद पाखं प्रमांण।
बुधवार सुभअर छठिस रत्त। सुभ साध जोग सुरस नखत्त।

समग्रतः यह सम्पूर्ण काव्य सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन-योग्य है। कुल मिलाकर इसमें कवि का 'कवि और आचार्य' रूप प्रकट हुआ है—

अगन तेज कुंण कहै, कहै कुंण वेग पवन्नां।
सघण बूंद कुंण लहै, लहै कुंण पार गगन्नां।
भूण रेण कुंण गणै, गणै कुंण लहर समंदा।
सबद पार कुंण गुणै, गुणै कुंण तोल गिरंदां।
चामुंड चरित्रह शेष बल, कुंण माया परपंच लहिं।
हेकणी जीभ रावत्त हरा, कुवण तुझ्झ गुण पार लहिं ॥३५॥

कवित्व एवं आचार्यत्व के मणि–कांचन योग के कारण यह काव्य निस्संदेह राजस्थानी काव्य–धारा का एक प्रौढ़ एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
डूंगरपुर (राजस्थान)

● सूर्यशंकर पारीक

संत-कवि सिद्ध लालनाथजी कृत 'निकलंग पुराण'

संत-कवि सिद्ध लालनाथजी की गणना 'जसनाथी-संप्रदाय' के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। इनका काल १८वीं शताब्दी माना जाता है तथा कार्य-क्षेत्र अधिकांशत: बीकानेर-मंडल का 'थळी' संभाग रहा है। इनकी रचनाएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। ये समस्त रचनाएं विशुद्ध राजस्थानी भाषा में है। जबकि उस काल के अधिकांश संतों का साहित्य 'ब्रज भाषा' अथवा सधुक्कड़ी भाषा में लिखा गया है। राजस्थानी जनता को सुगमता अथवा सहजता से राजस्थानी में ही समझाया जा सकता था, इसीलिए लालनाथजी ने अपनी प्रभावकारी अभिव्यक्ति के लिए राजस्थानी को आधार बनाया।

संतों का जीवनादर्श अपने सदुपदेश से जनता को प्रबोधित करना रहा है। अतएव उन्हें जो भी साधन जनहित में उपयुक्त जान पड़े, उन्हें वे सहर्ष स्वीकार्य हुए।

नीचे इस लेख द्वारा संत-सिद्ध लालनाथजी की एक राजस्थानी रचना 'निकळंग पुराण' का परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

'निकळंग पुराण' लालनाथजी के ग्रंथों में हमारे द्वारा निश्चित किये गये अनुक्रम से पांचवां ग्रन्थ है। 'निकळंग पुराण' 'निकळंक पुराण' तथा 'आगमभाख' के नाम से भी कहा सुना जाता है। 'निकळंग पुराण' जसनाथी संप्रदाय के अतिरिक्त बाबा रामदेव द्वारा प्रवर्तित 'कामड़-पंथ' में तथा लोक-गायकों की मंडलियों में भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा रचित गाया भी जाता है। थोड़े-थोड़े भेद से इसमें कथावस्तु प्राय: एक जैसी रहती है। लालनाथजी के अद्यावधि (मौखिक व लिखित रूप में) प्राप्त 'निकळंग पुराण' में नौ पद्य हैं, जिसमें आठ तो 'सबद' (पद्य) हैं, और नौवां 'छंद' है। 'छंद' में चार-चार पंक्तियों के आठ पद्य हैं। 'छंद' व 'सबद' सभी गेय हैं। ये जसनाथी सिद्धों द्वारा नगाड़ों पर अपनी 'जसनाथाणी' राग-शैली में गाये जाते हैं।

'निकळंग पुराण' लालनाथजी का 'भविष्य-वाणी' करने वाला ग्रन्थ है। स्वयं कवि ने इसे 'अै आगम आकार,' 'अै आगम री वात' कह कर इसे भविष्यवाणी करने वाला ग्रन्थ बताया है। कवि ने इसकी रचना के हेतु में कहा है कि "साचा आंक सदा सिव मेल्या, झूठ कै वां तो हारा" अर्थात् मैं सत्य कहता हूं कि मैंने इसकी रचना भगवान शिव के निर्देश

से की है। लालनाथजी के इस कथन का यही आशय है कि 'निकळंग पुराण' के निर्माण के मूल में उनके अंतस में स्वतः स्फुरित-प्रेरणा रही है।

राजस्थानी संत-साहित्य व लोक-साहित्य में 'पुराण' नाम से उपलब्ध रचनाओं की परम्परा काफी पुरानी और विस्तृत है। सम्भवतः इनकी यह संज्ञा संस्कृत वाङ्मय के पुराणों के साम्य पर हुई हो। अकेले 'जसनाथी-साहित्य' में 'हरचंद-पुराण', प्रह्लाद पुराण (सिद्ध दूदोजी) 'धरतपुराण', (सिद्ध देवोजी) 'सीतपुराण' (सरवणजी) आदि कई 'पुराण' अभिधान वाली रचनाएं मिलती हैं। इसी प्रकार 'कामड़-पंथ' के साहित्य में 'पुराण' संज्ञक कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसी पंथ के साहित्य का 'द्रोपदीपुराण' (अजबैरो शिष्य 'बुधरो') व 'मेघड़ो पुराण' (हरजी भाटी) प्रसिद्ध पुराण रचनाएं हैं। 'द्रोपदीपुराण' तो 'लोक-महाभारत' का एक महत्वपूर्ण 'डिग्गळ' है ही। इस प्रकार के पुराणों को 'लोक-गाथा' काव्यों की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि, इनकी कथावस्तु लोक से ही गृहीत की गई होती है तथा इनका विषय-निरूपण लोक-तत्थ से समन्वित रहता है। 'पुराण' राजस्थानी साहित्य की महत्वपूर्ण एवं स्वतंत्र विधा है। छंद-प्रबंध की दृष्टि से चाहे इनमें भिन्नता पाई जाती हो, परन्तु वैसे इनमें प्रकृतिगत समानता पाई जाती है।

प्रस्तुत 'निकळंग पुराण' की रचना बहुलांश में गेय 'सबदों' में हुई है।

'निकळंग पुराण' के संबंध में 'जसनाथी सिद्धों' में एक प्रवाद प्रचलित है कि "यह सिद्ध जसनाथजी की रचना है, उन्ही के श्रीमुख से यह भविष्यत् को बताने वाला ग्रन्थ प्रस्फुटित हुआ था परन्तु लिपिबद्ध न होने के कारण या किसी अन्य कारण से, यह कालांतर में लुप्त हो गया, जिसको सिद्ध जसनाथजी की दैविक प्रेरणा से प्राप्त कर लालनाथजी ने पुनः इसे लोक में प्रचलित कर दिया।"

हस्तलिखित प्रतियों (१८०५ तथा पूर्व की प्रति) तथा गायकों की मौखिक परम्परा में 'निकळंग पुराण' लालनाथजी के नाम से उल्लिखित एवं उन्हीं के नाम से अभिहित होता है। 'निकळंग पुराण' की प्रत्येक 'कड़ी' के अन्त में 'आभोग' अथवा 'छांप' के स्थान पर लालनाथजी का ही नाम आता है। दैविक-प्रेरणा का अंतःसाक्ष्य उसमें कहीं भी नहीं मिलता। यदि ऐसी कोई बात होती तो अवश्य ही लालनाथजी द्वारा इस बात का संकेत कहीं–न–कहीं उनकी रचनाओं में मिलता। लालनाथजी अपने आदि गुरु सिद्ध जसनाथजी को अपना न केवल श्रद्धेय ही मानते हैं अपितु उन्हें वे अपना आराध्य भी मानते हैं। अतः इस प्रकार की; उनसे भूल होने का भी, यहां कोई कारण नहीं जान पड़ता। आरम्भ में चाहे 'निकळंग पुराण' नाम का कोई ग्रंथ, सिद्ध जसनाथजी की रचना रहा होगा और काल की दीर्घ यात्रा में चाहे वह काल–कवलित हो गया होगा किन्तु, संप्रति उपलब्ध 'निकळंग पुराण' सर्वांश में संत लालनाथजी की ही रचना है।

सिद्ध जसनाथजी (१५३९-१५६३) और लालनाथजी में, कालक्रम की दृष्टि से प्रायः तीन शतियों का अंतर है। अतः आज के 'निकळंग पुराण' में और जसनाथजी की अन्य उपलब्ध रचनाओं में भाषा अंतर भी उतना ही स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव प्रत्येक कोण से देखने, समझने के बाद यही निर्णीत होता है कि प्रस्तुत 'निकळंग पुराण' संत लालनाथजी की रचना है।

'निकळंग पुराण' भाषा और भाव की दृष्टि से भी एक उत्तम कृति है। इसमें संपूर्ण काव्यत्व के दर्शन तो दुर्लभ ही होंगे क्योंकि अंततः यह संत-साहित्य की वस्तु है। संतजन काव्यत्व को लक्ष्य में रखकर अपनी कृतियों का प्रायः निर्माण नहीं करते। फिर भी यह अपने सीमित परिवेश में गुण, एवं ओज में काफी सजा-धजा है। इसकी मूल भाषा मारवाड़ी-राजस्थानी है। बीकानेर का आंचळिक प्रभाव इसमें स्पष्ट देखा जा सकता है। इसमें कहीं-कहीं उर्दू शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। भाषा इसकी प्रवाहमयी एवं ओजस्विता को प्रकट करने वाली है। कथानक व प्रसंग के अनुकूल ही, भाषा भी चमत्कारिक बन गई है। यथास्थान मुहावरा, लोकोक्ति एवं विशिष्ट शब्दों का प्रयोग इसमें कलात्मकता की सी झलक देता हैं। किसी-किसी 'सबद' में संवाद शैली का भी निर्वाह हुआ है।

'निकळंग पुराण' में कुछ ऐसे शब्द-प्रयोग भी हुए हैं जो संप्रदाय व धार्मिक-संकीर्णता का सर्वथा अभाव करते हैं। इसमें हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के दर्शन होते हैं। भगवान् सदा एक और सबके लिए बराबर है। जाति-वर्ण का भेद उसके विधान में नहीं है। एतद् विषयक कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(१) पछम धरा सूं आवसी, (२) हावल सूं चड कावल आसी, (३) पीरां खाजो मीरां, एवं (४) मैंमद अस्सी हजारां, आदि ऐसे प्रयोग हैं जो कवि की धार्मिक उदारता को सहज ही प्रकट करते हैं। इनके अतिरिक्त 'निकळंग पुराण' में 'काळंग', 'निकळंग' 'सेतला घोड़ा' तथा 'नंद खांडो' जैसे संज्ञावाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिन पर यथा स्थान सोदाहरण चर्चा की गई है।

'निकळंग पुराण' में अधिकता से कथा-विस्तार नहीं है। एक ही बात की अनेकों वार पुनरावृत्ति हुई है। क्रमबद्ध कथा का इसमें न तो निर्वाह हुआ है और न ही इसमें अनेक घटनाओं का सृजन। सबदों में वर्णित कथा को यथाक्रम बनाने के लिए हमने अपने मनोवांछित ढंग से संयोजित किया है।

'निकळंग पुराण' का संक्षिप्त कथासार है कि "भविष्य में कलियुगांत में एक 'काळंग' (काळंक) नाम का दानव होगा। उसकी पत्नी का नाम 'सुरजु' होगा। 'काळंग' के हजारों पुत्र होंगे। वह एक दिन सूर्य को उदय होने से रोक देगा जिससे संसार में अंधकार छा जायगा। सूर्य की सहायतार्थ भगवान् 'निकळंग' जो आदि पुरुष और ज्योति स्वरूप

हैं, पश्चिम धरा-'हाबल काबल' से समय 'चौहोतरै' 'सेतलै' घोड़े पर आरूढ होकर आयेंगे। उनके साथ नौ लाख अश्वारोही, तेतीस कोटि देवता, पांच करोड़ भक्त-समूह से प्रह्लाद, सात करोड़ से हरिश्चन्द्र, नव करोड़ से युधिष्ठिर, बारह कोटि से जसनाथ, बावन वीरों और चौंसठ योगिनियों से सिंहवाहिनी शारदा, सुरनर, देवता और सिद्ध होंगे। ख्वाजा पीर के नेतृत्व में लाखों पीर, अस्सी हजार पीर-पैगम्बरों से मुहम्मद साहब, ब्रह्मा के सनकादिक अट्ठासी हजार पुत्र, अनंतकोटि सिद्ध-समूह से नाद बजाता हुआ गजारूढ गोरखनाथ, चौदह चक्र धारण करने वाले एवं तारों तथा शशि से भी तेज महादेव, शेषनाग, हजार फन वाला वासुकि, पंच पांडव और हनुमान उनके साथ होंगे। दिल्ली में डेरा लगेगा। उनके तम्बू लाल और भगवे रंग के होंगे। उनमें मंत्री पद युधिष्ठिर का होगा। पुस्तक-वाचन सहदेव करेगा।

भगवान् 'निकळंग' अपने सुसज्जित सैन्यदल से दुष्ट 'काळंग' पर आक्रमण कर 'नंवखांडे' से उसका वध करेंगे। उस समय 'चक्र', 'गोली', 'नाल', 'रेखले' आदि चलेंगे। 'तबल' बजेंगे। जैसे ही 'निकळंगपति' 'काळंग' पर कुपित होंगे वैसे ही समस्त देवतागण उस पर टूट पड़ेंगे। दुष्टों का दलन होगा। म्लेच्छों के सिर, मार पड़ेगी। देवताओं के उद्‌घोष से पापियों का हृदय विदीर्ण हो जायगा। बलवान् दुश्मन को छल से पराजित किया जायगा। उस समय आकाश गर्द से छा जायगा। इन्द्र गर्जना करेगा। मूसलाधार वर्षा होगी। उस समय अष्ट कुली पर्वतमालाएं प्रकंपित हो उठेंगी। समुद्र उद्वेलित हो उठेंगे। नदियां अमर्यादित होकर बहनें लगेंगी। आकाश-धरती थर्रा उठेंगे। 'काळंग' के सिर पर चक्र चलेगा। उसका माथा धड़ से अलग होगा और उसका स्वर्ण-छत्र भूलुंठित हो जायगा। 'काळंग' का नाश होगा। 'निकळंग' की जीत होगी।

भगवान् 'निकळंग' समय 'चौहोत्तरै' को 'काळंग' पर ऐसा आक्रमण करेंगे। 'काळंग' का नाश कर भगवान् 'निकळंग' 'मेघ' की कन्या (मेघड़ी) को वरेंगे। मेघ-कन्या अपने पति 'निकळंग' की पटरानी होगी। शक्ति सृंगार सजेगी। चतुर्भुज चंवरी चढेंगे अर्थात् उस कन्या के साथ निकळंग विवाह करेंगे। उस समय मोतियों से चौक पुराया जायगा। ऋषि-पत्नी अर्थात् 'मेघ' की स्त्री या उसके परिवार की स्त्रियां 'मंगल' गायेंगी। ब्रह्माजी वेद पढायेंगे।

भगवान् (निकळंग) 'कलि' (कलियुग) को मिटा देंगे और धर्म-युग की स्थापना करेंगे। भगवान पापियों से तिल-तिल का हिसाब लेंगे। पापी गर्म तैल में तले जायेंगे किन्तु साधु लोग स्वर्गपुरी को जायेंगे।

'निकळंग' की देह सूर्य के समान देदीप्यमान है वह विष्णु के आकार वाला है।"

जिस प्रकार राजस्थानी साहित्य में 'निकळंग पुराण' तथा एतद विषयक साहित्य की सर्जना हुई है उसी प्रकार. संस्कृत वाङ्मय में 'कल्कि पुराण' की रचना, एक उपपुराण

के रूप में हुई है। यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि राजस्थानी 'निकळंग पुराण' की कथा का या उसके भाव का आधार 'कल्कि पुराण' रहा है,परंतु इतना निश्चित् है कि 'कल्कि' अवतार ही राजस्थानी साहित्य का 'निकळंग' अवतार है। कल्कि पुराण में जो अवतारणा 'कल्कि' के लिए हुई है वही अवधारणा राजस्थानी साहित्य में 'निकळंग' के प्रति है। 'कल्कि' और 'निकळंग' में शब्द भेद तो है परन्तु भाव इन दोनों शब्दों का एक ही है। राजस्थानी में 'कल्कि' 'कळकी' उच्चरित होता है जिसका अर्थ ग्रहण 'कळंकी' जैसा होने लगता है। अतएव यहां राजस्थानी भाषा की प्रकृति ने 'कल्कि' को निकळंकी (निष्कलंकी) रूप में निष्पन्न किया।

'निकळंग पुराण' तथा 'कल्कि पुराण' की समानताओं तथा असमानताओं को समझने के लिए नीचे 'कल्कि पुराण' की कथा का अत्यन्त संक्षिप्त सार दिया जा रहा है:—

'कल्कि पुराण' में 'कल्कि' का जन्म स्थान 'संभलग्राम' पिता नाम 'यशा' व 'विष्णु-यश ब्राह्मण' बताया है। 'कल्कि' 'कलि' का नाश करेगा। 'कलि' की नगरी का नाम 'विशसन' बताया है। वह नगरी भूत्तों, कुत्तों, गोमांस की दुर्गन्ध से तथा काग और उल्लूओं से घिरी हुई होगी। वह 'विशसन' नगरी जूआ तथा नारी–आज्ञा-पालन का केन्द्र होगी। भगवान् 'कल्कि' 'कलि' पर आक्रमण करेंगे। भगवान् 'कल्कि' के साथ 'कलि' कपोतराम, काकक्ष, काककृष्णा, शय्याकर्ण, उष्ट्रमुख, एकजंघ आदि 'विशसन' और उनकी स्त्रियां युद्ध करेंगी। 'कलि' का सैन्यदल दम्भ, लोभ, क्रोध, भय, निरय, आधि, व्याधि, ग्लानि, जरा तथा कोक–विकोक होगा। 'कलि' का रथ उल्लू की ध्वजा वाला होगा।

भगवान् 'कल्कि' का सैन्यदल ऋतु, प्रसाद, अभय, सुख, प्रीति, ओज, क्षेम, प्रश्रय, स्मृति आदि होंगे। 'कल्कि' अपने लाल रंग वाले घोड़े पर आसीन होंगे। उनके हाथ में भगवान् शंकर की दी हुई तलवार होगी। भगवान् 'कल्कि' कोक–विकोक तथा 'कलि' के साथ युद्ध करेंगे और 'ऋत' 'प्रसाद' आदि देवगण दम्भ, लोभादि से युद्ध करेंगे एवं उन्हें परास्त करेंगे।

'कलि' के शासन में एक शिव-विष्णु भक्त 'शशिध्वज' राजा था। उसकी पत्नी का नाम 'सुशांता' और उसके पुत्र का नाम 'सूर्यकेतु' था। 'शशिध्वज' ने भक्त होते हुए भी भगवान् 'कल्कि' के साथ युद्ध किया। अंत में वह अपने आराध्य द्वारा पराजित हुआ तथा उसने अपनी पुत्री 'रामा' का विवाह 'कल्कि' के साथ कर दिया। कालांतर में 'कल्कि' के औरस और 'रामा' के उदर से 'मेघमाला' तथा 'बलाहक' नाम के पुत्र हुए।' (कल्किपुराण, अ० ३, श्लोक १९–२५–२७–३० और अ० ६ श्लो० १८)

'निकळंग पुराण' तथा 'कल्कि पुराण' के कथासार को पढ़ने के पश्चात् यह सुस्पष्ट हो जाता है कि 'भाव' इन दोनों का एक समान है। 'कल्कि' ही 'निकळंग पुराण' का 'निकळंग'

है— और 'कल्कि' ही 'काळंग' है। 'कल्कि' को शिव द्वारा प्रदत्त तलवार ही 'निकळंग' का 'नंदखांडो' है तथा लाल मुखवाला घोड़ा ही 'निकळंग पुराण' का 'सेतला' घोड़ा है। 'कल्कि को ब्याही जाने वाली 'रामा' ही 'निकळंग पुराण' की 'मेघकन्या' अथवा 'मेघड़ी' है। इन दोनों में पात्रों के नामांतर के साथ प्रायः कार्यों की समानता है। दोनों में ही घटनाएं एवं पात्रों के नाम अथवा उनके कार्यकलाप प्रतीकात्मक हैं। राजस्थानी 'निकळंग पुराण' में 'सूर्य' को उदय होने से रोकने का अभिप्राय है, अनृत का प्रसार तथा यहां 'काळंग' का नाश ही अनृत का नाश है।

आगे की पंक्तियों में 'निकळंग पुराण' में मुख्य रूप से व्यवहृत 'काळंग' आदि शब्दों पर विचार किया जा रहा है जिनसे उनकी अर्थवत्ता, व्यापकता तथा उनकी भावात्मकता का स्पष्ट बोध होगा —

'काळंग'

लालनाथजी के 'निकळंग पुराण' में तथा राजस्थानी कवियों की रचनाओं में 'काळंग' शब्द का प्रयोग बहुलता से हुआ है, अतः यहां 'काळंग' शब्द पर थोड़ा विचार किया जा रहा है।

'दुर्गा सप्तशती' में 'काळंग' का सादृश्यमूलक 'कालक' शब्द आया है। ऐसा ही शब्द 'कालयवन' है जो राजस्थानी में 'काळजवन्न' बन जाता है परन्तु 'काळंग' शब्द 'कालक' अथवा 'काळजवन्न' से नहीं बना प्रतीत होता। 'काळंग' शब्द 'कळंक' से बना है। जैसे 'कलुष' से राजस्थानी भाषा में 'काळख' तथा 'मतंग' से 'मातंग' बन जाता है वैसे ही 'कलंक' से 'काळंग' बना है। वस्तुतः 'काळंग' व 'निकळंग' शब्द परस्पर में विरोधात्मक युग्म हैं। हिन्दी में जैसे 'अतंक' से 'आतंक' बन जाता है, वैसे ही यहां हुआ है।

'हरिपिंगल प्रबन्ध' (रचनाकाल-१७२१) ग्रन्थ में 'काळंग' शब्द 'कालुष्यपूर्ण' व 'कलंकी' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—

काळंग राय केदार राण, मदुआंय गंगा समांण
(तृतीय परिच्छेद, छंद सं० ६)

'जांभोजी की वाणी' में 'काळंग' शब्द 'ड़' प्रत्यय लग कर राक्षस व पाखंडी के अर्थ में 'काळंगड़ै' तथा 'काळंकेड़ा' रूपों में प्रयुक्त हुआ है।

(जंभगीता, पृ० ३१०)

सिद्ध जसनाथजी व उनकी शिष्य परम्परा के साहित्य मे 'काळंग' शब्द बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है। यहां यह शब्द, कलियुगांत में उद्भूत उस दानव के लिए प्रयुक्त हुआ है जो अपने दुरभिमान के कारण भगवान् भास्कर को उदय होने से रोकेगा। ऐतद् विषयक कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :—

(१) 'काळंग' रो रिप किरतारूं
(२) काळंग रो जी सनकै जासी (सिंभूधड़ा संख्यांक-३)
(३) कळ बीते काळंग नै मारै ('सबद'–जिण गुरुनैं सिंवरहो प्राणी)
(४) काळंग मारां कुळ बरतावां (''–इण धर राजा इंद भणीजै)
(५) काळंग मारां कळ पळटावां (''–हम दरवेस निरंजन जोगी)
(६) काळंग मारां कुळ बरतावां (''–मैंमद-मैंमद, सरब निसानी)
–सिद्ध जसनाथजी

इसी प्रकार 'जसनाथी-संप्रदाय' के अन्य कवियों की रचनाओं में 'काळंग' शब्द का प्रयोग हुआ है—

(१) काळंग सूरज चलाइयो, दुनियां कियो हंकार (पैंलां सिंवरां मनसा)
(२) कळ बीत्यां काळंगनै मारै (कछमछ कोरम बरा औतरिया)
—सिद्ध पालोजी

(१) ···हुय निकळंग काळंगनै मारै, ('सबद'–सायवो जपणनै बैठा)
—समसोजी

(२) काळंग ऊपर साखती, जोड़ो जांबू खेत
काळंग निकळंग मारसी, दळ निकळंग रा जेत ('सबद' इणजुग चोथै)
—सिद्ध दूदोजी

(१) काळंग दाणै भगड़ो म ड्‌यो (सूरज-लीला)
(२) नौ दाणूं आगै निरदळिया, अब काळंग नै हेला
काळंग मारां कुळ वरतावां, तळ तळ काढां तेला ('सबद'–निकळंग नाव निरंजण) —सिद्ध देवोजी

(१) काळंग नै करतार मारसी, कळ जुग बीतां
(२) सूरज सिरजण हार, वाण काळंग पर संध्यो (सूरज स्तुति)
—लालनाथजी

निरंजनी संप्रदाय के हरिपुरुषजी ने अपनी वाणी में 'काळंग' को 'कालिम' रूप में उद्‌धृत किया है जिसको मारकर भगवान 'निकळंग' कहलायेंगे–

वेद कहै हरि सांभळि आवै, सूरज संकट निवारण
निकळंकी औतार कहावै, कळि काळिंग को मारण

'पीरदान-ग्रंथावली' में यह शब्द काळंग, कालिंग, काळींग, कालींगना तथा काळींगा, रूपों में प्रयुक्त हुआ है जो राक्षस का वाचक है।[1]

---

१ पीरदान ग्रन्थावली, शब्दकोश, पृ. १७ (सादूल राज० रिस० इन्स्टी० बीकानेर)

'निकलंग'

निकळंग (निकळंक) शब्द 'निष्कलंक' से व्युत्पन्न है। पंजाबी में यह शब्द 'निहकलंकी' हो गया है। राजस्थानी साहित्य में सामान्य रूप में 'निकळंग' शब्द परमात्मा व निष्कलंकी के लिए प्रयुक्त होता है। सृष्टिकर्त्ता, धर्म-ध्वज-धारक तथा धर्मोत्थानक ही 'निकळंग' है। भगवान् का दसवां अवतार जो कलियुग के संध्याकाल में होगा, वही धर्म संस्थापक परमात्मा यहां 'निकळंगी' के नाम से अभिहित है। 'विश्नोई संप्रदाय' में जांभोजी, 'जसनाथी सिद्ध संप्रदाय' में सिद्ध जसनाथजी एवं 'कामड़ पंथ' में रामदेवजी 'निकळंग' अवतार माने जाते हैं। 'शाहदुल्ला संप्रदाय' के लोग अपने को 'निष्कलंक' कहते हैं और वे 'निष्कलंक' के उपासक हैं। ये 'निष्कलंक' का अर्थ करते हैं— विष्णु का दशम अवतार। 'शाहदुल्ला संप्रदाय' में हिन्दू व इस्लाम का अद्‌भूत मिश्रण हो गया है।' (संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, पृ० १८२)

नीचे कुछ 'निकळंग' शब्द संबंधी उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

डिंगल के भक्त कवि ईसरदासजी ने अपने भक्ति-ग्रंथ 'हरिरस' में भगवान् 'कल्कि' की 'निकळंक' नाम से प्रार्थना की है—

(१) नमो निकलंकिय नाथ नरेह
नमो कळि काळख नास करेह (छंद संख्या–६६)

(२) निरंजणनाथ नमो निकळंक
कलंकिय टाळण साध कलंक (छंद सं० ७१)

(३) धरेउ रूप निकळंक को, भोम उतारण भार
सार इहे संसार में, अै दस ही अवतार (गज उद्धार)

अनादि और शुद्ध ब्रह्म के लिए भी 'निकळंक' शब्द का प्रयोग हुआ है–

(१) अपना आप निजानंद चेतन, निकळंग ब्रह्म रहसी
सुद्ध स्वरूप अनादी, नहीं जहां फोर अफोरी (श्री सुखरामजी महाराज)

सिद्धाचार्य जसनाथजी व उनकी शिष्य परम्परा के साहित्य में 'निकळंक' शब्द 'निकळंग' रूप में व्यवहृत हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) कळजुग में निकळंगी जरैं अवलि थांणु ऊंडो
(२) द्वापर बरत्यो कळजुग आयो, नर निकळंगी कुहायो
('सिंभूधड़ो' सं० १–२ 'कोड़' सं० ४)

(३) मनवो तनवो दोन्युं मित, ज्ञान ज बैठा निकळंग चित (गोरखछंदी)

(४) निकळंग नांव कुहाणों ('सबद'–इणधर राजा इंद भणीजै)

(५) निकळंग नांव नेजारी ('सबद'-मैंमद मैंमद मतकर काजी)
(६) कळजुग में निकळंगी भणियां थळ माथै ओतारा
('सबद'-सांभळ राव'र सांभळ राणा)
(७) कळजुग में निकळंगी, जांरो अवचळ ऊंडो थाणूं ('सबद'-सेवा करचा जद)
(८) निकळंग नांव कुहाई ('सबद'-सरब सिनानी)
(९) निकळंग आण फिरावैला ('सबद'-काळा बखतर)।

इसी प्रकार लालनाथजी, देवपाळजी पांडिया, समसोजी तथा हरोजी की रचनाओं में परमात्मा बोधक 'निकळंग' शब्द का प्रयोग हुआ है—

(१) नारायण निज नांव भणी जै, निकळंग नेजाधारी (लालनाथजी)
(२) थे निकळंग ओतार (देवपालजी, 'सिरळोक')
(३) हुय निकळंग (समसोजी)
(४) म्हे वर निकळंगजी पायसां (हरोजी, 'कड़ा')

सेतला घोड़ा

लालनाथजी के 'निकळंग पुराण' एवं बाबा रामदेव–प्रणाली के साहित्य में 'सेतला', 'सेतलो' एवं 'सितलो' रूप भेद से यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी 'सेतला' घोड़े पर आसीन होकर भगवान् 'निकळंग' दुष्ट 'काळंग' का वध करेंगे। 'सेतला' घोड़ा सामान्य–सी नीली झलक देने वाला श्वेत रंग का होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है कि यह शब्द 'श्रील' (शोभावाला) की भांति सेत (श्वेत) के साथ 'ल' प्रत्यय लगकर 'सेतला' बना है या यह 'मेखला' की भांति स्वतन्त्र शब्द है। संभवतः यह शब्द 'श्वेतरंगवाला' अर्थ द्योतक से 'सेतला' बना हो।

जसनाथी-सिद्ध-कवि गुरु सैचंद ने अपने 'खड़बड़ खेड़' अभिधान वाले 'सबद' में- "सेतलै घोड़ै स्याम चढैला" और सिद्ध रूस्तमजी ने अपने 'कळपुराण' नामवाले 'सबद' में–'पिछम देस चढ्या परवाण, सेतलै घोड़ै मांड पलाण" जैसे प्रयोग किये हैं।

नंदखांडो

'निकळंग पुराण' में जिस प्रकार 'काळंग', 'निकळंग' एवं 'सेतलो' का प्रयोग प्रधान पात्रों के रूप में हुआ है उसी प्रकार और उक्त शब्दों के साथ 'नंदखांडो' शब्द का प्रयोग हुआ है। विष्णु की 'खड्ग' का नाम 'नंदक' है। 'नंदखांडो' 'नंदक खड्ग' ही है। यहां 'नंदक' का 'क' लोप हो जाने से केवल 'नंद' रह गया है और उसके साथ 'खड्ग' वाची 'खांडो' शब्द लगकर यह 'नंदखांडो' बन गया। भगवान 'निकळंग' अपने इसी 'नंदखांडे' से सेतलासीन होकर महादानव 'काळंग' का वध करेगे।

नीचे पाठकों तथा शोधार्थियों के अध्ययनार्थ मूल रूप में 'निकळंग पुराण' सटिप्पण प्रकाशित किया जा रहा है जिससे वे इसे और अधिक समझ सकेंगे–

अथ निकलंग पुराण

[१]

परसण माता सरसुती, हिरदै ज्ञांन अपार
ध्यावां गुरू गुणेसनै, खुलैं गुणां भंडार
अंतर कवल्य कांन को, बिरलां पायो पार
जोत सरूपी ओतरचा, थल माथै ओतार
हर सूं बाद कालंगो, रोकै सैंसूं बार
पिछम धरा रवि ऊगसी, बरतै घोर अंधार
नंद खांडो गुरु हाथ ले, चडसी चोथै वार
पांचूं पांडू महाबली, अरजन भींव पंडार
सिव संकर गोरख जती, अणत कोड़ सिध लार
पाखर पड़सी सेतलै, हर घोड़ै असवार
ताजम तुरकी सेतला, लीला तुरी तुखार
चडसीं सिधवँत सूरवां, सैंसूं सिलह सार
धरती धड़कै आभ थल, धर आभो गैणार
रिजिया रवि चंद छावसी, माचै धंधुकार
मेछ मळैं दाणू दलैं, दैतां करैं सिंघार
सिर कालंग रो तोड़सी, [जैरै]पुत्तरां असी हजार
गुरु सरणै 'लालू' भणै, अै आगम-आकार

[२]

हिंयाली हांसोजी सिंवरां, दिल री वातां लहसी
प्रभु ध्यावां तो फल पावां, सत री वातां कहसी
हिरदै सुरसत,सबद में सोझी, भाव भजन सूं रहसी
धरती-धरण अमर जुग तारा, नहचल कोयीन रहसी
रवि-चंद मेर धाम सब तीरथ, जलाकार जुग होसी

---

१ परसण–प्रसन्न। कवल्य– केवल्य। कांन को–कन्हैया का। थल माथै–पृथ्वी पर। चौथै वार–कलियुग में। लार–पीछे। पाखर–लोहे की झूल। ताजम–ताज़ी, घोड़ा। तुखार–घोड़ा। सैंसूं–सहस्रों। सिलह–अस्त्र-शस्त्र। सार–वाला। गैणार–गगन। रिजिया–गर्द। छावसी–आच्छादित होना। माचै–होगा। मेछ–म्लेच्छ। मळैं–मर्दन करें। दाणू–दानव। दलैं–दलन करें। दैतां–दैत्यों। सिंघार–संहार। आगम–आने वाला समय।

२ हिंयाली–हर्षोल्लास। हांसोजी–सिद्ध जसनाथ के चचेरे भाई एवं शिष्य। सोझी–बोध। मेर–मेरु।

जुग जावै स्वांमी रो सारो, नहचल आलम रहसी
सैंस सुतां की (सैंसों ताकी) तोड़ बगावै, सिर कालंगरो गहसी
सोवन चंवरी (चौंरी) चडै चतरभुज, मोत्यां चोक पुरासी
रिखरी नारी मंगल गावैं, बिरमा वेद भणासी
तिल-तिल रा गुरु लेखा मांगै, ताता तेल तपासी
साधु सैं सुरगापुर जासीं, पापीड़ा पिड़ासी
[आहा] कलि मेटचा कालंगनैं मारै, धरमी जुग थरपासी
'लालू' भणै गुरां रै सरणै, गुरु म्हानैं पार लंघासी

[३]

सत-सील राखो अमीं चाखो, नांव है निजसार
धरा ऊपर धणी जाग्यो, सिष्ट को सिरदार
कालंगै सूं भणै कामण, चेत खब्बरदार
गिरमेर गुड़ासी इंद दुड़ासी, छुडासी अंधकार
इन्द्र चवदै चाल बांधै, मेघ मूसळधार
सबद रूपी सा'ण चलसीं, निरवाण तत निरधार
सुरज रूपी देह भलकै, विस्न कै आकार
पाखाण की गुरु पाज बांधी, समद सिला तार
सिंध सब श्रीरांम लोध्या, सिन्यां पेलै पार
बानरा सब खेड़ी (खेड़्या) आया, लिंगूर कर किलकार
कोड़ जोधा काम आया, लंक का छतधार
मरतकालै मोन झाली, जाय पेठो खार
बानरां गढ लंक लूटी, जिंद कीवी जार
मंडळीक सेती भणै मैं'री, तेरो जीवणों धिरकार

जुग (जग)-संसार। सारो-सारा, समस्त। आलम- परमात्मा। बगावै-फेंके। सोवन-स्वर्णमयी। चंवरी-विवाहवेदी। चडै (चढै)- अग्रसर हो। सैं-सब। धरमी-धर्म विशेष से युक्त। थरपासी-संस्थापित करेंगे। म्हानैं-हमें।

३ अमीं-अमृत। गिरमेर-सुमेरुगिरि। गुड़ासी-लुढकाएंगे। दुड़ासी-गरजना करना। छुड़ासी-छोड़ेगा, करेगा। साण (साहण)-घोड़ा। सिन्या-सेना। पेलै पार-उस पार। खेड़ी-चलाया। जोधा-योद्धा। काम आया-मौत को प्राप्त हुए। छतधार-छत्र धारण करने वाला, राजा। मरतकालै-मृत्यु-काल, आसन्नमृत्यु। झाली-पकड़ी, धारण की। पेठो-पैठा। खार-समुद्र। कीवी-की। मंडलीक-मांडलिक, राजा। सेती-से, प्रति।

भांण किरणां बांण सांध्यो, लिछमणां कुंवार
काळंग मारैं आंण सारैं, भेख आंकैवार
मेघरी महाराज वरसीं, सगत सजै सिणगार
पाटरांणी पीव परणै, मेघ मंगळाचार
गिणेती नहीं ज्ञांन आवै, लीला है अपार
नवण कर नरदेह पायी, आप सूं उपगार
भणै 'लालू' भीड़ भानो, निवण निमसकार

[४]

हिंवर पलाणैं तंग कसैं, ताता तुरी तबेल
खड़ग दुधारो तन कसैं, हाथ लियां हर सेल
गिरीमेर-सा गुड़ चलैं, पवन करै रंगरेल
इन्द्र वारा गड़बड़ै, समदर सात उभेल
पापी परलै जायसीं, संतां अंमर बेल
नांव लियारी नाथ रां, संतां करै अवेल
चडसी समैं चौहोतरै, खालक करसी खेल
'लालू' हरनैं बीनवै, हर गुण हिरदै मेल

[५]

दळ बादळ हर करसी भेळा, कोप्यो तेड़ै सेन अपार
पिछम धरा सूं आप पधारै, आदि पुरस लेसी ओतार
सेतल घोड़ै मंडैं (मैंड) पलाणी, जोत सरूपी हुवै (व) असवार
समै चौहोतर स्याम पधारै, सूरज री हर करसी वार

मेरी (महरि)–स्त्रियों के लिए आदर सूचक शब्द । जीवणों–जीना, जीवित रहना । भांण–भानु । किरणां–किरनों । आंण–जिस की आज्ञा लोपी न जासके । आंकैवार-अंकानुसार, भाग्यांक । मेघरी (मेघड़ी)–वह कन्या जिसको कल्पांत में निकलंक (कल्कि) वरण करेंगे । पाटरांणी–पटरानी । परणै–परिणय, विवाह करे । गिणेतौ–गणना करने से । नवण–नमस्कार, नमन । भीड़–विपत्ति, अभाव । भानो–नष्ट करो ।

४ हिंवर–हय, घोड़ा । तबेल–घोड़ा, घुड़साल का । उभेल–उद्वेलित होना । नांव लियारी–नाम लेने वाला । अवेल–अविलम्ब । समै–समय, संवत । खालक (खालिक)-सृष्टिकर्त्ता । करसी–करेगा । मेल–रख ।

५ भेला-एकत्रित । कोप्यो–कुपित हुआ । तेड़ै–बुलावै । सेन–सेना । पलाणी–पलान रखा जाना, रण प्रस्थान को उद्यत होना । वार–सहायता ।

जोगेसर जळ ऊपर तिरसीं, पापीड़ा नर डूबणहार
साधुड़ा संग-साथे लेसी, सिर मेछां रै पड़सी मार
न हर राचै न्हायां-धोयां, न राचै झूठै आचार
साचां सूं गुरु गोरखराजी, सीलवंतांसूं (हूं) करसी प्यार
'लालू' भणै अलख रै सरणै, म्हांरै है हर रो आधार

[६] [राग धनाश्री]

जती मरद जालम जोगी, निकळंग नांव कैवाणां (कुहाणा)
सेतलै घोड़ै स्याम चढेला, तेज चडै खुरसाणां
नौलख गुरु रै पाखर पड़सी, रेवंतां पीठ पलाणां
हाबल सूं चड काबल आसी, चडसी पीर पुराणां
गोळी नाळ रेखला चालै, हस्ती चाल हबाणां
तबल घुरै तेजी पड़ छूटै, दिल्ली एक पियाणां
सातों समदर भेळा हुयसी, चढसी धर असमाणां
किन्या मेघ रै समद मोद रै, परणै स्याम सुजाणां
पाव पलक में पिरथी पळटै, बैसी वेजा ताणां
'लालू' गावै गुरु फरमावै, [मैं] मळधारी क्या जाणां

[७]

काळँग ऊपर कायमो कोप्यो, निकलँग पात
दल उमट्या हैं (स्यैं) देवरा, मांझी गोरखनाथ
घोड़ै चडसीं सेतलै, सुर तेतीसूं साथ
पांचां सूं पैळाद चडै, सातां हरचंद राव

राचै-प्रेमानुरक्त होना।

६ जालम जोगी-पापियों के साथ क्रूर व्यवहार करने वाला, परमात्मा, यहां 'जालम' शब्द (जालिम से) ही बनना संभव है किन्तु फिर भी राजस्थानी में इसका मूल अर्थ से विपर्यय हो गया है और तभी यह शब्द यहां परमात्मा के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। तेज (तेजी)-घोड़ा। खुरसाण-सैनिक, घोड़ा। हबाणां-एक ध्वन्यात्मक शब्द। घुरै-बजते हैं। पियाणां-मंजिल। मेघ रै-'मेघ' नामक व्यक्ति के यहां। समद-परमात्मा। मोद रै-'मोद' नामक व्यक्ति के यहां। पिरथी (पृथ्वी) संसार। बैसी-चलेगा। बेजा ताणां-ताना बाना, चारों ओर। मलधारी-सामान्य मनुष्य। जाणां-जानते हैं।

७ कायमों-परमात्मा, जो शाश्वत है। पात-पति, स्वामी। उमट्या-उमड़े। मांझी-नेता, प्रमुख। पांचां-पांचों, पांच करोड़ भवोद्धरित प्राणियों के साथ प्रह्लाद आयेंगे। इन पांच करोड़ प्राणियों का उद्धार प्रह्लाद की भक्ति के प्रभाव से हुआ था। सातां-सात करोड़ से राजा हरिश्चन्द्र।

नवां जहूठल आवसी, बारां गुरु जसनाथ
चडसीं सुरनर देवता, सिध गोरख नवनाथ
सिघ चड आसी सारदा, बांवन वीरां साथ
चक्र चलासीं जोगणी, सिर काळंग रैं घात
काळंग सूं जुध माचसी, कोपैलो रुघनाथ
अब क्यूं सूतो काळँगा, आयो निकळँग पात
छोडैनी हर मारसी, आगळ जोड़ो हाथ
सुण काळँग राणी कै, (कह) हर सूं कीजै बात
कोप्यां सूर न ऊगवै, निकळँग कतियक वात
दळ सिघारूं देव रा, मारूं सारो साथ
पैली पकड़ू देवता, पाछैं निकळंग पात
सुण राणी काळँग कै, (कह) देखी करस्यां बात
दाणूं रे! कोप्य रावण मारियो, लंक उपाड़ी बाथ
हर हिरणांकस निरदळयो, अम्मर कियो राज
गैला कांई गरबियो दाणूं न कर बाद
गैली राणी बावळी, केयां (कह्यां) न आवै लाज
हर सूं कोंकर हार सूं, सैंसां वेटां राज
धड़ तुटैं माथा पड़ैं, ढळसी सोवन छात
खपर भरासी जोगणी, वीर भड खैं गात
काळंग धरण रळावसी, जीतै निकळँग पात
गोरख ध्यावां गुण कथां, सिवरां गुरु जसनाथ
गुरु सरणै 'लालू' भणै, अै (अह) आगम री बात

[८]

पांचां सूं पैळाद पधारै, हरचंद सो सतवारां
नवां किरोड़ां राव जिहूठळ, बल राजा सो बारां

नवां ...... जसनाथ–युधिष्ठिर नव कोटि से और जसनाथ बारह कोटि स्वर्गस्थ प्राणियों के साथ आयेंगे। चडसी–चढेंगे। सुरनर–श्रेष्ठ मनुष्य। देव-मानव। माचसी-होगा। आगल–आगे। कोप्यां–कुपित होने पर। ऊगवै–उदय होगा। कोप्य–कुपित होकर। गैला–पगले। गरबियो–गर्वित हुआ। बावली–पगली। हारसूं–हारूंगा। तुटैं–टूटे। ढलसी–लुढकेगा, गिरेगा। सोवन छात–स्वर्ण-छत्र, राजा। खै–खायेंगे। धरण रलावसी–धूलि धूसरित करेंगे, नष्ट।

८ पांचा ...... बलराजा सो बारां–भक्त प्रह्लाद पांच कोटि भक्त जनों से, सत्यवादी हरिचन्द्र सात कोटि से, धर्मराज युधिष्ठिर नव कोटि से और दानवीर राजा बलि बारह कोटि उद्धरित प्राणियों के साथ आयेगा।

लाखां पीरा खाजो मीरां, मैंमद असी हजारां
कोड़(कोड़चा) निनाणवैं राजा चडसीं,जिंग चडै जोधारां
गुरु गोरख हसती चड चालैं, अणत कोड़ सिध लारां
सुर तेतीसूं तामस तोलैं, साध सजैं सिणगारां
सैंस (सैस) किरण सूरज रै साथै, बरण घणां बिसतारां
ब्रह्मा पुत्र अठचासी आगळ, सिनकादिक से प्यारां
चवदा चक्र म्हादे लेसी, तेज घणों सिस तारां
सेस सरीखा सांवत सागै, बासक फणां हजारां
निकळँग पांव पागड़ै देणी, चडसी दारमदारां
अरबा खरबां पदम पचासां, सेन चडैं अंत पारां
दुसमणियांनै दीन दळैलो, हीक पड़ै हितियारां
वळियां सेती छळ करेसी, मार पड़ै मुरदारां
बोपारचां घर बाधो हुवैलो, सुरँगा साहूकारां
साचा आंक सदासिव मेल्या, झूठ कैवां तो हारां
गुरु प्रसाद भणै 'सिध लालू', हर का बरण बिचारां

[९]

[छंद]

अठकळ परबत बह सरणाय, सातों समद सबै बण राय।
नवसै नदियां नीर झिलार, स्याम सेतलै जीन मंडाय ॥१॥
सुर तेतीसां लिया बुलाय, गोरख जोगी नाद बजाय।
अड़सठ चेला चंवर ढुळाय, सिंघ चड आवै सारदमाय ॥२॥

खाजो–ख्वाजा। मीरां–(मीरों) धार्मिक आचार्य। मैंमद—— हजारां–एक लाख अस्सी हजार-पीर-पैगम्बरों के साथ। जिंग–जंग, युद्ध। जोधारां–योद्धा लोग। लारां–पीछे तामस तोलैं–युद्धोत्तेजित होते हैं। म्हादे–महादेव। सिस–शशि। सेस–शेष नाग। बासक–वासुकि नाग। दारमदारां–(दारमदार) (यहां बदला हुआ अर्थ होगा–) स्वयं पर अवलंबित। हीक–···· ·········। हितियारां–हत्यारों, पापियों। बलियां–बलवानों। करेसी–करेगा। बाधो–वर्द्धन, लाभ। वरण–वर्ण, स्वरूप।

९ अठकल़–अष्टकुलि। बह–चले। सरणाय–सन् सन् करता हुआ। सबै–सभी। बणराय–वनस्पति। ढुळाय–डुलाकर।

चोसठ जोगण चकर चलाय, बांवन भैरूं खपर भराय।
इंद गड़कै आभै आय, बरसै पावस रया झड़लाय ॥३॥
कोप्या साम चढ्या रुघराय, रेवँत खड़िया चावक लाय।
डेरा थरप्या (थरपां) दिल्ली जाय, भगतां तम्बूलाल तणाय ॥४॥
सिर काळँग रै धनसर ळाय .... ।
मारां मेछ करां खळिहाण, घर दाणूं रै घालां घांण ॥५॥
राव जहुठळ आय देवांण, बांचैला सहदेव पुराण।
भीं आये रा ऐ परवाण, धूजै धर थरकै असमाण ॥६॥
चंवरी चडै चतरभुज राव, फेरा लेवै सिस्ट रो राव।
नारद मोनी बीण बजाय, ... ॥७॥
सैंयां गावै मंगळाचार, घर रिखियां रै अणद उछाव।
'लालू' गावै गुरुरी सोय, सबद कथ्या नर साचा होय ॥८॥

इति श्री निकळंग पुराण संपूर्णम्

भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान
रतन बिहारी पार्क, बीकानेर राज०)

गड़कै–गर्जना करता है। आभै–आकाश में। रेवंत–घोड़ा। खड़िया–चलाया। धनस रलाय–छेदनकर। मेघ–म्लेच्छ। खलिहाण–चूरा चूरा। घांण–नाश। देवांण–दीवान। भीं–भीम। परवाण–प्रमाण। थरकै-प्रकंपित होता है। असमाण –आसमान। रिखियां–ऋषियों, लोक धारणा के अनुसार मेघवाल जाति के जन। अणद–आनंद।

● रवीन्द्र कुमार शर्मा

कछवाहा तोपखाना (जयपुर)-एक संक्षिप्त अध्ययन

राजपूत–मुगल सहयोग से पहले तोपखाने को आमेर के कछवाहा तो क्या, राजपूताने के किसी राजपूत शासक ने प्रयोग नहीं किया। तात्कालिक स्रोतों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मुगल प्रभाव के बाद से ही कछवाहा शासक अपने यहां पूर्णरूपेण तोपखाने के विभाग को संचालित करने लग गए थे और अपने प्रतिदिन के अभिलेखों में इनका रिकार्ड भी रखते थे। अपने अनुसंधान के सन्दर्भ में मुझे जयपुर अभिलेखों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिससे कुछ इस प्रकार की अध्ययन रूप रेखा बनती है।[1]

निर्माण और कलपुर्जे

कछवाहा नरेशों ने अपने यहां प्रारम्भ में मुगलों से तोपें प्राप्त कर तोपखाने का विकास करना आरम्भ किया। वे जहां–जहां भी मुगलों के लिए युद्ध करने गए, उनकी कमान में प्रयोग के लिए मुगल तोपें हुआ करती थी। कालांतर में कछवाहा शासकों ने जयपुर में ही तोपों का निर्माण करना आरम्भ कर दिया और तोपों के कल–पुर्जे भी बनाए जाने लगे। फिर भी आगरा और दिल्ली से तोपों का आयात होता रहा।[2] इस प्रकार की तोपें जयपुर में जहां पर आर० ए० सी० लाइन है, वहीं पर जयपुर के शासकों का तोपखाना था और तोपों को सुरक्षित रखने के स्थान व गोला बरूद भंडार था। यहां पर ११ फुट लम्बी नली वाली तोपें मय गोलों के थीं। वर्तमान विधायक भवन व डाक–तार भवन के दाहिने ओर के चौराहे पर और कुछ जनाना अस्पताल के पास रिजर्व पुलिस लाईन के आगे भी ऐसी तोपें आज देखी जा सकती हैं। जयपुर में ही निर्मित दो तोपें सिटी पैलेस के सिंहद्वार पर भी जाकर देखी जा सकती हैं।

अंग्रेजों से सम्पर्क के साथ ही कछवाहा शासकों ने अपने तोपखाने में आंग्ल निर्मित तोपों को भी स्थान देना आरम्भ कर दिया और तोपखाने में तोपचियों की संख्या में भी

---

१ राजस्थान राज्य अभिलेखागार में कछवाहा तोपखाने से संबंधित लगभग ३००० पृष्ठों के तात्कालिक अभिलेख सुरक्षित हैं। अभिलेखों के १६ बन्डल हैं, जो राजस्थानी भाषा में लिखे हुए हैं, कछवाहा तोपखाने पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

२ जमा खर्च तोपखाना जयपुर अभिलेख, सम्वत् १७९०।

वृद्धि की, जो बढ़ कर ६६२ तक हो गई।[1] आंग्ल सम्पर्क के पश्चात् आयातित तोपों में से कुछ आज भी जयपुर राज्य के सीकर ठिकाने में राजकुमार की "पुरवी" के सदर दरवाजे पर देखी जा सकती है। इनमें दो तो बहुत ही विशाल और दूर तक मारक है। जयपुर में चांदपोल गेट के बाईं ओर का रास्ता तोपखाने के निर्माण और कार्यस्थल की ओर ही जाता है और आज भी तोपखाने का रास्ता कहलाता है। यूं उस भवन में आज तोपखाना विद्यालय नाम से स्कूल चल रहा है। जहां आज भी तोपें खड़ी करने की चौकियां देखीं जा सकती है।

कछवाहा तोपखाने में पद

अकबर के समय से ही कछवाहा नरेश और उनका तोपखाना मुगल सैन्य वाहिनियों के सम्पर्क में रहे। अत: उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। कछवाहा तोपखाना के पद एवम् पदाधिकारी मुगल तोपखानों के पदाधिकारियों के समान ही थे। प्रमुख पद निम्न थे:—

(१) मुर्शरिफ तोपखाना

एक प्रकार के इंजिनियर के समान, जो तोपखाने के कल–पुर्जा, गोला–बारूद और निर्माण विभाग से संबंधित था।

(२) दरोगा–ए तोपखाना

तोप टुकड़ी का नायक और युद्ध सम्बन्धी समिति का अध्यक्ष। हिसाब-किताब भी इसे ही रखना पड़ता था।

(३) तोपची गोलंदाज

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। तोप चलाने वाले, उनका मुखिया, गोला बारूद ढोने वाले और दागने वाले इसी श्रेणी में आते थे। तोपखाने में सबसे ज्यादा संख्या तोपचियों की होती थी, और ये सब बख्शी, या बख्शी-फोज के अन्तर्गत थे। यूं तो जयपुर के तोपखाने में विभिन्न जातियों के सैनिक थे, परन्तु पदाधिकारियों में मुसलमान अधिक हुआ करते थे। कछवाहा अभिलेखों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है। कछवाहा तोपखाने के निर्माण विभाग में जहाँ हमद लुहार (हमीद) का नाम बार-बार आया है। वहां प्रबन्ध में फते मोमद (फतह मोहम्मद) के नाम का उल्लेख मिलता है।[2] एक

---

१ थोरन्टन-गजेटियर ऑफ दी टेरीटरीज अण्डर ईस्ट इंडिया कम्पनी भाग २, पृ.२८८

२ जमा खर्च तोपखाना जयपुर अभिलेख, मिति जेठ बदी ७, मंगलवार, सं० १७६६

बात यह महत्त्वपूर्ण है कि मुगल तोप वाहिनियों में जो बरकंदाज, दिगंदाज पद थे। वे कछवाहा तोपखाने में नहीं मिलते।[1] दरोगा-ए-तोपखाना को ग्राधुनिक थानेदार के सदृश्य ग्रधिकार भी थे। परन्तु यह सुविधाएं केवल युद्ध के दौरान ही मिलती थी। ग्रन्य ग्रवसरों पर वह केवल ग्रपनी टुकड़ी का नायक मात्र था ग्रौर केवल तोपखाने के प्रबन्ध एवं हिसाब किताब तक ही उसके कार्य सीमित थे, जैसा कि इस ग्रभिलेख से स्पष्ट है—

राम

रोजनामा तोबषाना

मिती जेठ बदी १३ सोमवार सं. १७६६

रहेतमाल जिन्सी जमा तौहवीज युद्ध माल तोबतिका

मण १ जमा हेमराज दरोगा

हथनाल—४

रामचर्गी-२

गौला १२६६

रामबाण ६६

वेतन

कछवाहा नरेश ग्रपने तोपखाने के ग्रधिकारियों को नकद वेतन दिया करते थे। स्थानीय सैनिकों को भूमि भी दी जाती थी। ग्रधिकांश तोपची विदेशी रखे जाते थे। परन्तु इनमें ग्रधिकारी वर्ग ही ग्रधिक होता था। कछवाहा तोपखाने में मुगल, सिन्धी, पुरबिया ग्रौर परदेशी ग्रधिक थे। नागा सन्यासी भी तोपखाने में थे। जिन्हें सबसे कम वेतन मिलता था। राजपूताने पर ग्रांग्ल प्रभाव की वृद्धि के होने के साथ ही फिरंगी भी कछवाहा सेना के तोपखाने में स्थान पा गए थे।[2]

प्रसिद्ध तोपें

कछवाहा तोपखाने को देखने ग्रौर ग्रभिलेखों के ग्रध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि कछवाहा तोपें बहुत भारी ग्रौर विशाल हुग्रा करती थी। ग्रतः इनको भी मुगल तोपों के

---

१ तनखादार परगना कागजात, सं० १७५७, जयपुर ग्रभिलेख

२ एम० डी० शर्मा, कमेन्ट ग्रॉन राजपूत हिस्ट्री, पृष्ट—१५०

समान बैलों और हाथियों से खींचा जाता था । विशाल जंजीरों से बांध कर दो-दो, चार-चार हाथी इनको खींचा करते थे । इसी कारण से ये हथनाल या गजनाल भी कहलायीं ।[१] कछवाहा अभिलेखों में हथणी, गजरम्भा और हथणी, लक्ष्मी से सम्बन्धित जो जंजीरों के वर्णन हैं, वे भी इसका समर्थन करते हैं ।[२]

कछवाहों की प्रसिद्ध तोपों के नाम जो अभिलेखों में बहुतायत से मिलते है, निम्न हैं-तोप सरोवर,[३] फतह दौलत, मानगढ, पंचमेल, हरफूल आदि-आदि हैं ।[४]

कछवाहा तोपखाने की संहारक क्षमता मुगल तोपखाने के समान थी । क्योंकि मुगल कारीगरों से निर्माण-कला कछवाहों ने सीखी थी । जैसे-जैसे कछवाहा तोपखाना मुगलों, मराठों अंग्रेजों के सम्पर्क में आया, उसकी संहारक क्षमता बढ़ती गयी और इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि तुंगा के युद्ध में कछवाहा तोपखाने ने मराठी सेना (महादत्तजी) पर पांच से बारह मण तक के गोले बरसाये थे ।[५] इसी तरह के तोप के गोले आज भी जयपुर में चांदपोल गेट के बहार रिर्जव पुलिस लाईन के सामने देखे जा सकते हैं । कालान्तर में कछवाहा तोपखाने में आंग्ल तोपें भी स्थान पाने लग गयी और इस प्रकार कछवाहा तोपखाने की संहारक शक्ति में भी वृद्धि हुई । अंत में कछवाहा इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए एक अभिलेख[६] प्रस्तुत करना चाहूंगा जो निम्नलिखित है--

तोवषान्हा.........श्री तोवषान्हा ...जमाषरच रोजनामचा, तोवषान्हा

राम

मिति माह वदी १ सम्वत १७८२ भादवा सू दूज

गोला	मण	सरोतरफा
१२६९६	१२६ ।। ३।	१०६४
रामबाण	कीसनवा	फतेह दौलत
९१	९०	१३
मानगढ	पंचमेल	हरफूल
४।७	१	१

---

१ रोजनामा बुतायात-स० म० ईश्वरीसिंह, संवत् १७८९

२ वही, सावण सुदी, बृहस्पतवार, संवत् १७८९

३ स्याह है । खजाना संवत् १७८४, पत्र ३०

४ मिति माह बदी १, संवत् १७८२

५ जगदीशसिंह गहलोत-राजपूताने का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ १२२

६ जमा-खर्च तोपखाना, जयपुर (राजकीय अभिलेखागार, बीकानेर)

गोली सीसा की	गोली लोहे की
४४ ।। २	२५९।१।
गोली ग्राजबूरा	पीतल
६२९	११।।-

सही
मोहर

महाराजा जयपुर

ई० ३५।११५३, रानी बाजार,
बीकानेर (राजस्थान)

● शिवचरण मेनारिया

मेवाड़-राजपरिवार के विभिन्न धार्मिक संस्कार

धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिये राजकुलों में पुरोहित रखने की परम्परा प्राचीन समय से ही प्रचलित रही है। प्राचीन काल में 'नागर' तथा "चौबीसा" जातीय ब्राह्मण क्रमशः मेवाड़–राजवंश के पुरोहित रहे।[१] राणा राहप ने चित्तौड़ अधिकृत करने के पश्चात् पालीवाल जातीय पं.सरसल्ल को पुरोहित राज-पद प्रदान किया। तदनंतर उसके वंशधर पुरोहित पद पर कार्य करते रहे।[२] वंश-वृद्धि के परिणामस्वरूप पुरोहित परिवार काफी बढ़ गया, फलतः कार्य एवं अधिकारों के लिये उनमें पारस्परिक कलह पैदा हो गया। अतः महाराणा ने उनकी प्रार्थना पर उनके कार्याधिकारों का विभाजन कर दिया।

प्रस्तुत पत्र में मेवाड़ के राजघराने में सम्पन्न होने वाले विभिन्न धार्मिक संस्कारों का उल्लेख किया गया है। पत्र में तीन पक्षों के बीच उनकी जागीर, जायदाद और नेग का विभाजन करने का तरीका स्पष्ट किया है। ये तीनों पक्ष है—

(१) पुरोहित मंकुजी माधवजी के वंशधर
(२) " काशीदासजी के वंशधर
(३) " चकराजी के वंशधर

महाराणा ने तीनों पक्षों में जायदाद एवं कार्याधिकारों का विभाजन करके, तीनों को अलग-अलग पत्र लिख दिये। प्रस्तुत पत्र पुरोहित मंकुजी माधवजी के वंशधर के प्रार्थना पत्र पर महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) द्वारा फाल्गुन सुदी ३ संवत् १७४२ गुरूवार को लिखा गया था।

पत्र में स्पष्ट किया गया है कि पाँच गाँव (बड़गाँव, गुडली, जीतास, कुचोली और चित्तौड़िया) तथा रहने की हवेली प्रथम दोनों पक्षों में बराबर बांटी जाय। राजकुमारी की सगाई, राज्यारोहण, तलवार बंधाई, श्री एकलिंगजी का भोग, राजकीय देवालय का नेग, स्वर्ण तुलादान, ग्रहण पर्व का दान, यज्ञोपवित, विवाहोत्सव एवं महाराणा के कहीं जाने

---

१ शोध पत्रिका, वर्ष ११, अङ्क ३-४, पृ. ७२-८३.
२ मेरा निबन्ध-शोध पत्रिका, वर्ष २३, अङ्क ३, पृ. ४०-४३.

का नेग प्रथम दोनों पक्षों (१) मंकुजी माधवजी के वंशज तथा (२) श्री काशीदास के वंशजों में बराबर २ बाँट दिया जाय। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष अधिकार यथा-बड़े उत्सवों का दानपुण्य[१], जनानी ड्योढ़ी का नेग, चौमुखा की बैठक, बड़े दरीखाने की बैठक में महाराणा के पीछे बैठने की स्वीकृति, राजकुमारों की पुरोहिताई, गया श्राद्ध पर जाना और उसका नेग, धर्म-सभा में पण्डितों की बैठक में सिंहासन के सामने बैठक और बीड़ा तथा राजकीय घोड़ा पुरोहित मंकुजी के वंशधरों को प्रदान किये गये।

राजकुमारियों तथा राजकुमारों के गौनों पर तथा महाराणा के गोखड़े अथवा सवारी में बैठने पर, उनकी गादी के पीछे जिस किसी पक्ष को आज्ञा होगी वह बैठेगा। चकराजी के वंशजों के कार्याधिकार स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि किसी राजपरिवारीय का दाह संस्कार, छारी सांवरणा, अस्थी पदरावण, श्राद्ध, स्वंत्सरी की थाथ, खवासणों की डोडी का नेग, अमावस के कुवारड़े, महासतियों की पूजा और रात्रि-जागरण आदि का नेग, चकराजी के वंशज प्राप्त करेंगे। पंचोली दामोदरदासजी की आज्ञा से महाराणा के मोले के तलाव के डेरे पर यह पत्र लिखा गया था। मूल पत्र[२] का पाठ इस प्रकार है—

।।श्री गुणेसजी प्रसादातु ।।श्री रामोजयति ।।श्री एकलिंगजी प्रसादातु

१. ।।पुरोहित मंकुजी माधवजी रा बेटा पोता जोग्य।।
२. अपरंची अरजी थे श्री एकलिंगजी री महापूजा समै (समय) नजर
३. करी श्रीमुख वांची थांरा प्रवाना पांच निजरे हुवा सो बड़ा
४. री करी अजाद ई माफक होसी, गांम गुड़ली : कुचोली:
५. बडगाम : जीतास : चितौड्यो : गाम पांच ती माहै विस-
६. वा दस १० थारा है बापोती रा तांबा पत्र रो हांसल थे खा-
७. स्यौ अधकर गांम विसवा दस काशीदासजी रा बेटा पो-
८. ता खासी अर यां गांमा का तांबापत्र द्वारा १२ भाई बंटा
९. साझा रा भला प्रोहतजी के घरे मेलिजो अपरंची : श्री हजूर
१०. पधारे जठे थारो नेग जोग अधकर तो प्रोहतजी रो अधकर,
११. जठे थारो नेग पधारे जोग अधकर तो प्रोहतजी रो अधकर,
१२. सो लियां जाजो आगे पेली उदेसागर तथा राजसमन्द
१३. जसनगर रा नामा गोविंदास गोरावत मालुम करा ती मा-
१४. फक अठा पाछे भारी मोटो उछव दान पुण्य, जनानी डोडी-

---

१ होली, गनगोर, एकलिंगप्रादुर्भावोत्सव, रक्षाबन्धन, जन्माष्ठमी, अनंत-चतुर्दशी, नवरात्रि, विजयादसमी, दीपावली, महाराणा का जन्मोत्सव, बसन्तपंचमी, आदि-आदि द्रष्टव्य मधुमती, अक्तू, १९६९ पृ० ६८-७५।

२ श्री लक्ष्मीलालजी पंड्या, भटियानी चोहट्टा, उदयपुर के पास उपलब्ध।

१५. रो नेग चोमुखा री बैठक, बड़ा दरीखाना री बेठक गादी पाछे
१६. बेठस्यों अर सुभ काम देरासुर को चरणामत थां मेलो भा-
१७. ई भतीजो नुकतो राखीजो अधकर नेग बह्मभोज चढ्यो
१८. उतरयो येक जमे देरासर मांहे बांट लीजो रहवारी हवेली
१९. दामोदरदासजी भीतरे परे घांटी सुधी अधकर थां ये बेंचे-
२०. दीधी है सो थांरा बेटा पोता रहसी बायां रा नालेर अर
२१. टीला रो समोरथ तथा तलवार बधाई रो नेग अधकर
२२. थें सारा भाईबंद बेंचे लीजो श्री कुंवर पणारी प्रोहताई
२३. अर दाना दीखत थां मेलो रेहसी राजलोकां आणां बहन
२४. बेटा रा थे हुकम माफक जास्यो (श्री तीरथ गया सराध
२५. थां मेलो जातो आया हो सो हुकम माफिक किया जाजो)
२६. श्री जी दुवारे श्री येकलिंगजी श्री जी पधारे जठे ब्र
२७. हम भोज अधकर थें सारा भाई बंध कबीला सुधी जीम-
२८. स्यो ने मोटी तुला रो नेग ग्रहण पर्व रो नेग जिनोई विवाह
२९. रो नेग अधकर थें बेंचे लीजो ओर धरमखाता मांहे पींड —
३०. तारी बैठक माहें सदामदी जुदे जुदे नामे पावण है सो पाव-
३१. स्यो सिंगासण आगे बेठक हे सो उठे बीड़ा आवे सो ले
३२. घरां जाजो हुकम प्रणाशे श्री दरबार थी महरबानी करे बुला-
३३. बे जदी नामा ये करी बेठक गोखडा मांहे, असवारी, सिकारी
३४. गादी पाछे बेठस्यो नामा प्रीति घोडो-हलाल-निरघरी
३५. पावो हो सो पायां जासो अर आगला परवाना माहें गादी सिं-
३६. गासणरी आण लिखी है सो साबत है अठाई पाछे अजाद
३७. पावण (पालन) मे करस (कसर) दोष करसी तीहे चीतोड़रा साका रो पाप
३८ होसी श्री येकलिंगजी पूगसी-पानो येक चकराजी-
३९. रा बेटा पोता रे नामे लिख दिवाणो है ती मांहे थांरो बाटो
४०. बेंचो नहीं है सो थे बोलो मती अपरंची (बारी री आड़ी
४१. आतुर सभा रो काम ऊणारो है छाड़ी ढोलवा सुधी श्री गंगा
४२. जी असती वे पधरावसी श्राद्ध समछरी री थाथ वे करसी
४३. खवासणयारी डोढ़ी उण मेलो रहसी अमावस रा कुंवारड़ा
४४. वांके घरे जीमसी तथा महासत्यारी पूजा रातीजुगा वांके
४५. घरे होवो करसी) तीरो पानो प्रोहित सुन्दर किसना हस्ते
४६ मंडावे दीधो है ती मांहे तथा थारा पाना में प्रोहितजी री साब-
४७. त श्रीहजूर थी जो सीर खरा है मोकले ने कराये दीधी है

४८ थांरा हाथ रो मतो कीधो थां सो प्रोहत जगदीरायजी हस्ते
४९. सोंपयो (सौंपा) है तीं गेले चल्या जाज्यो पाना तीन पंचोली दामोदर-
५०. दासजी श्री जी रा हुकम थी मांडया है दुवो इत कोई नहीं
५१. श्री मुख मोले रा तलाव रा डेरा ऊपरे लिखत ग्रामा सामा
५२. लिखा पाना कराया है सो सही है संवत १७४२ रा फागण
५३. सुदी ३ गुरे मु'दड़े बिराज्यां हुकम दसखत तिवाड़ी
५४. ढालम

अनुसंधाता, इतिहास विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

● डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

अपभ्रंश का वर्णनात्मक व्याकरण

संज्ञा शब्दों की रचना-प्रक्रिया

आचार्य हेमचंद्र रचित अपभ्रंश व्याकरण की प्रवृत्ति तुलनात्मक है, संस्कृत को आधार रूप में ग्रहण किया गया है परन्तु हेमचंद्र ने संस्कृत को प्रकृति नहीं माना है। विद्वान् प्राकृत और अपभ्रंश को संस्कृत से उत्पन्न मानते हैं, यह मत हेमचंद्र के व्याकरण का अध्ययन करने के उपरांत प्रमाणित नहीं होता। अपभ्रंश पश्चिमी भारत की जनभाषा थी और संस्कृत परिनिष्ठित भाषा। जब जनभाषा अपभ्रंश में साहित्य रचना प्रारम्भ हुई, तब उसके रूप-तत्त्व को भी सूत्रबद्ध किया गया। इस व्याकरण में यह बतलाया गया है कि अमुक संस्कृत शब्द के स्थान पर जनभाषा अपभ्रंश में अमुक शब्द प्रयुक्त होता है। हेमचंद्र ने रूपस्वनिमिक (Morphophonemic) परिवर्तन नहीं दिए हैं। इसका तात्पर्य यही है कि अपभ्रंश की प्रकृति संस्कृत नहीं है। संस्कृत को आधार बनाकर अपभ्रंश की प्रकृति का कथन किया गया है। साहित्यिक रूप ग्रहण करने के पश्चात् शौरसेनी प्राकृत भी इससे प्रभावित हुई है। अपभ्रंश और शौरसेनी में भेद है, यह भेद हेमचन्द्र ने ३२९ से ४४५ तक के सूत्रों में कहा है। समानता के लिए एक सूत्र है-'शौरसेनीवत्' ॥४४६॥ अतः यह निष्कर्ष उचित प्रतीत होता है कि जब भारत के अन्य भागों में महाराष्ट्री, मागधी आदि प्राकृतें जनभाषा के रूप में प्रयुक्त हो रहीं थीं, तब पश्चिमी भू-भाग में अपभ्रंश बोल-चाल की भाषा थी। इसी भाषा से गुजराती और मारवाड़ी का विकास हुआ है।

अपभ्रंश में संज्ञा पदों की रूप-रचना

कर्त्ता और कर्म (कारक)

(१) स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ ॥३३०॥

संस्कृत की तुलना में, अपभ्रंश में, संज्ञा शब्दों का अन्त्य स्वर प्रायः ह्रस्व अथवा दीर्घ हो जाता है। संस्कृत में ऐसा नहीं होता। हेमचंद्र लिखते हैं-'अपभ्रंशे नाम्योन्त्यस्वरस्य दीर्घह्रस्वौ स्यादौ प्रायो भवतः।' अर्थात् अपभ्रंश में संज्ञा शब्दों के परे सि (सु) आदि विभक्तियाँ रहने पर, उन संज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर प्रायः दीर्घ अथवा ह्रस्व हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मूल में ह्रस्व हो तो दीर्घ और दीर्घ हो तो ह्रस्व स्वर हो जाता है। 'स्यादौ' के आदि में सभी विभक्तियों का ग्रहण है । संस्कृत में जैसे 'राम' प्रकृति से

सु (प्रथमा एकवचन) विभक्ति होने पर रामः बनता है, वैसे अपभ्रंश में प्रथमा एक वचन में ढोल्ल प्रकृति से 'ढोल्ला' पद बनता है। 'ढोल्ल' में अन्त्य 'अ' है, ढोल्ला में यह 'आ' हो गया है (अ – आ)। अर्थात् प्रथमा एकवचन की सूचना ढोल्ल्+अ में उपस्थित 'अ' की दीर्घता से प्राप्त होती है। संस्कृत की तुलना में यह प्रक्रिया अत्यंत सरल है। इसी प्रकार सामल (श्यामल) का प्रथमा एकवचन का रूप 'सामला' होगा। 'ढोल्ला सामला' प्रयोग हेमचंद्र ने दिया है। 'धण्णा' (धन्या) और रेहा (रेखा) पद जो मूल में ही दीर्घ स्वरान्त है, ह्रस्व होकर 'धण' और 'रेह' बन जाते हैं। यह प्रवृत्ति 'अ'कारान्त, आकारान्त इ अथवा ईकारान्त (स्त्रीलिंग अथवा पुल्लिग) आदि में पाई जाती है।

केवल कर्त्ता (प्रथमा) एकवचन में ही नहीं बहुवचन में और अन्य कारकों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है—

(क) संबोधन एक वचन में ह्रस्व के दीर्घ होने का उदाहरण

'ढोल्ला महँ तुहुं वारिया'

(हे ढोल्ला ! तू मेरे द्वारा मना किया गया था।)

यहाँ 'ढोल्ला' सम्बोधन में है।

(ख) अन्त्य 'इ' तथा 'ई' के ह्रस्व-दीर्घ होने का उदाहरण

बिट्टीए मइ भणिय तुहुं मा करु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि ॥

(हे बिटिया, मैंने तुझसे कहा था 'बाँकी दृष्टि मत कर, ऐसी दृष्टि नोकदार बरछी के समान हृदय में प्रविष्ट हो जाती है।

यहाँ बिट्टि का बिट्टीए (इ–इए) और पुत्ती का पुत्ति (ई–इ) हुआ है।

(ग) कर्ता बहुवचन में ह्रस्व–दीर्घ होने का उदाहरण

'इए ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग।'

(ये वे घोड़े हैं, यह वह स्थल है, ये वे तीक्ष्ण खंग हैं।)

यहाँ पर 'एते ते' के स्थान पर 'एइ ति' तथा 'खंगाः' के स्थान पर 'खग्ग' पद का प्रयोग हुआ है।

सूत्रबद्ध रूप में परिनिष्ठित शब्द की तुलना में, अपभ्रंश में

अन्त्य अ–आ
" आ-अ
" इ–ई/ईय/ईए
" ई–इ
होता है।

[२] **स्यमोरस्यात्** ।।३३१।।

अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में संज्ञा शब्दों के अन्त्य 'अ' का 'उ' होता है। 'स्यम्' में दो विभक्तियों का निर्देश है, 'सि' (प्रथमा ए. व) और 'अम्' (द्वि. ए. व)

'दहमुहु भुवण भयंकरु तोसिअ संकरु'

(भुवन-भयंकर दशमुख, शंकर को तुष्ट कर।)

'दशमुख' कर्ता एकवचन में हैं, 'शंकर' द्वि. ए. व (कर्म) में, दोनों में अन्त्य 'अ' का 'उ' हुआ है।

[३] **सौ पुंस्योद्वा** ।।३३२।।

अपभ्रंश में पुल्लिग संज्ञा शब्द के अन्त्य 'अ' का कर्ता एकवचन में विकल्प से 'ओ' होता है। पुल्लिग इसलिए कहा है कि नपुंसक लिंग में प्रयुक्त संज्ञा शब्दों के अन्त्य 'अ' के 'ओ' में परिवर्तित होने का विधान इस सूत्र से न हो।

'वरिस-सएणवि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ।'

(सैंकड़ों वर्षों पर जो मिलते हैं, वही सुख का स्थान हैं।)

यहाँ यः के स्थान पर 'जो' और सः के स्थान पर 'सो' हुआ है।

इस प्रकार कर्ता कारक एकवचन के रूपिम 'सि' के योग से संज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर में ही परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन 'सि' रूपिम और शब्द के अंत्य स्वर सन्धि के कारण नहीं होता। वस्तुतः शब्द के भिन्न अन्त्य स्वर वाले रूपों का प्रयोग होता है। हेमचंद्र ने इन सबका सामूहिक रूप 'सि' माना है, जैसे पाणिनि ने 'सु' माना है। आधुनिक भाषाविज्ञान की शब्दावली में 'सि' रूपिम (Morpheme) बद्ध (Bound) है। इसके छः सहरूपिम (Allomorph) हैं जो भिन्न-भिन्न परिवेशों में आते हैं तथा स्वर के ह्रस्व अथवा दीर्घीकरण से सूचित होते हैं, कहीं-कहीं जैसे अ - उ में गुण परिवर्तन भी होता है।

करण कारक

[४] (क) एट्टि ।।३३३।।

अपभ्रंश में (तृतीया एकवचन की 'टा' विभक्ति परे रहते) तृतीया एकवचन में संज्ञा सब्द के अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'ए' होता है।

'जे मह दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण।'

(प्रवास करते हुए प्रिय ने जो दिन मुझे दिए हैं।)

'दइ' में 'एँ' करण एकवचन का सूचक है, यद्यपि सूत्र में 'एँ' के '~' का निर्देश नहीं है। यहां 'पवसन्तेण' रूप भी ध्यातव्य है। यह संस्कृत के 'प्रवसन्तेण', 'रामेण' आदि

सदृश है। अपभ्रंश के रचनाकार संस्कृत से भी परिचित होते थे, परिणामत: संस्कृत रूप किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ अपभ्रंश में आए हैं। इनका कोई नियम नहीं है, ऐसे ही रूपों के लिए हेमचंद्र ने कहा है— 'शेषं 'संस्कृतवत्सिद्धम' ।।४४८।।

[४] (ख) आट्टो णानुस्वारौ ।।३४२।।

तृतीया एक वचन में 'ण' और अनुस्वार आदेश होते हैं।

[५] एँ चेदुतः ।। ३४३ ।।

अपभ्रंश में इकारान्त और उकारान्त शब्दों के परे तृतीया एकवचन की विभक्ति 'टा' को 'एँ' आदेश होता है। सूत्र के 'च' से इससे पूर्व आए सूत्र (३४२) में कथित 'ण' और अनुस्वार का ग्रहण भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'अग्गि' जैसे इकारान्त शब्द के तृतीया एकवचन में अग्गिएँ, अग्गिण, और अग्गिं ये तीन रूप हो सकते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये तीनों 'एँ','ण', और ' ं ' मुक्त वितरण (Free distribution) में हैं। अन्त्य 'इ' के पश्चात् इन तीनों में से कोई भी आ सकता है। 'इ' के साथ 'टा' आने पर मूल शब्द 'अग्गि' में कोई रूप-स्वनिमिक परिवर्तन नहीं होता, तृतीया सूचक एँ, ण अथवा ं सीधे जुड़ जाते हैं।

किन्तु उकारान्त वायु में रूपस्वनिमिक परिवर्तन होकर 'वाएँ' बनता है—वायु+टा-वा—(यु)+एँ—वाएँ। उकारान्त के 'ण' और ' ं ' वाले उदाहरण हेमचन्द्र ने नहीं दिए हैं।

[६] ट ए ।।३४९।।

स्त्रीलिंग शब्दों में तृतीया एकवचन में 'टा' (तृतीया एकवचन की विभक्ति) का 'ए' आदेश होता है—चन्दिमा आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द है, तृतीया एकवचन में—

चन्दिमा+टा—चन्दिम—(अ)+ए—चन्दिमएँ रूपस्वनिमिक परिवर्तन भी होता है और 'ए' का उच्चारण भी कोमल होता है।

[७] (क) भिस्सुपोर्हि ।।३४६।।

अपभ्रंश में तृतीया बहुवचन की विभक्ति भिस् और सप्तमी बहुवचन की विभक्ति परे होने पर इन विभक्तियों को 'हिं' आदेश होता है। शब्द के अन्त में कोई भी स्वर रह सकता है।

'गुणहिं न संपइ कित्ती पर'

[गुणों से संपत्ति नहीं कीर्त्ति (होती है।)]

'गुण' अकारान्त है, तृतीया बहुवचन में—

गुण+भिस्—गुण+हि—गुणहिं

[७] (ख) भिस्येद्वा

संज्ञा शब्द के अन्त्य 'अ' को, तृतीया ब. व. की भिस् विभक्ति परे रहते, विकल्प से 'ए' होता है–गुण + भिस्–गुण + अ + भिस्–गुण + ए–गुणे

इस प्रकार तृतीया के बद्ध रूपिम (Bound Morpheme) 'टा' के निम्नलिखित सहरूपिम होंगे—

	ए	–अन्त्य अ, पु. ए. व.	के परिवेश में
टा—	एँ/ण/ ०	" इ और उ पु. ए. व.	के परिवेश में
	ए	स्त्रीलिंग ए. व.	के परिवेश में
	हिं	बहु व. में	के परिवेश में

अपादान कारक

[८] ङसेर्हेहू ।।३३६।

अपभ्रंश में अन्त्य अकार से परे पंचमी की एकवचन विभक्ति ङसि को 'हे' और 'हु' आदेश होते हैं। वच्छ (वृक्ष) शब्द के पंचमी की एकवचन में दो रूप हो सकते हैं, 'वच्छहें' और 'वच्छहु'

[९] भ्यसो हुँ ।।३३७।।

अकार से परे पंचमी की भ्यस् बहुवचन की विभक्ति को 'हुं' आदेश होता है। सिङ्ग (शृंग) अकारान्त शब्द है–

सिङ्ग + भ्यस्–सिङ्ग + हुं–सिङ्गहु (शृंगों से)

[१०] ङसि–भ्यस्ङीनां हे–हुं–हयः ।।३४१।।

(i) इकार और उकार से परे पंचमी के एक व० में 'हे' (ङसि)
(ii) " " " " बहु० व० में 'हुँ' (भ्यस्)
(iii) " " " " सप्तमी के एक० व० में हि (ङि)

आदेश होते हैं—

गिरि	+	ङसि	—	गिरि	+	हे	—	गिरिहें	पंचमी एकवचन
तरु	+	ङसि	—	तरु	+	हे	—	तरुहें	" "
तरु	+	भ्यस्	—	तरु	+	हुं	—	तरुहुं	पंचमी बहुवचन
सामि	+	"	—	सामि	+	हुं	—	सामिहुं	" "
कलि	+	ङि	—	कलि	+	हि	—	कलिहिं	सप्तमी ए० व०

[११] ङस्–ङस्योर्हे ।।३५०।।

(i) स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों से परे ङसि अर्थात् पंचमी ए. व. में 'हे'
और (ii) " " " " ङस् " षष्ठी " 'हे'

आदेश होता है।

ङसि – हे अकार/इकार/उकार से परे और स्त्रीं ए० व० में
हुं अकार से परे ब० व० में
हुँ इकार/उकार से परे ब० व० में
हु अकार से परे एक व० में

संबंध कारक

[१२] ङसः सु–हो–स्सवः ।।३३८।।

अपभ्रंश में अकारान्त शब्द के परे षष्ठी एकवचन की विभक्ति ङस् के स्थान पर 'सु', 'हो' तथा 'स्सु' आदेश होते हैं–पर, तस और दुल्लह अकारान्त शब्द हैं, षष्ठी एक व० में इनके क्रमशः 'परस्सु', 'तसु' और 'दुल्लहहो' रूप बनते हैं। इस प्रक्रिया में भी कोई परिवर्तन नहीं होता। मुक्त रूपिम (Free Morpheme) पर, तस, और दुल्लह तथा बद्ध रूपिम 'सु', 'हो' और 'स्सु' अपना स्वरूप यथावत् ही रखते हैं।

[१३] आमो हं ।।३३९।।

षष्ठी बहु व० की 'आम्' विभक्ति को अकार के परे 'हं' आदेश होता है।

तण (तृण) शब्द की षष्ठी बहुवचन का रूप 'तणहँ' (तृणों की) होगा।

[१४] हुं चेदुभ्याम् ।।३४०।।

अपभ्रंश में इकारान्त और उकारान्त शब्दों के परे षष्ठी बहुवचन की 'आम्' विभक्ति के स्थान पर 'हुं' आदेश भी होता है। 'च' से पूर्व सूत्र में आए 'हं' का ग्रहण भी होता है। अर्थात् अन्त्य 'अ' के परे ही 'हं' नहीं 'इ' और 'उ' के परे भी षष्ठी ब. व. की विभक्ति 'आम्' को 'हं' होता है। तब 'इ' और 'उ' के परे दो आदेश हो सकते हैं–'हं' और सूत्र संख्या ।।३४०।। से 'हुं'।

तरु + आम — तरु + हुं — तरुहुँ
सउणि + " — सउणि × हं –– सउणिहँ

सूत्र में 'हुं' और 'हं' हैं, उदाहरणों में 'ँ' है, अतः ' ं '–'ँ' परिवर्तन ध्यातव्य है।

कहीं–कहीं सप्तमी, बहुवचन में भी 'हुं' आदेश होता है, ऐसी स्थिति में प्रसंग से अर्थ निर्णय करना होगा।

[१५] भ्यसामो हुः ।।३५१।।

स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों के परे षष्ठी (आम्) और पंचमी बहुवचन (भ्यस्) की विभक्तियों को भी 'हुं' आदेश होता है।

'लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु'

वयस्याओं (सखियों) से लज्जित होती, यदि भागकर घर आता।)

वयंसिअहु के दोनों विभक्तियों में अर्थ हो सकते हैं वयस्याभ्यः (पंचमी) और वयस्यानां (षष्ठी)

अधिकरण कारक

[१६] ङि नेच्च ॥३३४॥

(अपभ्रंशे अकारस्य ङिना सह इकार एकारश्च भवत: ।)

अपभ्रंश में सप्तमी के एकवचन में 'अ' को इकार और एकार होते हैं। अर्थात् 'इ' और 'ए' में मुक्त वितरण है । यह निश्चित नहीं है कि 'अ' का'इ'कहां हो और'ए'कहाँ ?

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाई

[सागर तृणों को ऊपर धारण करता है परन्तु रत्नों को तल में रखता है (घल्लइ) ।] यहां तल्+अ के अकार को 'इ' हुआ है । 'तलि' के स्थान पर अपभ्रंश में 'तले' भी होता है । 'तले' अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन हिन्दी से चलता हुआ आज भी निरंतर प्रयोग में है–'खिड़की तले', 'दिया तले' आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं । आधुनिक हिन्दी में 'ए'कारान्त रूप ही प्रचलित है । तल्+अ—तल्+इ में स्वर का गुणात्मक परिवर्तन अ—इ तथा अ—ए ध्यातव्य हैं ।

[१७] ङसि–भ्यम्ङीनां हे–हुं-हयः ॥३४१॥

(अपभ्रंशे इदुभ्दयां परेषां ङसि, भ्यस्, ङि इत्येतेषां यथासंख्यं हे, हुं, हि इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति ।) अपभ्रंश में 'इ' और 'उ' से परे पंचमी एक व. (ङसि), पंचमी ब. व. (भ्यस्) तथा सप्तमी एक व. की विभक्तियों को क्रमश: 'हे' 'हुं' और 'हि' आदेश होते हैं ।

यहां सप्तमी का प्रसंग है अत: सूत्र के अनुसार अन्त्य 'इ' और उकार को सप्तमी एकवचन में 'हि' आदेश होता है ।

'अह विरल–पहाउ जि कलिहि धम्मु'

[कलियुग में धर्म का प्रभाव (पहाउ) विरल है ।] 'कलि' पद इकारान्त है, सप्तमी एक व. में 'हि' हुआ है । 'उ' के 'हि' आदेश का उदाहरण नहीं दिया गया है । राजस्थानी, भक्तिकाल के सूर आदि की भाषा में और रीतिकाल के कवियों में सप्तमी एक व. में यह रूप सतत् प्रयुक्त हुआ है । आधुनिक काल की हिन्दी परसर्ग 'में' और 'पर' प्रयुक्त होते हैं ।

[१८] भिस्सुपोर्हि ॥३४७॥

अपभ्रंशे भिस्सुपो: स्थाने हिं इत्यादेशो भवति

'सुप्' सप्तमी ब. व. की विभक्ति है । अपभ्रंश में सप्तमी बहुवचन में 'हि' आदेश होता है —

'भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ'

(जिस प्रकार से भागीरथी भारत के तीनों मार्गों में प्रवर्तित होती है ।) 'मग्ग' पद के स. ब. व. में 'हिं' आदेश होकर 'मग्गेहिं' रूप बना है । प्राचीन हिन्दी का यह प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी में भी यथावत् रहा है ।

[१६] ङे हि ।।३५२।।

अपभ्रंशे स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परस्य ङेः सप्तम्येकवचनस्य 'हि' इत्यादेशो भवति। अपभ्रंश में स्त्रीवाचक शब्दों में सप्तमी ए. व. में 'ङि' को 'हि' आदेश होता है। 'अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति'

(आधी चूड़ियाँ महि पर गिर गयी, आधी तड़तड़ कर फूट गईं।) यहाँ स्त्रीलिंग 'महि' का सप्तमी ए. व. में 'महिहि' हुआ है। मध्यकालीन हिन्दी में भी यह रूप मिलता है।

हेमचंद्र ने संस्कृत की 'ङि' विभक्ति को आधार रूप में ग्रहण किया है। आधुनिक रूप–विज्ञान की दृष्टि से 'ङि' बद्ध रूपिम (Bound Morpheme) है तथा विभिन्न निश्चित् परिवेश में उपलब्ध रूप इसके सहरूपिम (Allomorph) हैं।

ङि	—	इ। ए (मुक्त वितरण)	अन्त्य 'अ' के परिवेश में
		हि	अन्त्य 'इ' और 'उ' के परिवेश में
		हिं	बहु. व. में
		हि	स्त्रीलिंग वाचक पद के परिवेश में

उपर्युक्त वर्णनात्मक विवरण से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं–

१. अपभ्रंश संज्ञा शब्दों में दो रूपिमों (Morphemes) का योग होता है, यह योग सामान्यतः एक दम सरल है, संस्कृत जैसे जटिल रूपस्वनिमिक परिवर्तनों का एकान्त अभाव है।

२. दो रूपिमों में से प्रथम अनिवार्यतः मुक्त (Free) रूपिम होता है और द्वितीय बद्ध रूपिम। प्रकृति के साथ प्रत्यय का सीधा योग ही सर्वत्र मिलता है।

३. किन्हीं–किन्हीं स्थितियों में अन्त्य स्वर में परिवर्तन होता है–यह परिवर्तन गुणात्मक और मात्रात्मक, दोनों प्रकारों में से कोई भी हो सकता है।

४. दोनों रूपिमों से संधिकार्य भी लगभग नहीं होता।

उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त हेमचंद्र ने विभक्ति–लोप तथा अपवाद के लिए भी कतिपय निर्देश दिए हैं। हेमचंद्र के विश्लेषण का आधार वस्तुतः प्रयुक्त भाषा है।

लोप सूत्र

[१] **स्यम्-जस्-शसां लुक्** ।।३४४।।

अपभ्रंशे सि, अम्, जस्, शस इत्येतेषां लोपो भवति।

अपभ्रंश में प्रथमा (कर्ता) एक व. और ब. व. तथा द्वितीया (कर्म) एक व. और ब. व. में विभक्ति का प्रायः लोप होता है।

एइ ति घोडा एह थलि

(यह वे अश्व है, यह थल है)

यहाँ 'एइ' 'ति' 'घोड़ा' बहु व. में हैं (एते ते अश्वाः) पर इनमें बहु व. सूचक विभक्ति (जस्) का लोप है। 'एह' और 'थलि' एकवचन है (एषा स्थली), इसमें भी एक व. सूचक (सि) विभक्ति का लोप है। राजस्थानी, गुजराती, मध्यकालीन हिन्दी और आधुनिक हिन्दी में यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। कर्ता एक व. और ब. व. में प्रातिपदिक ही पद के रूप में प्रयुक्त होता है। ब. व. में भी व. व. सूचक रूपिम जोड़ा जाता है। कर्ता की कोई विशेष विभक्ति नहीं होती।

राजस्थानी में–

छोरो रोटी खार्‌यो है–१

छोरा रोटी खार्‌या है–२

में 'छोरो' एक व. में है, कर्ता की विभक्ति नहीं है। इसी प्रकार 'छोरा' में 'आ' ब. व. सूचक है, कर्ता विभक्ति नहीं है। परन्तु 'छोरा' जब आधु. हिन्दी में प्रयुक्त होगा तो एक व. ही होगा–'छोरा जा रहा है'।

सूरदास की 'यह दुविधा पारस कहीं जानत' पंक्ति में भी 'पारस' एक व. में है और प्रातिपदिक ही पद रूप में प्रयुक्त है, विभक्तिहीन है। 'कर्म' में भी बिना विभक्ति के ही प्रयोग होता है। कामायनी की 'लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति' में भी कर्ता आगंतुक कर्ता-सूचक विभक्ति रहित है। अतः अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति ही मध्यकालीन और आधुनिक हिन्दी के इन प्रयोगों के मूल में हैं। इस दृष्टि से अपभ्रंश को प्राचीन हिन्दी कहना संगत होगा।

[२] **षष्ठ्या ।।३४५।।**

अपभ्रंशे षष्ठ्या विभक्त्याः प्रायो लुग् भवति।

(अपभ्रंश में षष्ठी विभक्ति का प्राय: लोप होता है।)

'गय कुम्भइं' उदाहरण में 'गय' (गज कुंभ) के साथ सम्बन्ध कारक की कोई विभक्ति नहीं है। मध्यकालीन और आधुनिक हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति है।

अपवाद

१. **स्त्रियां जस्–शसोरुदोत ।।३४८।।**

३४४ सूत्र में प्रथमा और द्वितीया के एक व. और ब. व. में लोप का विधान किया गया था। ३४८ सूत्र इसका अपवाद है। स्त्रीलिंग में प्रथमा और द्वितीया के ब. व. में क्रमशः 'उ' और 'ओ' आदेश होते हैं।

'अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण'

में स्त्रीलिंग अंगुलि का ब.व. अंगुलिउ हुआ है।

'सुन्दर सव्वङ्गाउ विलासिणीओ पेच्छन्ताण'

(सर्वांग सुन्दरी विलासिनियों को देखने वालों का।) यहां 'विलासिणीओ' कर्म कारक में है। ब. व. है, इसमें 'ओ' हुआ है।

२. क्लीबे जस्-शसोरिं ।।३५३।।

नपुंसक लिंग में वर्तमान संज्ञा शब्द में प्रथमा और द्वितीया के ब. व. में 'इं' आदेश होता है।

'कमलइं मेल्लवि'

'कमलों को छोड़कर' में कमल द्वि. व. व. में है, इसमें 'इं' आदेश स्पष्ट है।

३. कान्तस्यात उं स्यामोः ।।३५४।।

नपुंसक लिंग में प्रयुक्त उकारान्त शब्दों में प्रथमा और द्वितीया के एक व.-में 'उं' आदेश होता है।

'अन्नु जु तुच्छउँ तहे घणहे'

में तुच्छउँ प्रथमा एक व. का रूप है।

भग्गउं देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउँ परस्सु

(अपने बल (सेना) को भागते तथा शत्रु दल को प्रसरण करते देखकर।) इसमें 'भग्गऊँ' बलु. में द्वितीया एक व. है।

उपर्युक्त रूप-रचना, लोप तथा एक ही रूपिम के अनेक विभक्तियों में प्रयुक्त होने की प्रवृत्ति से यह भली भाँति जाना जा सकता है कि अपभ्रंश वस्तुतः जन भाषा थी, रूप-प्रयोगों की सरलता इस तथ्य का प्रमाण है। हेमचंद्र का व्याकरण वर्णनात्मक कोटि का व्याकरण है, अपभ्रंश का जैसा स्वरूप प्रचलित था वही उन्होंने ग्रहण किया, उसकी प्रवृत्ति को प्रस्तुत किया। हेमचंद्र को जो पाणिनीय परम्परा मिली, वह भी वर्णनात्मक व्याकरण की श्रेष्ठतम उपलब्धि थी।

हिन्दी विभाग,
उदयपुर विश्वविद्याय,
उदयपुर (राजस्थान)

फारसी तवारिखों के अनुसार शेरशाह द्वारा १५४४ ई. में चित्तौड़ पर आक्रमण करने पर तत्कालीन महाराणा उदयसिंह ने चित्तौड़ दुर्ग की चाबियां शेरशाह को सुपुर्द कर उसकी आधीनता स्वीकार कर ली थी। इस कथन को श्री सोमानी ने तत्कालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं घटनाक्रम के आधार पर जांचने का प्रयास किया है। इस विषय में इतिहासज्ञों एवं अनुसधित्सुओं के विचार अपेक्षित हैं।

—संपादक

● रामवल्लभ सोमानी

शेरशाह और चित्तौड़

शेरशाह के सम्बन्ध में फारसी तवारीखों में यह लिखा मिलता है कि जब वह चित्तौड़ से १० कोस दूर ही था, तब ही मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह ने दुर्ग की चाबियां उसको सौंप[1] दी, इसके बाद वह चित्तौड़ आया और वहां अपनी ओर से खवासखां के छोटे भाई सम्शखां, मियां अहमद सरवानी और हसन अली खिलजी को नियुक्त किया और वह वहां से [१५४४ ई०] में चला गया। वाकीयात-इ-मुश्ताकी में लिखा[2] मिलता है कि शेरशाह ने चित्तौड़ में ३००० सैनिक रख रखे थे। अफसाना-इ- सहान में लिखा[3] है कि खवास खां ने चित्तौड़ की तलहटी में एक मस्जिद बनाई एवं मेवाड़ में कई स्थानों पर

---

१ डॉ० एस. बी. पी. निगम—सूरवंश का इतिहास, पृ. २१५

२ वही, पृ. ३६

३ वही, पृ. ११५

तालाब कुऐ आदि बनाये । अगले वर्ष वहां शेरशाह के एक अधिकारी हुसैन खां तस्तदार का सिंध से बंगाल जाते हुये रूकना लिखा है । इस प्रकार के सारे वर्णनों को देखकर कई प्रकार की शंकाएं होती हैं यथा ---

(१) क्या उदयसिंह ने चित्तौड़ बिना युद्ध किये ही शेरशाह को सौंप दिया था ? यदि हां, तो फिर चित्तौड़ में तीसरा शाका कराने का क्या औचित्य था ? उस समय भी इसी प्रकार किला स्वयं द्वारा खाली करके दिया जा सकता था ?

(२) क्या केवल ३००० अफगान सैनिक छोड़ करके ही शेरशाह चित्तौड़ को २ वर्ष तक अपने तथाकथित अधिकार में बनाये रख सका था ।

इन फारसी तवारीखों के साथ २ हमें चित्तौड़ के ३ शाकाओं के समय घेरे के वृत्तान्तों पर भी विचार करना चाहिए । इनसे पता चलता है कि आक्रमणकारी सेनाओं के २-३ माह में प्रारम्भ में घेरा डालने पर किलेवालों को मुकाबला करने में कोई कठिनता ही नहीं आती थी । दूसरे शाके के समय सबसे अधिक असुरक्षितता की स्थिति थी, फिर भी उस समय भी किले में स्थित लोगों ने मुकाबला किया था । स्वयं उदयसिंह को दुर्ग जीतने में बड़ी ही कठिनाई आई थी और वह भी उसे धोखे से ही अधिकृत कर सका था। इस प्रकार जब वह स्वयं बड़ी कठिनाई से दुर्ग जीत सका था तो उसकी चाबियां बिना युद्ध किये ही सुल्तान के सन्मुख प्रस्तुत कर देना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है । विशेष रूप से उन परिस्थितियों में कि वह इसे कई महीनों तक घेरे की स्थिति में रखने और रक्षा करने की स्थिति में था । अतएव मैं इन फारसी तवारीखों के वर्णनों को एक-पक्षीय और अतिशयोक्तिपूर्ण मानता हूं । अब्बासखां सिरवानी के वर्णन को पढ़ने से ऐसा लगता है कि वह स्वयं कोई बनावटी बात कर रहा है । उसमें लिखा है कि शेरशाह को उसके सामन्तों ने वर्षा ऋतु के अत्यन्त निकट आ जाने के कारण सुरक्षित स्थान की ओर जाने की प्रार्थना की । तब सुल्तान ने इसका यह उत्तर दिया कि वह ऐसी जगह ठहरेगा कि जहां वह कुछ कार्य कर सके । इस वर्णन को पढ़ने से पता चलता है कि स्वयं सुल्तान चित्तौड़ दुर्ग को जीतने के उद्देश्य से नहीं आया था । मध्यकाल में इस दुर्ग पर घेरा रास्ते चलते हुए नहीं डाला जा सकता था । इसके लिए विशेष तैयारियां करके ही जीता जा सकता था । तीनों शाकाओं में स्वयं शासक बड़ी विशाल सेनायें लेकर आये थे । अतएव यह वर्णन असत्य ही प्रतीत होता है ।

अमरकाव्य वंशावली में शेरशाह द्वारा उदयसिंह को न हरा सकने की बात

कही है ।[1]

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्या ३००० सैनिकों से ही चित्तौड़ दुर्ग को अपने अधिकार में रखा जा सकता था । यह बहुत ही असंभव सा है । महाराणा सांगा की छाप उस समय भी अफगानों के मस्तिष्क में स्पष्ट रूप से विद्यमान थी । अतएव मेवाड़ में इस प्रकार की थोड़ी सी सेना लेकर चित्तौड़ जैसे महत्त्वपूर्ण दुर्ग पर अधिपत्य जमाये रखने की बात ही हास्यास्पद है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि शेरशाह लौटते हुए चित्तौड़ के मार्ग से जब गया, तब मेवाड़ की सेना के साथ उसकी छुटपुट लड़ाइयां हुई हों । स्वयं वह न तो मारवाड़ में राजपूतों के साथ भयंकर युद्ध करके पुन: किसी नये युद्ध में फंसने को ही तैयार था और न उसके सैनिक ही । वर्षा ऋतु के समीप आ जाने के कारण वे लोग किसी सुरक्षित स्थान पर लौटने के ही पक्ष में थे । अतएव फारसी तवारीखों के ये वर्णन अविश्वसनीय है ।

कानूनगो भवन,
कल्याणजी का रास्ता,
चांदपोल, जयपुर (राज०)

---

१ दिल्लीश्वर: सेरसाहिर्यस्य वैरी महान् भूत् ।
नम्रोनोवर्यसिंहो भूनद्दलं हृत्वान्मुहु: ।।
(ग्रंथ सं. १६६२, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर, पत्र सं. २४ A)

● सूर्य प्रकाश व्यास

काश्मीर में शैव-दर्शन का प्रादुर्भाव

जिस प्रकार शैव धर्म हिन्दू धर्म की एक प्रधान शाखा के रूप में लोक-प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार शैव-दर्शन की भी भारतीय दर्शनों में प्रतिष्ठा है। साथ ही, भारतीय दर्शनों में जो स्थान और प्रतिष्ठा शैव-दर्शन को प्राप्त है, वही शैव-दर्शनों में 'काश्मीर शैव-दर्शन' को सुलभ हैं।

दर्शन, धर्म का ही विकसित रूप है। अनेक भारतीय दर्शन यथा जैन, बौद्ध, शाक्त आदि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में धर्म के रूप में ही प्रचलित थे, बाद में उन्होंने दर्शन का रूप ग्रहण किया। ठीक इसी प्रकार शैवमत ने भी धर्म की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि के आधार पर अपने दार्शनिक स्वरूप का निर्माण और विकास किया।

काश्मीर में भी शैव-दर्शन का प्रादुर्भाव शैव धर्म से ही हुआ है। अतः काश्मीर की तत्कालीन धार्मिक स्थिति का परिचय पाना आवश्यक है।

ऐतिहासिक मान्यता है कि काश्मीर में 'अर्द्धनारी-नटेश्वर' की पूजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है।[1] कालान्तर में, काश्मीर में बौद्ध धर्म का आविर्भाव होने के बाद यद्यपि अनेक राज-परिवार बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए तथापि शैव धर्म के प्रतीक के रूप में पूर्वतः प्रचलित[2] इस पूजा-परम्परा के प्रति राज-परिवार एवं सामान्य जनता, दोनों का ही विश्वास बना रहा। बौद्ध धर्म के आविर्भाव एवं प्रभाव से वह डिगा नहीं। डॉ० पांडे के निष्कर्ष भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि आठवीं शताब्दी के मध्य तक बौद्ध एवं शैव दोनों ही धर्मों का प्रभाव समान रूप से काश्मीर की जनता पर रहा। अतः उस समय काश्मीर में प्रचलित धर्म न तो शुद्ध रूप से शैव था न बौद्ध,[3]

---

1 (i) Early History and Culture of Kashmir, by S. C. Ray, p. 116
(ii) भास्करी-संपा० डॉ० कांतिचन्द्र पाण्डेय, भू० पृ० १

2 Abhinavagupta–An Historical and Philosophical Study, by Dr.K. C. Pandey, P. 148–49

3 Ibid, P. 150

किन्तु दोनों का मिला–जुला धर्म था। फलतः दोनों ही धर्मों को विविध राजाओं का आश्रय एवम् प्रोत्साहन मिला। एक ओर मठ–स्तूप बने तो दूसरी ओर शिव मंदिर।[1]

बहुधर्मवाद की इसी पृष्ठ-भूमि में, ८ वीं शताब्दी के लगभग ही, संगमादित्य[2] एवं अत्रिगुप्त[3] के प्रवासी परिवार काश्मीर में आए। ये दोनों प्रवासी परिवार शैवमतावलंबी थे। अतः इन्होंने तत्कालीन सामान्य धार्मिक विश्वासों को व्यवस्थित और प्रमाणिक रूप देने का प्रयत्न किया एवं काश्मीर में शैवमत के अभ्युत्थान के लिए एवं बौद्ध धर्म की अपेक्षा उसके विशेष प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्न किये।

दूसरी ओर बौद्ध धर्म भी अपने धार्मिक विश्वासों को दार्शनिक स्वरूप देने में सतत् प्रयत्नशील था। शैवमतावलम्बियों के लिए भी, अपने धर्म की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए, उसकी मान्यताओं की दार्शनिक व्याख्या करना अनिवार्य हो गया। इसी प्रेरणा एवम् पृष्ठभूमि के फलस्वरूप शैव धर्म की दर्शनपरक व्याख्याएं होने लगीं।

डॉ० पाण्डे ने काश्मीर में शैव-दर्शन की परम्परा के प्रादुर्भाव पर विचार किया है। उनकी मान्यतानुसार यद्यपि यह परम्परा चौथी शताब्दी में आरम्भ हो गई थी[4] तथापि इसे पहली बार सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में ९ वीं शताब्दी के मध्य में प्रस्तुत किया गया। इसके प्रथम प्रवर्तक एवं संस्थापक सोमानन्द थे।[5] डॉ० पाण्डे के अतिरिक्त अन्य

---

१ (i) Early History and Culture of Kashmir, by S. C. Ray, P. 116
(ii) भास्करी–संपा० डॉ० कान्तिचंद्र पाण्डेय, भू० पृ० ३

२ विस्तारार्थ, द्रष्टव्य–शिव दृष्टि, सोमानन्द ७।११४–९

३ यह ऐतिहासिक तथ्य है कि काश्मीर का राजा ललितादित्य (७३५–६१ ई०) कन्नौज-नरेश यशोवर्मन पर अपनी विजय के उपरान्त अभिनवगुप्त के प्रथम ज्ञात पूर्वज शैवधर्मावलम्बी अत्रिगुप्त को, उसकी विद्वता से प्रभावित होकर काश्मीर लाया था। विशेष विवरण के लिए देखिये—
(i) Abhinavagupta–An Historical and philosophical Study, P. 146
(ii) काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० ११।

४ "The philosophic tradition, therefore, which Somananda systematies, goes back to about the end of the 4th Century A. D."
भास्करी, खण्ड २, भू० पृ० ४

५ (i) वही भू० पृ० ३–४
(ii) Abhinavagupta–An Historical and philosophical Study, P. 146

विचारकों[१] ने भी काश्मीर में शैव-दर्शन के प्रादुर्भाव का श्रेय सोमानन्द को ही दिया है।

किन्तु उपर्युक्त मान्यता आंशिक रूप से आपत्तिजनक है। वस्तुतः काश्मीर में शैव दर्शन का प्रादुर्भाव सातवीं शताब्दी के अंत अथवा आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हो गया था। क्योंकि "काश्मीर शैव-दर्शन" के नाम से प्रचलित अद्वैतवादी दर्शन क्रमशः तीन शाखाओं में विकसित हुआ—"क्रम", "कुल" एवं "प्रत्यभिज्ञा"। "क्रम" शाखा ही इनमें सर्वाधिक प्राचीन है—इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि स्वयं डॉ० पाण्डे ने सप्रमाण की है।[२] इस "क्रम" शाखा की परम्परा का आरम्भ, स्वयं उन्होंने ही, सातवीं-आठवीं शताब्दी के मध्य माना है।[3] अतः काश्मीर में शैव-दर्शन के प्रादुर्भाव का समय, इस प्राचीनतम शाखा के प्रादुर्भाव-काल से ही मानना युक्तियुक्त है। सोमानन्द वस्तुतः काश्मीर में "प्रत्यभिज्ञा" शाखा के संस्थापक एवं प्रवर्त्तक हैं जो "कुल" शाखा की अपेक्षा पश्चात्वर्ती हैं।[४]

काश्मीर शैव-दर्शन के प्रादुर्भाव के प्रसंग में ही एक विलक्षण स्थिति यह है कि जहाँ भारतीय दर्शनों का विकास द्वैत से अद्वैत की ओर हुआ है वहाँ काश्मीर में पहले अद्वैतवादी शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। द्वैतवादी शाखा, जिसके प्रथम काश्मीरी लेखक रामकंठ प्रथम है, लगभग दसवीं शताब्दी के अन्त में प्रभाव में आई।[५]

यद्यपि काश्मीर शैव-दर्शन की ये दोनों अद्वैत एवं द्वैतवादी शाखाएँ बाद में समानान्तर[६] चलती रहीं तथापि अद्वैतवादी शाखा का ही प्राधान्य बना रहा। इसका

---

१ (i) काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० ९२
(ii) शैवमत, पृ० १७०–७१
(iii) का० शै० (च०) पृ० ३
(iv) Early History and Culture of Kashmir, P. 173

२ "On the basis of the evailable evidence, therefore. we admit the "Kram" system to be one of the on oldest monistic systems of Kashmir "
—Abhinavagupta–A Historical and Philosophical Study p. 489

३ "The tradition of the "Kram" system……… ……goes back to the close of the 7th and the beginning of the 8th century".Ibid, P.489A.D.

४ Ibid–P. 488, 543

५ भास्करी, खण्ड ३, भू० पृ० १८–२०

६ वही, पृ० १८ एवं ५७

स्पष्ट प्रमाण यह है कि बाद में अद्वैतवादी शाखा ही "काश्मीर शैव–दर्शन" के नाम से प्रचलित हुई। अर्थात् दूसरे शब्दों में, काश्मीर में प्रादुर्भाव शैव–दर्शन की अद्वैतवादी शाखा ही "काश्मीर शैव–दर्शन" का पर्याय बन गई।[१] इसके अतिरिक्त अद्वैतवादी शाखा में भी लेखकों द्वारा दार्शनिक दृष्टि से खण्डन–मण्डन की आलोचनात्मक शैली अपनाने के कारण "प्रत्यभिज्ञा" शाखा को ही प्रमुखता[२] मिली। इसलिए प्रत्यभिज्ञा शाखा को ही कभी–कभी "काश्मीर शैव–दर्शन" के रूप में ग्रहण किया गया।[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काश्मीर में शैव–दर्शन के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

१– काश्मीर में शैव धर्म के प्रादुर्भाव का समय अनिश्चित है किन्तु शैव–दर्शन के प्रादुर्भाव का समय निश्चित है।

२– काश्मीर में शैव–दर्शन के प्रादुर्भाव से पूर्व वहाँ बहुधर्मवाद प्रचलित था।

३– काश्मीर में शैव–दर्शन का प्रादुर्भाव सातवीं और आठवीं शती के मध्य हुआ। नवीं शताब्दी के मध्य से इसने सुव्यवस्थित दर्शन का स्वरूप ग्रहण करना आरंभ किया।

४– काश्मीर में यद्यपि अद्वैतवादी शाखा का प्रादुर्भाव पहले हुआ, द्वैतवादी शाखा का बाद में, तथापि अद्वैतवादी शाखा और उसमें भी "प्रत्यभिज्ञा" शाखा ही महत्त्वपूर्ण रही हैं।

व्याख्याता–संस्कृत,
मा. व. श्रमजीवी महाविद्यालय,
राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

---

१ (i) काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी, पृ० ५
(ii) काश्मीर शैव दर्शन (शर्मा), भू० पृ० १
(iii) का० शै० (च०), पृ० १, २;
(iv) अभि. स्टडी, पृ० २९५, २९७;
(v) भास्करी, खण्ड २, पृ० ३

२ भारतीय दर्शन, (राधा.), पृ० ७३२

३ (i) डॉ० जोशी "काश्मीर शैव दर्शन" के नाम से "प्रत्यभिज्ञा" दर्शन ही मानते हुए (पृ० १२) अपने ग्रन्थ का आलोचनात्मक भाग प्रस्तुत करते हैं।
(ii) काश्मीरीय शैव दर्शन को प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते है ....।"
भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र, पृ० ३८०।

समीक्षा
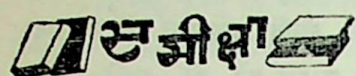
भारतीय संगीत वाद्य

लेखक–डॉ० लालमणि मिश्र, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, बी । ४५–४७, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली, जुलाई १९७३, मूल्य–४० रुपये, पृ० २००+५४

डॉ० लालमणि मिश्र भारत के निष्णात विद्वान्, संगीतज्ञ एवं संगीत–प्रयोगी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ 'भारतीय संगीत वाद्य' उनकी मर्मज्ञता, अन्वेषण कुशलता एवं संगीत की विश्लेषणात्मक गहराई का द्योतक है । पुस्तक की सामग्री के वर्गीकरण से ही पता लगता है कि वे इस विषय की गहराई तक पहुंच कर उसके वैज्ञानिक विवेचन में पूर्णरूप से सफल हुए हैं ।

आज के प्रचलित संगीत वाद्यों पर ही यदि वे अपना अध्ययन आधारित रखते तो निश्चय ही यह कार्य अधूरा रह जाता । आज जो वाद्य प्रचलन में हैं उनका विदेशी प्रभाव से इतना रूपान्तरण हो चुका है कि अब तो यह भी शंका होने लगी है कि वे भारतीय वाद्य हैं या नहीं । यदि डॉ० मिश्र इस पुस्तक के माध्यम से हमें कुड़ुआ, घड़स, तम्बकी, पटह, महुवरि, रणसिंग चक्री, अनालम्बी वीणा, कच्छमी वीणा, विपंचीवीणा, पार्जना, पाविका आदि सैंकड़ों तत अवनद्ध, एवं सुषिर वाद्यों की ओर संकेत नहीं करते तो कदाचित् हमें भारतीय संगीत वाद्यों की पूरी गहराई में उतरने का मौका नहीं मिलता । उन्होंने वाद्यों के स्वरूप, उनके इतिहास एवं उनके प्रयोगादि पर जो प्रकाश डाला है वह शायद पूर्व के विद्वान् नहीं डाल सके हैं । वाद्यों के क्रमिक विकास के संबंध में उन्होंने जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं वे अभूतपूर्व हैं । यदि इस विकासक्रम को पूरी तरह समझ लिया जाय तो आधुनिक वाद्यों का पुरातन रूप भली प्रकार समझ में आ सकता है ।

इस ग्रंथ में अप्रचलित वाद्यों की भी जानकारी दी गई है । उस जानकारी से उन वाद्यों के सम्पूर्ण स्वरूप का तो पता नहीं लगता, परन्तु उनसे भ्रान्त धारणाओं का निराकरण अवश्य होता है । सहस्रों वर्ष पूर्व वाद्यों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले आधुनिक उपकरण उपलब्ध नहीं होते थे । आज हम जिन वाद्यों की रचना में लकड़ी आदि का उपयोग करते हैं, वह पुरातन युग में कदाचित् संभव न रहा हो । इसीलिए अनेक वाद्य, मिट्टी आदि से

निर्मित होते थे। वे ही वाद्य अपने रूपान्तरित स्वरूप में लकड़ी, लोहे, पीतल, चाँदी आदि से निर्मित होने लगे। विद्वान् लेखक ने इस दिशा में जो प्रकाश डाला है, वह मौलिक ही नहीं विद्वतापूर्ण भी है। अनेक वाद्य ऐसे हैं जो तंत्री वाद्य भी हैं और चर्मवाद्य भी। उनमें तार भी प्रयुक्त होते हैं और चमड़ा भी। उनका प्रभाव तंत्री वाद्य का भी है और ताल वाद्य का भी। कमायचा, रावणहत्था, अपंग आदि ऐसे ही वाद्य हैं, जिनमें संगीत का भी आभास मिलता है और लय का भी। विद्वान् लेखक ने लय एवं ध्वनि उत्पादन की प्रधानता की दृष्टि से ही उनका वर्गीकरण किया है। उन्होंने पटहिका और तन्तिपटहिका जैसे पुरातन वाद्यों को, जिनका उल्लेख केवल शास्त्रों में मिलता है, ताल वाद्य ही में सम्मिलित किया है, जबकि उनमें चमड़े एवं तांतों के तारों का भी प्रयोग होता था, इसलिये ढोल, ढोलकी जैसे ये लय प्रधान वाद्य अपनी प्रकृति की समुचित रक्षा कर सके हैं। चमड़े के तार लगे रहने के कारण ही उन्हें तन्तिपटहिका कहा जाता था। विद्वान् लेखक ने शास्त्र एवं शिल्प–स्थापत्य–कला के आधार से अनेक ऐसे वाद्यों का भी विवेचन किया है, जिनकी भारतीय संगीतज्ञ कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

हिन्दुस्तानी वाद्यों की वादन-सामग्री के सम्बन्ध में भी विद्वान् लेखक ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इन वाद्यों के चार प्रचलित वर्ग के अलावा भी लेखक ने उन्हें उनके प्रयोग के हिसाब से तीन ऐसे वर्गों में भी वर्गीकृत किया है जो तत्काल ही हृदयंगम हो जाते हैं। कुछ वाद्य ऐसे है, जिनमें प्राचीन गान शैलियों का वादन होता है जैसे रुद्र–वीणा, तंजोरी वीणा आदि। दूसरा प्रकार उन वाद्यों का है जो गान की संगीत हेतु प्रयुक्त होते हैं जैसे सारंगी, तम्बूरा, वंशी, इसराज आदि और तीसरा प्रकार सितार, संतूर, सरोद जल-तरंग जैसे वाद्यों का है जो केवल गाने-बजाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। इस वर्गीकरण की दृष्टि से न केवल साज का ही महत्त्व बढ़ जाता है, बल्कि उन पर बजाई जाने वाली गतों आदि का भी महत्त्व द्विगुणित हो जाता है। लेखक ने इन विशेष प्रकार के वाद्यों को वादन-विधि एवं उन पर बजाई जाने वाली गतों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा उनके विविध प्रकारों की खूब विवेचना की है।

विद्वान् लेखक ने लोकसंगीत के वाद्यों को नजर अन्दाज नहीं किया है, जबकि प्रचलित संगीत समीक्षा-ग्रन्थों में यह कमी बहुधा खटकती है। डॉ॰ मिश्र ने भारत में प्रचलित नये पुराने अनेक लोकवाद्यों का विवरण प्रस्तुत किया है; परन्तु लगता है वह केवल विवरण मात्र है। लोकसंगीत को यदि हम शास्त्रीय संगीत की जननि मानते हैं तो लोकवाद्यों का भी शास्त्रीय संगीत के वाद्यों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। शास्त्रीय संगीत के वाद्यों के विकासक्रम में लोकसंगीत के वाद्य एक बहुत बड़ी कड़ी के रूप में विद्यमान हैं, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है। लेखक ने जहां स्थापत्य, शिल्प एवं शास्त्रों में वर्णित वाद्यों का विवेचन किया है और उनका सादृश्य नवीनतम वाद्यों में दर्शाया है, उसी तरह का अध्ययन लोक वाद्यों की दृष्टि से भी उनसे अपेक्षित था। लोकसंगीत एक ऐसा खज़ाना है

जिसके गर्भ में अनेक मूल्यवान रत्न छिपे हैं। शास्त्रीय संगीत की राग-रागिनियों के मूल-रूप उनमें विद्यमान हैं। अनेक विद्वानों ने उनका पर्याप्त विश्लेषण किया है और अनेक नवीन रागिनियों के संदर्भ उनमें प्राप्त किये हैं। लोकसंगीत वाद्यों में भी अनेक शास्त्रीय वाद्यों का मूल परिलक्षित हो सकता है। विद्वान् लेखक ने लोकसंगीत को जो आदिम संगीत के साथ जोड़ा है उसमें तनिक और गहराई में जाने की आवश्यकता हैं। आदि संगीत और लोकसंगीत दो भिन्न-भिन्न विधाएँ हैं, जो कहीं भी जाकर एक दूसरे से नहीं मिलती। शास्त्रीय संगीत का जिस तरह अपना वैज्ञानिक विकासक्रम है उसी तरह लोक-संगीत का भी अपना स्वतन्त्र विकासक्रम है। लोकसंगीत, शास्त्रीय–संगीत का अविकसित रूप है या शास्त्रीय संगीत, लोकसंगीत का विकसित रूप, यह सिद्धान्त (Theory) अब कोई मानने को तैयार नहीं है। उसी तरह यह भी नहीं माना जा सकता कि आदिम संगीत का विकसित रूप लोकसंगीत है।

कितना अच्छा होता यदि विद्वान् लेखक लोकवाद्यों का विवेचन करने से पूर्व लोक संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष को भी स्पर्श करता या फिर लोकवाद्यों का पुस्तक में विवेचन ही नहीं करते। यह भी विचारणीय प्रश्न है कि क्या जिन अप्रचलित वाद्यों का शास्त्रों में वर्णन है या जिनके स्वरूप का निर्धारण कठिनाई से हो पा रहा है उनकी खोई हुई कड़ियाँ इन लोकवाद्यों से उपलब्ध हो सकती है? लोकवाद्यों की रचना-विधि और वादन-विधि से यह भी संभव है कि उन पुरातन वाद्यों का स्वरूप स्पष्ट हो सके। क्या यह भी विचारणीय नहीं है कि संगीत के संबंध में लोक और शास्त्रीय नामों से किया हुआ वर्गीकरण अति प्राचीन नहीं है? जिन अप्रचलित वाद्यों का उल्लेख शास्त्रों में हुआ है क्या वे लोकवाद्य नहीं है? यह अध्ययन डॉ० मिश्र जैसे विद्वानों के सामर्थ्य से बाहर नहीं होना चाहिए था।

प्रस्तुत पुस्तक हर माने में एक ऐसा अद्वितीय ग्रंथ बना है, जिसकी तुलना वर्तमान में प्रकाशित कोई भी संगीत ग्रंथ नहीं कर सकता। पुस्तक का आकार-प्रकार अवश्य ही थोड़ा असुविधाजनक है, परन्तु उसकी छपाई, सफाई एवं उसके चित्रों का आकलन बड़े सुन्दर एवं कलात्मक ढंग से हुआ है। पुस्तक के लेखक एवं प्रकाशक दोनों ही हमारी बधाई के पात्र हैं।

देवीलाल सामर
संस्थापक संचालक,
भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर

डॉ० कन्हैयालाल सहल : व्यक्तित्व और कृतित्व

सम्पादक-होतीलाल भारद्वाज, मनीषा प्रकाशन, नीम का थाना, राजस्थान, सन् १९७२, मूल्य ४०।–पृ० ५६०

इस ग्रन्थ में राजस्थान के वरिष्ठ साहित्यकार डॉ० सहल के व्यक्तित्व और कृतित्व

को प्रकाशित करने वाले लगभग ६८ लेखों तथा कुछ पत्रों का संग्रह किया गया है। समस्त सामग्री वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत हुई है, फलत: डॉ० सहल के जीवन एवं साहित्य के लगभग सभी पक्ष सामने आ गए हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ राजस्थान के एक सुधी साहित्यकार की साहित्य-यात्रा को समझने में पर्याप्त सहायता करता है।

डॉ० सहल का जीवन जितना सरल, सहज एवं सात्विक है, उतना ही सुन्दर चित्र इस ग्रन्थ से उभरता है। उन्होंने काव्य समीक्षा, भाषा शास्त्र एवं ललित निबन्ध के क्षेत्रों में जो रचनात्मक कार्य किया, वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ उन क्षेत्रों की सभी दिशाएं तो प्रकाशित नहीं कर पाया किन्तु जो कुछ कर सका है, वह भी कम नहीं है, क्योंकि आज-कल प्रचार की दुनिया से दूर रहने वाले साहित्यकारों के जीवन और कृतित्त्व को इतना प्रकाशित किया जा सके, यही क्या कम है ?

डॉ० सहल ने समीक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक कार्य किया है। उनके अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य और अन्य विधाओं के सम्बन्ध में स्थायी सामग्री प्रकाश में आ सकी है, उसे समझने के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता अभी भी है। यह ग्रन्थ डॉ० सहल की समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं पर फुटकर रूप में ही प्रकाश डाल पाया है। वस्तुत: एक संग्रह में इससे अधिक और किया भी क्या जा सकता था ?

मुझे विश्वास है कि भविष्य में कोई लेखक डॉ० सहल की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक देन का एक पूर्ण ग्रन्थ के रूप में भी विस्तृत आकलन करेगा, तब तक इस ग्रन्थ का जो स्थान रहेगा वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं। ऐसे सुन्दर प्रयास के लिए होतीलाल भारद्वाज बधाई के पात्र हैं।

डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' डी-लिट.
आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

स्वतंत्रता सेनानी डूंगजी जवाहरजी

सम्पादक— सौभाग्यसिंह शेखावत, प्रकाशक-राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर, मूल्य-तीन रुपया, पृ० ५१

सन् १८५७ की क्रान्ति से पूर्व भी राजस्थान के शेखावाटी प्रदेश में बठोठ पाटोदा के ठाकुर डूंगरसिंह एवं ठाकुर जवाहरसिंह शेखावत ने सन्-१८३४-४७ के मध्य तत्कालीन

ब्रिटिश हकूमत के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष कर आजादी की अलख जगाई थी। यद्यपि ब्रिटिश सत्ता ने इन दोनों चचेरे भाइयों को डकैत, धाड़वी और लुटेरे घोषित कर सैन्य व सत्ता के बल पर उनके ऐतिहासिक संघर्ष को उस समय दबा दिया था किन्तु मातृभूमि की आजादी के लिये संकट झेलने वाले सपूतों की याद कभी दबती नहीं, अपितु जन-मानस उनकी वंदना कर किस्सों एवं गीतों के माध्यम से अमर कर देता है।

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थानी साहित्य व इतिहास के प्रसिद्ध अध्येता व शोधकर्मी विद्वान् श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ने उपर्युक्त दोनों स्वतंत्रता सेनानियों के व्यक्तित्व व कृतित्व से सम्बन्धित तत्कालीन कवियों द्वारा सर्जित विभिन्न गीतों दोहों, सोरठों, छप्पयों, रूपक, छावली आदि को संकलित एवं संपादित कर प्रस्तुत किया है।

इस संकलन की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें समस्त काव्य-रूपों के मूल-पाठ के साथ-साथ उनमें प्रयुक्त कठिन शब्दों के प्रामाणिक अर्थ भी प्रत्येक पृष्ठ पर दिये गये हैं। प्रारंभ में विवेचनात्मक व ऐतिहासिक भूमिका ने कृति के महत्त्व को ओर उजागर किया है। पुस्तक के अन्त में दोनों स्वतंत्रता सेनानियों से सम्बन्धित दो रुक्कों-परवानों के मूलपाठ भी दिये गये हैं। आरंभ में दोनों सेनानियों व उनके प्रमुख सहयोगियों का एक चित्र भी है। इस प्रकार आजादी के इन योद्धाओं का प्रामाणिक व्यक्तित्व—कृतित्व एवं उनसे सम्बन्धित साहित्य इस कृति में समाहित हो गया है।

डूंगजी व जवाहरजी दोनों सामन्ती वातावरण में पले हुए थे, फिर भी उन्होंने उस मोह को त्याग कर तत्कालीन विदेशी शासन से जिस प्रकार लोहा लिया, वह अविस्मरणीय है। इस श्रेणी के राजस्थान में अन्य योद्धा भी हुए हैं, अगर उनसे सम्बन्धित साहित्य भी इसी प्रकार संकलित व संपादित कर प्रकाशित किया जा सकें तो स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास की लुप्त कड़ियों को जोड़ा जा सकता है।

राजस्थान साहित्य अकादमी के सहयोग से स्वाधीनता की रजत जयंती के अवसर पर प्रकाशित इस पुस्तक का मुद्रण व आवरण सज्जा श्रेष्ठ है। पुस्तक संग्रहणीय एवं उपयोगी है।

राजस्थानी लोकगीत विहार, प्रथम भाग

संपादिका—डॉ० लक्ष्मी कमल, प्रकाशक—श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा-३, सन् १९७३ मूल्य—१६ रुपये, पृ० २६४

राजस्थान में लोकगीतों की परम्परा राजस्थानी संस्कृति की तरह ही प्राचीन है।

लोकमुखाश्रित एवं विषय–वैविध्य से परिपूर्ण इन लोकगीतों ने यहां की जातीय संस्कृति को जीवंत रखने में उल्लेखनीय योगदान दिया है। जब इन्हें अत्यन्त तन्मयता और सरसता के साथ गाया जाता है तो इस प्रदेश के अद्भुत शौर्य, देशभक्ति, वचन–पालन, अध्यात्मिक तादात्म्य, पर्व-उत्सव, हास्य–व्यंग, प्रेम एवं रोमांस की स्पन्दनपूर्ण थाती के अनायास ही दर्शन सुलभ हो जाते हैं।

ऐसे लोकगीतों का संकलन व सम्पादन कर डॉ० लक्ष्मी कमल ने 'राजस्थानी लोक गीत विहार', प्रथम भाग के रूप में उन्हें प्रकाशित करा कर श्रमसाध्य कार्य सम्पन्न किया है। राजस्थानी लोकगीतों के यद्यपि छोटे–बड़े अनेक संकलन समय–समय पर प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु उन सब में या तो प्रामाणिक पाठ का अभाव है अथवा उन्हें अवर्गीकृत रूप में ही प्रस्तुत कर दिया गया है। प्रस्तुत कृति में इस अभाव को दूर कर संपादिका ने राजस्थानी लोक साहित्य की महत्ती सेवा की है। यह संकलन इसलिये भी महत्त्वपूर्ण तथा संग्रहणीय है कि इसे प्रस्तुत करने में राजस्थान प्रदेश के ख्यातिलब्ध विद्वानों द्वारा व्यक्तिगत रूप से संग्रहीत एवं विभिन्न शोधपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित लोकगीतों को भी स्थान दिया गया है। परिणामस्वरूप विषय तथा रूप की दृष्टि से यह पुस्तक अद्वितीय बन पड़ी है।

पुस्तक पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध दो खण्डों में विभाजित है। पूर्वार्द्ध में हरजस और देई–देवतां रा गीत, तिंवारां रा गीत, उत्सवां रा गीत, परवार रा गीत, ग्राम जीवण रा गीत आदि शीर्षकों तथा इनके उप शीर्षकों के अन्तर्गत कुल ६९ लोकगीत प्रस्तुत किये गये हैं। उत्तरार्द्ध खण्ड में प्रेम रा गीत, विनोद और व्यंग रा गीत, देश प्रेम और वीरता रा गीत, कथा गीत, सिद्ध पुरसां रा गीत, और परचूण गीत विषयों से सम्बन्धित कुल ४२ गीत संकलित किये गये हैं। इस प्रकार समस्त १११ गीतों में विविध विषयों से सम्बन्धित प्रतिनिधि गीत समाहित हो गये हैं। राजस्थान में लोकगीत हजारों की संख्या में लोकमुखाश्रित हैं जिन्हें संग्रहीत कर प्रकाशित करना नितान्त आवश्यक है। विद्वान् संपादिका ने भूमिका में यह संकेत दिया है कि राजस्थानी लोकगीतों के प्रकाशन की बृहद् योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत पुस्तक तो एक अंश है, आशा है, इस योजना के सन्दर्भ में शेषांश गीत भी शीघ्र अन्य भागों में प्रकाशित कराये जायेंगे।

इस संकलन में लोकगीतों के मूलपाठ के साथ–साथ अगर उनमें प्रयुक्त कठिन शब्दों के अर्थ भी उनके साथ जोड़ दिये जाते, प्रासंगिक लोकगीतों को कब व कैसे गाया जाता है, उस सन्दर्भ को भी दे दिया जाता और प्रारम्भ में साहित्यिक व सांस्कृतिक सामग्री से युक्त उनका विवेचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया जाता तो इस संकलन की महत्ता और अधिक बढ़ सकती थी।

गीतों का प्रस्तुतीकरण और उनका मुद्रण आकर्षक है। आवरण सज्जा उत्तम है। लोक साहित्य के विद्वानों एवं पुस्तकालयों के लिये यह पुस्तक उपयोगी व संग्रहणीय है।

देव कोठारी
उपनिदेशक,
साहित्य संस्थान, रा. वि. उदयपुर

पद रचना

लेखक- किशोरीलाल शर्मा, प्रकाशक- श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी आगरा-३, सन् १९७२, मूल्य २ रुपया, पृ. ४३

प्रस्तुत पुस्तक अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी शिक्षकों के प्रशिक्षण के समय अनुभूत कठिनाइयों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। हिन्दी के संदर्भ में पद रचना के विभिन्न पहलुओं से संबंधित विश्व की अन्य भाषाओं से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए, किया गया लेखक का यह प्रयास स्तुत्य है। हिन्दी में भाषा वैज्ञानिक प्रणाली से भाषा रचना के प्रायोगिक तथ्यों का सम्यक् बोध करा सकने वाली इस प्रकार की रचनाओं का प्रायः अभाव है। लेखक स्वयं शिक्षक है और साथ ही भाषा-वैज्ञानिक भी। यह रचना उनके कक्षा-शिक्षण के प्रत्यक्ष अनुभवों पर आधारित है- अतः प्रशिक्षणार्थियों के लिये इसकी उपादेयता तो इसी से स्वयं सिद्ध है। लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर प्रशिक्षणार्थियों की कठिनाइयों का दर्शन कर उन्हें सुलझाने हेतु प्रयास किया है—अतः कक्षा शिक्षण की दृष्टि से यह पुस्तक बड़ी उपादेय सिद्ध होगी। श्री शर्मा का यह प्रयास अत्यन्त ही श्लाघनीय है। वे इस लघु पर उत्तम कृति के लिए बधाई के पात्र हैं।

रोहिडै रा फूल

लेखक-डॉ० मनोहर शर्मा, प्रकाशक-राजस्थानी भाषा साहित्य संगम, बीकानेर सन्-१९७३, मूल्य-५.७५, पृ० ९८।

'रोहिडै रा फूल' पुस्तक राजस्थानी भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० मनोहर शर्मा द्वारा भारत की समस्याओं पर गहन चिन्तन और मनन के उपरान्त समय-समय पर लिखे गये व्यंग्यात्मक लेखों का संकलन है। डॉ० शर्मा की लेखनी से प्रक्षिप्त ये अचूक और मर्मिक बाण संवेदनशील सहृदय पाठक के हृदय में गम्भीर घाव करने में पूर्णरूप से समर्थ

हैं। विद्वान् लेखक ने बड़े ही रोचक ढंग से देश की प्रमुख समस्याओं पर विचार कर यत्र तत्र उनका समाधान भी सुझाया है । मुहावरे और लोकोक्तियों तथा दृष्टान्तों के प्रयोग ने भाषा को सजीव बनाया ही है, पर अपनी अनुभूतियों को भी अधिक सशक्त रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में लेखक को सफलता दिलाई है । लेख अत्यन्त रोचक हैं और राजस्थानी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करने वाले हैं ।

राजस्थानी भाषा को आंचलिक बोलियों के संकुचित क्षेत्र से मुक्ति दिलवाकर इसे सम्पूर्ण राजस्थान और राजस्थानी भाषी अन्य बस्तियों में जनप्रिय बनाने में प्रस्तुत रचना एक स्तुत्य प्रयास है ।

संगम ने अपने प्रकाशनों में इस पुस्तक को स्थान देकर अवश्य ही स्तुत्य कार्य किया है । संगम यदि मुद्रण और प्रूफ रीडिंग आदि की दृष्टि से उचित व्यवस्था कर सके तो लेखकों और पाठकों के साथ वह पूर्ण न्याय कर सकेगा ।

जागती जोत (त्रैमासिक पत्रिका, भाग १, अंक १)

प्रकाशक–राजस्थानी भाषा साहित्य संगम, बीकानेर, सम्पादक प्रो० नरोत्तमदास स्वामी, डॉ० मनोहर शर्मा, डॉ० सत्यनारायण स्वामी, सन्, १९७२, वार्षिक मूल्य १२ रु०

राजस्थानी भाषा की पत्रिका 'जागती–जोत' राजस्थानी के ख्याति प्राप्त विद्वान् सम्पादकों की ओर से राजस्थानी भाषा–भाषियों के लिए एक अपूर्व व अमूल्य देन है । राजस्थानी के प्रति उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा की प्रतीक है । राजस्थान की आंचलिक बोलियों के व्यामोह से परे हट कर संपादक महानुभावो के द्वारा राजस्थानी की एकरूपता के लिये किया गया यह प्रयोग हमारे लिये गौरव की बात है । पत्रिका में प्रकाशित सामग्री भी विविध विषयों और विविध विधाओं से युक्त है और साथ ही राजस्थान के जाने माने विद्वानों द्वारा लिखी गई और उच्चस्तरीय भी । इसी कारण भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियों से पत्रिका अत्यधिक सम्पन्न और रोचक है, अतः उपादेय है । राजस्थानी भाषा के विकास और उसे एकरूपता देने में निस्संदेह इस पत्रिका का बड़ा योग रहेगा, यदि निरन्तर और नियमित रूप से इसका प्रकाशन होता रहा ।

पत्रिका की छपाई और साज-सज्जा भी बड़ी सौम्य और आकर्षक है । प्रकाशक, सम्पादक त्रय, लेखकगण और मुद्रक सभी इस अमूल्य देन के लिए बधाई और धन्यवाद के पात्र हैं ।

डॉ० ब्रजमोहन जावलिया
प्रभारी, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, शा० का० उदयपुर

आखरमाल

लेखक-माणक तिवारी'बन्धु',पोथी परकास,बीकानेर,सन् १९७२,मूल्य सजिल्द-पांच रु०, अजिल्द चार–रुपया, पृ० १००

श्री माणिक तिवारी 'बंधु' के प्रथम राजस्थानी काव्य संग्रह आखरमाल को पढ़ कर एक बात लगी कि अतीत से चिपटे हुए सारे-प्रसंग रचना-संसार में अब कहीं भी जुड़ पाने की स्थिति में नहीं है। श्री 'बंधु' की, संग्रह की प्रथम १४ कवितायें इसी प्रसंग के विस्थापन का संकेत हैं।

श्री 'बंधु' ने इस काव्य संग्रह के माध्यम से अपनी अच्छी–भूंडी सभी रचनायें जोड़-तोड़ कर रख दी है। दुःख है कि कवि राजस्थानी भाषा में अच्छी गति रखते हुए भी राजस्थानी की सांस्कृतिक श्रीसम्पदा सम्भूत भाषा का प्रयोग अपनी कविताओं में करने में चूक गया है।

'मुदड़ा उपाड़', 'लाल कोथळी' 'बाथेड़ो' आदि कवितायें अच्छापन लिए हुए है, एक अन्तरलय है इनमें। 'लेखणी' रचना को कवि अच्छी बना सकता था।

'म्हारो भारत' संग्रह की अंतिम पर सबसे लम्बी कविता है, यद्यपि इस पर परिवार नियोजनी प्रभाव है, पर पूरे संग्रह में कवि खुला ही इसी रचना में है। जीवन के सामीप्य की बात नजदीक सुनाई देती है, ठीक और सटीक। इस रचना के प्रवाह और खुलेपन ने पाठकों को आश्वस्त कर दिया है कि श्री 'बंधु' का आधुनिक मन और उसमें बैठा उसका निडर व्यंग्यकार राजस्थानी रचना क्षेत्र में अपनी पहल और पैठ अवश्य कायम करेगा।

पुस्तक, कवि ने स्वयं प्रकाशित करवाई है। दान, दया, दक्षिणा के प्रभावों से इसीलिए यह मुक्त है और यही मुक्ति रचनाकार की रचनात्मकता को बल देती है।

ओंकार पारीक
सहायक सचिव,
राजस्थान साहित्य अकादमी
उदयपुर (राजस्थान)

कथालोक (संस्मरण विशेषांक)

सम्पादक–श्री हर्षचन्द्र, ३५७५, सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-६, अगस्त ७३, पृ. ११४, मूल्य–एक रुपया

मानवतावादी कथात्मक साहित्य का संग्रह, सम्पादन और प्रकाशन 'कथालोक' (अगस्त, १९७३) का यह संस्मरण विशेषांक अनेक संदर्भों में महत्त्वपूर्ण और दिशा-निर्धारक है। भारतीय धर्म और दर्शन की मूल दृष्टि और ध्वनि मानवतावादी है। इसी दृष्टि और ध्वनि का विस्तार कालान्तर में हम विश्वभर के धर्मों, मतों अथवा पंथों में पाते हैं। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, मानवीय सन्दर्भों में वह ऊपरी चीज है और जो प्राथमिक न होकर गौण स्वीकार किया जाना चाहिए। किन्तु धर्म की जो मूल आत्मा है, जिसे हम आस्था कह सकते हैं और भारतीय साहित्य के मध्यकाल में जिसे 'भक्ति' कह कर समझा-परखा गया है, वही आस्था मानवीय सन्दर्भों में धर्म के औचित्य का रूप सँवारती, निखारती और उसे मानवतावादी जीवन-दृष्टि के अनुरूप आचरण करने को प्रेरित करती है।

'कथालोक' का प्रस्तुत संस्मरण विशेषांक भारतीय महापुरुषों, चिन्तकों, राजनीतिज्ञों एवं धर्माचार्यों के साथ सानिध्य के क्षणों को विभिन्न दृष्टिकोणों से उजागर करने वाला एवं प्रेरणा प्रदान करने वाला है। साथ ही, एक ओर जहां यह विभिन्न महापुरुषों के सन्दर्भ में अतीत और विकास की चर्चा करने वाला है वहीं दूसरी ओर यह अतीत और वर्तमान की उपलब्धियों एवं विषमताओं के बीच मानवीय तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण के तहत विवेकशील समायोजनार्थ दिशा–निर्धारक है। प्रतिष्ठित रचनाकारों एवं समीक्षकों का यह सृजन पठनीय एवं संग्रहणीय है।

मनोहर कान्त शर्मा
साहित्य संस्थान,
रा० वि० उदयपुर

शोध पत्रिका लेख-सूची

वर्ष २४ (जनवरी से दिसम्बर, १९७३)

अंक १ (जनवरी से मार्च, १९७३)

	लेख	लेखक	पृष्ठ
१	अनुसंधान का क्षेत्र (सम्पादकीय)	डॉ० शान्ति भारद्वाज 'राकेश'	३-४
२	भारतीय मंदिरों का स्रोत एवं उनका विकास क्रम	डॉ० रामन नायर	५-१५
३	काव्यशास्त्र की परम्परा और सूरति मिश्र का चिन्तन क्षेत्र	डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	१६-२३
४	प्राचीन भारत में पुरोहित	डॉ० भगवतीलाल राजपुरोहित	२४-३१
५	मेवाती बोली का प्रामाणिक व्याकरण	डॉ० महावीर प्रसाद शर्मा	३२-४८
६	हुरड़ा में पूर्व राजपूत राजनीति एवं सम्मेलन	श्री जमनेशकुमार ओझा	४९-५५
७	रसिक सम्प्रदाय के प्रमुख कवि और उनकी अज्ञात रचनाएं	डॉ० गजानन मिश्र	५६-६७
	शोध सामग्री : सर्वेक्षण		
८	देवर्षि कृष्ण भट्ट रचित 'शृंगार रस माधुरी' (क्रमशः)	डॉ० कृष्ण कुमार शर्मा	६८-८२
९	जान कवि कृत मोहन मोहिनी री वार्ता—एक खोज	श्री कुन्दनलाल जैन	८३-९२
	अन्य		
१०	डिंगल गीतों की अनुक्रमणिका	क्रमशः	२२१-२३२

अंक २ (अप्रेल से जून, ७३)

	लेख	लेखक	पृष्ठ
१	हस्तलिखित ग्रन्थों की सुरक्षा (सम्पादकीय)	श्री देव कोठारी	३-४

२ आबू पर्वत पर अल्लाउद्दीन खिलजी का आक्रमण — श्री रामवल्लभ सोमानी — ५–८

३ जयपुर राज्य के मध्यकालीन कर — कु० सुभद्रा दरयानी — ९–१६

४ सिद्धकवि लालनाथ कृत 'हररस' ग्रन्थ — श्री सूर्यशंकर पारीक — १७–२२

५ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ओसियां का जैन मन्दिर — श्रीमती नीलिमा वशिष्ठ — २३–३४

शोध सामग्री : सर्वेक्षण

६ देवर्षि कृष्ण भट्ट रचित 'शृंगार रस माधुरी' (क्रमशः) — डॉ० कृष्णकुमार शर्मा — ३५–४६

७ मेवाड़ महाराणाओं सम्बन्धी नवीन ज्ञातव्य-मेघविजय प्रणीत–श्रीराणभूमीशवंश प्रकाश — श्री अगरचन्द नाहटा — ४७–५७

८ कुंभनदास के कुछ अप्रकाशित पद — डॉ० ओमप्रकाश सक्सेना — ५८–६०

विमर्श

९ क्या आर्य बाहर से नहीं आये ? — श्री उपेन्द्रनाथ राय — ६१–७४

अन्य

१० डिंगल गीतों की अनुक्रमणिका — क्रमशः — २३३–२४४

अंक ३–४ (जुलाई–सितम्बर एवं अक्टूबर–दिसम्बर ७३)

१ राजस्थान सम्बन्धी अनुसंधान कार्य — (सम्पादक) — ३–४

२ बनेड़ा सामन्तो के विशेषाधिकार — श्री प्रकाशचन्द्र व्यास — ५–११

३ पौराणिक आख्यानों में कालञ्जर — प्रो० सुशीलकुमार सुल्लेरे — १२–१८

४ कविराय प्राणनाथ कृत–'विसन विलास काव्य' — श्री गोपाल नारायण बहुरा — १९–३१

५ बख्तसिंह और रामसिंह के मेड़ता युद्ध पर सिलोका — डॉ० नारायणसिंह भाटी — ३२–३५

६ जोधपुर के महाराजा बख्तसिंह की प्रेयसी गायण जन महताब कृत मंदिर की प्रशस्तियां — डॉ० ब्रजमोहन जावलिया — ३६–३७

७ मण्डोर के देवल और छतरियां — श्री रामदास शर्मा — ३८–४३

शोध सामग्री : सर्वेक्षण

८	कृष्ण भट्ट देवर्षि कृत 'शृंगार रस माधुरी' (क्रमशः)	डॉ० कृष्णकुमार शर्मा	४४-५८
९	जोगीदास रचित-'हरिपिंगल प्रबन्ध'	डॉ० भगवतीलाल शर्मा	५९-६९
१०	संत-कवि सिद्ध लालनाथजी कृत 'निकळंग पुराण'	श्री सूर्यशंकर पारीक	७०-८५
११	कछवाहा तोपखाना (जयपुर) एक संक्षिप्त अध्ययन	श्री रवीन्द्रकुमार शर्मा	८६-९०
१२	मेवाड़-राजपरिवार के विभिन्न धार्मिक संस्कार	श्री शिवचरण मेनारिया	९१-९४
१३	अपभ्रंश का वर्णनात्मक व्याकरण-संज्ञा शब्दों की रचना-प्रक्रिया	डॉ० कृष्णकुमार शर्मा	९५-१०४

विमर्श

१४	शेरशाह और चित्तौड़	श्री रामवल्लभ सोमानी	१०५-१०७
१५	काश्मीर में शैव-दर्शन का प्रादुर्भाव	श्री सूर्य प्रकाश व्यास	१०८-१११

समीक्षा

१	भारतीय संगीत वाद्य	श्री देवीलाल सामर	११२-११४
२	डॉ० कन्हैयालाल सहल-व्यक्तित्व और कृतित्व	डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	११४-११५
३	स्वतंत्रता सेनानी डूंगजी जवाहरजी	श्री देव कोठारी	११५-११६
४	राजस्थानी लोकगीत विहार, प्रथम भाग	" "	११६-११८
५	पद रचना	डॉ० ब्रजमोहन जावलिया	११८
६	रोहिडै रा फूल	" "	११८-११९
७	जागती जोत (पत्रिका)	" "	११९
८	आखरमाळ	श्री ओंकार पारीक	१२०
९	कथा लोक (संस्मरण अंक)	श्री मनोहरकान्त शर्मा	१२१
	शोध पत्रिका लेख-सूची,	वर्ष २४ (१९७३)	१२२-२४

संस्थान का नवीनतम प्रकाशन

महाकवि रणछोड़ भट्ट प्रणीतम्

राजप्रशस्तिः महाकाव्यम्

सम्पादक—डॉ० मोतीलाल मेनारिया

यह विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महाकवि रणछोड़ भट्ट द्वारा संस्कृत भाषा में लिखा गया २५ सर्गों का ऐतिहासिक महाकाव्य है, जो प्रसिद्ध झील राजसमन्द के नोचौकी घाट पर २४ प्रस्तर शिलाओं पर उत्कीर्ण है। इस प्रकार यह भारत भर में सबसे बड़ा शिलालेख तथा शिलाओं पर खुदा हुआ सबसे बड़ा ऐतिहासिक महाकाव्य है।

इस महाकाव्य का मुख्य विषय मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (वि० सं० १७०९–१७३७) का जीवन–चरित्र है। प्रथम पांच सर्गों में मेवाड़ का प्राचीन इतिहास भी दिया गया है। महाराणा राजसिंह के शासन प्रबन्ध एवं समकालीन ऐतिहासिक व सांस्कृतिक स्थितियों के अध्ययन की दृष्टि से ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं संग्रहणीय है। संस्कृत भाषा व साहित्य की दृष्टि से भी ग्रन्थ का अपना विशिष्ट स्थान है।

ग्रन्थ के मूलपाठ के साथ-साथ हिन्दी में भावार्थ भी दिया गया है। प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका व अन्त में परिशिष्ट ग्रन्थ की अन्य विशेषताएं है।

वर्तमान स्वरूप में ग्रन्थ का यह प्रथम प्रकाशन है।

पृष्ठ ३४२ मूल्य ४०) रुपये

प्राप्ति स्थान:—

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

शोध पत्रिका
जुलाई–सितम्बर, ७३
एवं अक्टूबर–दिस. ७३
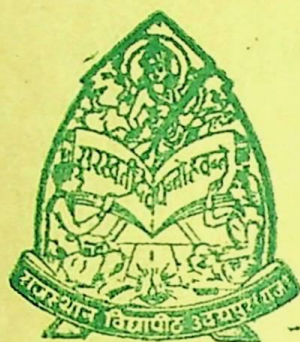
राजस्थान विद्यापीठ

साहित्य संस्थान

उदयपुर (राजस्थान)

उद्देश्य

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, भाषा, दर्शन, कला व संस्कृति के क्षेत्र में शोध सामग्री का संकलन, अनुसंधान, सम्पादन एवं प्रकाशन तथा मौलिक साहित्य का निर्माण

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के लिये उमाशंकर शुक्ल, अध्यक्ष, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा प्रकाशित एवं श्री नारायणलाल गुर्जरगौड़ द्वारा विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर में मुद्रित ।

अंक० ८—९ १९७२—७३

शोध-पत्रिका
(Studies)

ठा० देबसिंह बिष्ट राजकीय महाविद्यालय नैनीताल

The Research Journal of D. S. B. Govt. College, Nainital (India)

हिन्दी कोशों का दूषित शब्द-क्रम — राकेशगुप्त 1
कुमाउँनी में देशी-देशज शब्द-समूह — के० डी० रुवाली 6
साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न — ऋषिकुमार चतुर्वेदी 13
युगबोध — लक्ष्मणसिंह बिष्ट 22
संस्कृतरूपकाणां विकासेऽनार्यो प्रभावः — कृष्णकुमार 26

Historiography in Ancient India — *Gautam N. Dwividi* 31

The Sound of Sense and the Music of Poetry — *M. S. Karki* 39

Demographic Indicators and Fertility Patterns of U. P. Hills — *Girish Chandra Pande* 45

Judiciary is the Corner Stone of Indian Democracy—Its conditions and steps to streamline it — *Radha Mohan* 60

Land Utilization in the District of Pithoragarh — *Dhan Singh Jalal* 66

Distribution of vascular supply of the petiole into the fertile spike and the sterile leaf in Ophioglossum reticulatum — *B. B. L. Saksena and H. N. Singh* 71

Effect of Ultraviolet Radiations (Except 2537 A°) on the Electrical Properties of Oxalic Acid Under Different Conditions — *A. K. Sinha & B. D. Kandpal* 74

Survey of Fungal Diseases in the locality of Nainital — *R. D. Khulbe* 87

Studies on the Structure of the eyes of a Hill Stream Teleost, Schizothorax richardsonii (Gray & Hard) — *Jitendra Singh Bisht* 92

Preliminary Studies in Heat induced changes in aqueous solution of cysteine — *H. D. Pathak & K. N. Mathpal* 95

लेखकों का परिचय

१. डा० राकेश गुप्त
प्रधानाचार्य

२. श्री के० डी० रुवाली
प्रवक्ता हिन्दी विभाग

३. डा० ऋषिकुमार चतुर्वेदी
प्रवक्ता हिन्दी विभाग

४. डा० लक्ष्मणसिंह बिष्ट
प्रवक्ता हिन्दी विभाग

५. डा० कृष्णकुमार
विभागाध्यक्ष संस्कृत

६. डा० गौतम एन० द्विवेदी
भूतपूर्व प्रधानाचार्य

७. श्री मोहनसिंह कार्की
शोध छात्र अंग्रेजी विभाग

८. डा० गिरीशचन्द्र पाण्डे
प्रवक्ता अर्थशास्त्र विभाग

९. डा० राधामोहन
विभागाध्यक्ष राजनीतिविज्ञान

१०. डा० धनसिंह जलाल
प्रवक्ता भूगोल विभाग

११. डा० बी० बी० एल० सक्सेना
विभागाध्यक्ष वनस्पतिविज्ञान

१२. श्री एच० एन० सिंह
प्रवक्ता वनस्पतिविज्ञान विभाग

१३. डा० असित कुमार सिन्हा
विभागाध्यक्ष रसायनविज्ञान

१४. श्री भैरवदत्त काण्डपाल
प्रवक्ता रसायनविज्ञान

१५. श्री रघुवरदत्त खुल्वे
प्रवक्ता वनस्पति विज्ञान

१६. डा० जितेन्द्रसिंह बिष्ट
प्रवक्ता जीवविज्ञान

१७. डा० एच० डी० पाठक
वरिष्ठ प्रवक्ता रसायनविज्ञान

१८. श्री के० एन० सठपाल
प्रवक्ता रसायनविज्ञान

हिन्दी कोशों का दूषित शब्द-क्रम

डा० राकेशगुप्त

हिन्दी वर्णमाला और उसका क्रम

किसी भी कोश में शब्दों का चयन वर्णमाला के क्रम से किया जाता है। चाहे वह शब्दकोश हो, अथवा किसी ग्रंथ के अंत में दी हुई अनुक्रमणिका ही क्यों न हो, सर्वत्र शब्दों का विन्यास वर्णमाला के क्रम से ही करना अनिवार्य है। वर्णमाला के क्रम में कोई विकल्प नहीं है। किसी भी अन्य भाषा की वर्णमाला की भाँति हिन्दी में प्रयुक्त देवनागरी वर्णमाला का क्रम भी पूर्णतः सुनिश्चित है। संस्कृत कोशों में, जिनकी रचना हिन्दी कोशों से पहले ही आरंभ हो चुकी थी, देवनागरी वर्णमाला के क्रम का निर्वाह शुद्ध रूप में किया गया है। देवनागरी वर्णमाला का सर्वविदित क्रम इस प्रकार है :—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ
ए ऐ ओ औ अं अः
क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल व
श ष स ह

उपर्युक्त क्रम के संबंध में इतनी बात ध्यान देने की अवश्य है कि अनुस्वार (अं) और विसर्ग (अः) में, तथा सभी व्यंजनों में, उच्चारण की सुविधा के लिए ह्रस्व अ की ध्वनि भी समाविष्ट है। अनुस्वार और विसर्ग में 'अ' पहले है (अ+ं=अं; अ+ः=अः), तथा व्यंजनों में बाद में (क्+अ=क)।

संस्कृत के कोश हिन्दी कोशकारों के समक्ष कम से कम शब्द विन्यास की दृष्टि से आदर्श रूप में उपस्थित थे। बड़े आश्चर्य और खेद का विषय है कि उपयुक्त मार्ग-दर्शन सुलभ होते हुए भी हिन्दी कोशकारों ने अपने कोशों में एक ऐसा क्रम अपनाया, जिसका औचित्य किसी भी तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। दुःख की बात तो यह है कि जो दूषित क्रम एक बार प्रचलित हो गया, उसका एक के बाद दूसरे परवर्ती विद्वान बिना किसी विचार और झिझक के अनुकरण करते चले गए।

अनुस्वार और विसर्ग का स्थान

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, अनुस्वार और विसर्ग का स्थान तो व्यंजनों से तो पहले है, किन्तु अ से लेकर औ तक सभी स्वरों के बाद में है। संस्कृत के सभी कोशों में यह स्थिति बड़े स्पष्ट रूप से निर्दशित है। वाचस्पत्यम् से तथा मोनियर-विलियम्स और आप्टे के कोशों से निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

अ, अऋणिन्, अंश—वाचस्पत्यम्
अ, अऋणिन्, अंश्—मोनियर-विलियम्स
अ, अऋणिन्, अंशः—आप्टे

पर हिन्दी कोशों में अनुस्वार और विसर्ग को केवल व्यंजनों से ही नहीं, स्वरों से भी पहले रखा गया है। कुछ उदाहरण देखिये :—

अंश, अ, अऊत, अऋणी, अएरना

—हिन्दी शब्दसागर

अ, अंश, अऊत, अएरना

—मानक हिन्दी कोष

उपर्युक्त शब्दों का शुद्ध क्रम यह होना चाहिए :—अ, अऊत, अऋणी, अएरना, अंश। नालन्दा विशाल शब्दसागर के संपादकों ने प्रचलित अशुद्ध क्रम तथा वास्तविक शुद्ध क्रम दोनों को अपनाते हुए एक-एक शब्द को दो-दो बार देने में भी संकोच नहीं किया है। यथा—अ, अऋणी, अएरना, अंश, अऋणी, अएरना।

हिन्दी शब्दसागर तथा मानक हिन्दी कोष दोनों में निम्नाँकित शब्दों का एक-सा क्रम है :—

निः=न् इ :
निःशब्द=न् इ : श् अ ब् द् अ
नि=न् इ
निअर=न् इ अ र् अ
निआमत=न् इ आ म् अ त् अ

इन शब्दों का शुद्ध क्रम, जैसा वर्तनी देखने से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, इस प्रकार होना चाहिए : नि, निअर, निआमत, निः, निःशब्द।

एक सर्वमान्य सिद्धान्त

यदि एक शब्द में जितने वर्ण हैं, दूसरे में भी उतने ही तथा उसी क्रम में हों, और उसके आगे एक अथवा अधिक वर्ण और भी हों, तो कोश में दूसरे शब्द का स्थान बाद में ही होगा। उदाहरण के लिए 'जल' पहले होगा, और 'जलज' बाद में। पर हिन्दी के कोशकारों ने इस सर्वमान्य सिद्धान्त की भी अवहेलना की है। ऊपर के उदाहरण में 'निः' को पहले रखा है और 'नि' को बाद में। इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण भी देखिए।

अंतः, अंत। अंतर, अंतर्। अंतस, अंतस्

—बृहत् हिन्दी कोश

अंतरंग, अंतर, अंतरिक्ष, अंतर्

—हिन्दी शब्दसागर

वाचस्पत्यम् में इन शब्दों को अपने शुद्ध क्रम में रखा गया है। यथा—अंत, अंतः, अंतर्, अंतर, अंतरंग, अंतरिक्ष।

मानक हिन्दी कोष में प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत उस वर्ण को ही पहले शब्द के रूप में दिया गया है, जो ठीक है। उदाहरणार्थ 'अ' वर्ण के अन्तर्गत अ ही पहला शब्द है, और 'क' वर्ण के अन्तर्गत क ही। पर हिन्दी शब्दसागर तथा अन्य अनेक कोशों में स्थिति बड़ी हास्यास्पद है। शब्दसागर में 'अ' के अन्तर्गत अ का तथा 'क' के अन्तर्गत क का शब्द के रूप में उल्लेख क्रमशः ५८ तथा १६ पृष्ठों में अन्य सैकड़ों शब्द देने के बाद किया गया है। इसका औचित्य किसी भी नियम से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

वर्ग के पंचम वर्ण की स्थिति

कवर्ग इत्यादि वर्गों के पंचमाक्षर सानुनासिक हैं, तथा इनमें से प्रत्येक का वर्णमाला में अपना-अपना अलग स्थान है। मुद्रण, टंकण तथा लेखन की सुविधा के लिए इन वर्णों को विकल्प से अनुस्वार द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रणाली चल पड़ी है। पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि संबद्ध शब्दों की वर्तनी ही बदल गई है। प्रारंभिक कक्षाओं के विद्यार्थी भी यह भली भाँति जानते हैं कि पंचवर्ग के अन्तर्गत आनेवाले किसी भी वर्ण से पहले का अनुस्वार उस वर्ण के वर्ग के पंचमाक्षर का स्थानापन्न होता है। स्पष्टता के लिए कुछ शब्द और उनकी वर्तनी देखिए :

अंक=अ ङ् क् अ
अंग=अ ङ् ग् अ
अंचल=अ ञ् च् अ ल् अ
अंड=अ ण् ड् अ
अंतर=अ न् त् अ र् अ
अंबु=अ म् ब् उ

संस्कृत के सभी कोशों में उपर्युक्त शब्दों को उनकी वर्तनी के अनुसार ही विन्यस्त किया गया है। वाचस्पत्यम् में तथा मोनियर-विलियम्स के कोश में तो वर्ग के पंचमाक्षर का ही प्रयोग किया गया है, पर आप्टे ने अपने कोश में पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया है। दोनों स्थितियों में शब्द का स्थान उसकी वास्तविक वर्तनी के आधार पर ही निश्चित किया गया है।

हिन्दी के कोशकारों ने सरलीकरण की दुहाई देते हुए पंचमाक्षर के स्थान पर प्रयुक्त अनुस्वार को शुद्ध अनुस्वार के समकक्ष मानकर भारी गड़बड़-घोटाला पैदा कर दिया है। इससे शब्दों के क्रम में पर्याप्त हेरफेर हो गया है। हिन्दी और संस्कृत कोशों में कुछ शब्दों के क्रम की तुलना कीजिए :—

अंक, अंचल, अंड, अंतर, अंबु, अंश,
अग्नि, अजीर्ण, अणु, अतिथि, अभिमत.

—हिन्दी शब्दसागर

अंशः, अग्निः, अंकः, अजीर्ण, अंचलः, अणु,
अंडः, अतिथिः, अन्तर, अभिमत, अम्बु.

—आप्टे

वर्तनी-सम्मत एक सुनिश्चित क्रम अपनाए जाने के कारण संस्कृत कोशों में किसी भी शब्द को ढूँढना कठिन नहीं है। पर एक काल्पनिक सरलता के सिद्धान्त पर निर्मित हिन्दी कोशों में किसी शब्द को ढूँढ निकालना एक कठिन पहेली बुझाने जैसा है। आइए इन शब्दों को हिन्दी कोशों में ढूँढने का प्रयत्न करें: अंन (अन्न), खिंन (खिन्न), खंमाच (खम्माच), संमान (सम्मान)।

१. बृहत् हिन्दी कोश—पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार मानते हुए देखने पर चारों शब्द अनुपलब्ध हैं। अन्न, खिन्न, खम्माच तथा सम्मान---इस वर्तनी के आधार पर ये शब्द यथा-स्थान मिलते हैं।

२. हिन्दी शब्दसागर—-अंन तथा अन्न दोनों अलग-अलग यथा-स्थान मिलते हैं। शेष शब्दों के अनुस्वार-वाले रूप अनुपलब्ध हैं, दूसरे रूप ही मिलते हैं।

३. मानक हिन्दी कोष—-अन्न, खिन्न, खम्माच रूप ही यथा-स्थान मिलते हैं। संमान तथा सम्मान दोनों रूप अलग-अलग मिलते हैं।

इसी प्रकार नालन्दा विशाल शब्दसागर में भी अनेक शब्द अनुस्वार और पंचमाक्षर के भेद से दो-दो स्थानों पर मिलते हैं। अब बताइए, साहित्य का विद्यार्थी क्या हर शब्द को दो-दो स्थानों पर ढूँढे? जब एक कोश में ही एक सामान्य सिद्धान्त नहीं अपनाया जा सका, फिर विभिन्न कोशों की तो बात ही क्या है!

वर्गों के पंचमाक्षरों का भी अपना अस्तित्व है। अनेक स्थलों पर तो प्रयत्न करके भी उन्हें अनुस्वार में नहीं बदला जा सकता, यथा - वाङ्मय, अण्वंत, कण्व, अन्य, सन्मार्ग, अम्ल। फिर उनके अस्तित्व को नकारने का असफल प्रयत्न करने की आवश्यकता ही क्या थी? इस कुप्रयत्न का बस एक ही फल दृष्टिगोचर होता है, वह है हिन्दी कोशों के शब्द-क्रम में अराजकता। इस अराजकता के नमूने अनेक प्रकार की भयंकर भूलों के रूप में हिन्दी के प्रतिष्ठित कोशों में बिखरे पड़े हैं। दो उदाहरण देखिए:

१. हिन्दी शब्दसागर से कुछ शब्द क्रमानुसार—

निआरा=न् इ आ र् आ
निऋति=न् इ ऋ त् इ
निर्ऋति=न् इ र् ऋ त् इ (?)
निकंटक=न् इ क् अ ण् ट् अ क् अ

२. बृहत् हिन्दी कोश से कुछ शब्द क्रमानुसार—

मनसूर=म् अ न् अ स् ऊ र् अ
मनः ताप=म् अ न् अ : त् आ प् अ (?)
मनस्वी=म् अ न् अ स् व् ई

हिन्दी का चंद्र-बिंदु अथवा अर्ध अनुस्वार

संस्कृत भाषा के शब्दों में चंद्र-बिंदु का प्रयोग न होने के कारण संस्कृत के कोशकारों ने इस ध्वनि का कोई स्थान निर्धारित नहीं किया है। पर हिन्दी के सहस्रों शब्दों में चंद्र-बिंदु का प्रयोग होते हुए भी इसके स्थान के संबंध में अभी तक कोई सर्व-संमत नियम नहीं बनाया जा सका है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्दसागर में चंद्र-बिंदु को एक स्वतंत्र ध्वनि मानते हुए उसका स्थान अनुस्वार के ठीक बाद रखा गया है; अनुस्वार-युक्त सब शब्दों के समाप्त होने पर चंद्र-बिंदु-युक्त शब्दों का आरंभ होता है; 'अंह' के बाद 'अँक' आता है। पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के मानक हिन्दी कोष में अनुस्वार और चंद्र-बिंदु साथ-साथ चलते हैं। दो समान शब्दों में, जहाँ केवल अनुस्वार और चन्द्र-बिंदु का भेद है, चंद्र-बिंदु पहले आता है, और अनुस्वार बाद में। उदाहरणार्थ, अँगना, अंगना, तथा खँजरी, खंजरी। बृहत् हिन्दी कोश में भी अनुस्वार और चंद्र-बिंदु साथ-साथ चलते हैं, पर अनुस्वार पहले है, और चंद्र-बिंदु बाद में; यथा—अंगना, अँगना। कहने का तात्पर्य यह है कि चंद्र-बिंदु के स्थान के संबंध में हर कोश की अपनी अलग परिपाटी है।

चंद्र-बिंदु को अर्ध अनुस्वार माना गया है। अतः यह अनुस्वार का ह्रस्व रूप है। मेरी संमति में चन्द्र-बिंदु को ह्रस्व अनुस्वार मानते हुए वर्णमाला में इसका स्थान अनुस्वार से ठीक पहले निर्धारित किया जाना चाहिए। हर स्वर का ह्रस्व रूप वर्णमाला में उसके दीर्घ रूप से पहले आता है। जो भी हो, शासन तथा विद्वानों को मिलकर वर्णक्रम में चंद्र-बिंदु का निश्चित स्थान निर्धारित अवश्य कर देना चाहिए, जिससे राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी के कोशों में अव्यवस्था को दूर किया जा सके।

निष्कर्ष : अराजकता का अंत हो

अंत में एक बार फिर मैं ज़ोरदार शब्दों में यह कहना चाहूँगा कि शब्द-क्रम से संबंधित संस्कृत की सर्वमान्य परम्परागत पद्धति को बदलकर हिन्दी के कोशकारों ने कोई सराहनीय कार्य नहीं किया है। वर्णमाला के प्रचलित क्रम को बदलना उनके, अथवा किसी के, अधिकार-क्षेत्र से सर्वथा बाहर की बात है; और कोश में वर्णमाला के असंदिग्ध एवं सुनिश्चित क्रम के अतिरिक्त और किसी क्रम का अनुसरण करना जितना अनौचित्य-पूर्ण है उतना ही असुविधाजनक भी है। उनके ऐसा करने से भारी अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न हुई है, शब्द-क्रम की समरूपता भंग हो गई है, तथा फल-स्वरूप कोश देखने वालों की कठिनाइयाँ बढ़ गई हैं। हिन्दी के कोशकारों से इन पंक्तियों के लेखक का विनम्र निवेदन है कि अब भी वे अपनी भूलों का सुधार करके वर्तमान अव्यवस्था को नियंत्रित करें, जिससे देश-विदेश में राष्ट्र-भारती का गौरव अक्षुण्ण रह सके। संस्कृत के कोशकार उनका उचित मार्ग-दर्शन करने में समर्थ हैं। उन्हें अपनी ओर से केवल एक चंद्र-बिंदु का ही स्थान निश्चित करना है।

केवल सही मार्ग ही एक होता है। जहाँ उससे विचलित हुए, अनेकता अनिवार्य है, और फिर तज्जनित भ्रांति !

———

कुमाउँनी में देशी-देशज शब्द-समूह

के० डी० रुवाली

भारतीय-आर्यभाषा के शब्द-समूह के अन्तर्गत एक वर्ग ऐसे शब्दों का भी माना गया है जिनका मूल संस्कृत में नहीं मिलता। भाषाविदों ने इस कोटि के शब्दों को 'देशी' नाम दिया है। प्राकृत वैयाकरणों ने जिन प्राकृत शब्दों को संस्कृत-शब्द-समूह में नहीं पाया, उन्हें 'देशी' अर्थात् अनार्य भाषाओं से आया हुआ मान लिया। डा० धीरेन्द्र वर्मा की स्पष्ट धारणा है कि भारतीय अनार्य भाषाओं से हिन्दी में आये हुए शब्द 'देशी' कहलाते हैं।[1] वास्तव में 'देशी' से प्राकृत-वैयाकरणों का क्या तात्पर्य है, इसका पूर्ण स्पष्टीकरण कहीं नहीं मिलता। अनुकरणमूलक शब्दों को भी प्राकृत-वैयाकरणों ने 'देशी' के अन्तर्गत रखा है। हेमचन्द्र सूरि ने 'देशीनाममाला' में ऐसे शब्दों को संकलित किया है जिनका मूल संस्कृत में नहीं मिलता। ऐसे शब्दों को उन्होंने 'देशी' कहा है, किन्तु 'देशीनाममाला' में संकलित अनेक शब्दों का संबंध बाद की खोजों के फलस्वरूप संस्कृत से स्थापित हो चुका है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान में 'देशी' शब्द किंचित् भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। आज 'देशी' के अन्तर्गत वे शब्द रखे जाते हैं जो भारत के आदिवासियों की भाषा से वैदिक तथा पाणिनीय संस्कृत एवं प्राकृत तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में समय-समय पर आते रहे हैं।[2] आर्यभाषा में ऐसे शब्दों का आगमन वस्तुतः उस समय से होने लगा था जिस समय आर्य तथा अनार्य एक दूसरे के सम्पर्क में आये थे। संस्कृत से 'घोटक' तथा 'मयूर' अनार्य-मूलज हैं। इनसे विकसित हिन्दी रूप 'घोड़ा' और 'मोर' हैं। हिन्दी के अतिरिक्त ये शब्द कुमाऊँनी में **घोड़ा** और **मोर** रूप में चलते हैं। ऐसी स्थिति में **घोटक** तथा **मयूर** शब्द संस्कृत के सन्दर्भ में 'देशी' कहे जायेंगे, परन्तु नवीन भारतीय आर्यभाषाओं—हिन्दी, अवधी, ब्रज, कुमाउँनी आदि में ये किंचित् विकृत या विकसित रूप में चलते हैं, इसलिए कुमाउँनी में **घोड़ो** और **मोर** शब्द तद्‌भव कहे जाएँगे। सारांश यह है कि संस्कृत में जो शब्द अनार्यमूल के प्रयुक्त हुए हैं उन शब्दों को संस्कृत-शब्द-समूह के सन्दर्भ में तो देशी कहा जायगा, परन्तु हिन्दी या कुमाउँनी में उनका अविकल या अविकल रूप में प्रयोग न होकर किंचित विकृत रूप में होता है, अतः हिन्दी या कुमाउँनी के लिए वे तथाकथित 'देशी' नहीं, वरन तद्‌भव शब्द कहे जाएँगे; क्योंकि संस्कृत में प्रयुक्त अनार्य शब्द भी वास्तव में आर्य भाषा के समान माने जाते हैं।[3] ये शब्द संस्कृत व्याकरण के नियमों से ही अनुशासित होते हैं।

कुमाउँनी में 'देशी' शब्द कौन हैं? इसका निर्णय करने से पूर्व यह स्मरण कर लेना

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास

२. डा० उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास

३. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० ७०

आवश्यक है कि कभी-कभी 'देशी' और 'देशज' को पर्याय मान लिया जाता है।[1] वास्तविकता यह है कि 'देशी' और 'देशज' दो अलग-अलग शब्द-समूह हैं।[2] डा० सक्सेना के अनुसार हिन्दी 'शब्द-समूह' में देशी वे शब्द हैं जो भारत की अन्य भाषाओं से लिये गये हैं— चाहे वे नवीन भारतीय आर्यभाषाओं से आए हों, या भारतीय अनार्य भाषाओं से। इस प्रकार जो शब्द हिन्दी-देश की आर्य अथवा आर्येतर किसी भी भाषा से लिये गये हों वे देशी कहलाएंगे। देशज से तात्पर्य उन शब्दों से है जो आधुनिक समय की बोलचाल में स्वतः विकसित हो गये हैं, जैसे—पेड़, गड़बड़, ठंडाई आदि।[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'देशी' और 'देशज' शब्दों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि हिन्द (भारत) की किसी भी प्राचीन अथवा नवीन आर्यभाषा अथवा आर्येतर भाषा से गृहीत शब्द कुमाउँनी के सन्दर्भ में 'देशी' कहे जाएँगे। इस दृष्टि से हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, पंजाबी, तमिल, तेलगु, आदि से जो शब्द कुमाउँनी में आ गये हैं, वे देशी कहे जाएँगे, भले ही उनमें स्थानीय ध्वन्यात्मकता आ गयी हो, जैसे— कुमाउँनी में भारत की विविध नवीन भारतीय आर्यभाषाओं एवं नवीन भारतीय आर्येतर (अनार्य) भाषाओं से आए निम्नलिखित शब्द 'देशी' कहलाएँगे—

हिन्दी से—

माता, पिता, भाई, मिठाई आदि।

ब्रज से—

झगा (कु-झगुल), नोंणि, ठौर, नतरि, नीको, भाजण, खाँसण आदि।

अवधी से—

ढाँट, पिठो (धान साफ करते समय निकलने वाला बारीक बुरादा), पातर (व्यभिचारणी स्त्री), निक (अच्छा), तित (तीता), ढब (ढंग), कुकुर (कुत्ता) आदि।

राजस्थानी से—

मुनड़ि (मुद्रिका), आगष्ठ (अर्गला), उथ (उधर), घोगण (विद्याभ्यास), थोक (इलाका) आदि।

पंजाबी से—

अक्करा (महँगा) > अकरो, आलण (दाल, बड़ी आदि को गाढ़ा करने के लिए डाला जाने वाला बेसन), शौड़ (एकाधिक कम्बलों को जोड़कर बनायी गयी ओढ़न), हिरणा (चलना) आदि।

---

१. डा० हरदेव बाहरी ने देशी और देशज को पर्याय मान लिया है। उनके शब्द हैं: "देशी (देशज) शब्द वे हैं जिन्हें जनसाधारण किसी ध्वनि अथवा व्यापार को देख-सुनकर सहज मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में अन्तः प्रेरणा से अभिव्यक्त करते हैं। ऐसे शब्दों की परम्परा न आर्य है न आर्येतर और न विदेशी बल्कि शुद्ध देशी है। फटफट करती हुई गाड़ी को देखा और नाम रख दिया फटफटिया।"

'देशी शब्द तत्व' शीर्षक लेख, 'हिन्दी अनुशीलन' (भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, वर्ष, ८ अंक ४, पृ० १४७)।

२. डा० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषा विज्ञान पृ० १२६

३. वही

गुजराती से—

हड़ताल, उकाल (ऊँचाई, चढ़ाई), खेप (बार), द्‌योक (आलंब) आदि।

बंगला से—

चुच (<छुँच (बँ०)–'स्तन') लोड़ (गोल चिकना पत्थर, बट्टा), कुतक्याइ (<बँ० कुतकुति 'गुदागुदाहट' tickling), टिपण (<बँ० टीपण 'टीपना या चुनना') आदि।

कुमाउँनी में आग्नेय, तिब्बत-चीनी और द्रविड़ परिवार की भाषाओं से आगत शब्द यद्यपि अनार्य कहे जाते हैं तथापि गत पृष्ठों में 'देशी' शब्द की जो व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, उसके अनुसार भारोपीय परिवार की आर्य-शाखा के अतिरिक्त भारत में प्रचलित अन्य भाषा-परिवार की भाषाओं से आगत शब्द भी 'देशी' ही कहे जायेंगे। सुविधा की दृष्टि से आग्नेय, तिब्बत-चीनी और द्रविड़-परिवार की भाषाओं से आगत शब्दों को 'आर्येतर देशी शब्द' की संज्ञा दी जा सकती है। इस वर्ग के अन्तर्गत कुमाउँनी में निम्नांकित आर्येतर भाषा-परिवारों के शब्द मिलते हैं—

(अ) आग्नेय (Austric),

(आ) तिब्बत-चीनी (Tibeto-Chinese),

(इ) द्रविड़ (Dravidian)

(अ) आग्नेय—

प्रागैतिहासिक युग में कुमाऊँ आग्नेय वंशी कोल किरात आदि का आवास स्थल रहा है। यही कारण है कि कुमाउँनी शब्द-समूह में पन्द्रह प्रतिशत भाग आग्नेय-परिवार की भाषाओं का विद्यमान है। इस वर्ग के शब्द आग्नेय वंशजों के अवशेष कुमाऊँ के वर्तमान राजियों एवं डोम जाति में विद्यमान हैं। संभवतः कुमाऊँ की प्रागैतिहासिक जन-जातियाँ—कोल (मुंड) एवं किरात (राजी) थीं। इन दो जातियों के अवशेष आज भी यहाँ डोम तथा राजी कहे जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मूलतः ये जातियां आस्त्रिक थीं। वे शब्द जो कुमाऊँ के डोम तथा राजी लोगों की बोली में विशेषतया पाये जाते हैं और जिनका सम्बन्ध सुदूर दक्षिण-पूर्व में प्रचलित आग्नेय परिवार की भाषा बोलियों से स्थापित होता है उन्हें आस्त्रिक शब्द-समूह के अन्तर्गत माना जाना चाहिये। यद्यपि राजी बोली के शब्द धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं वे मुंडा की अपेक्षा दक्षिण-पूर्व एशिया की आग्नेय-परिवार की भाषा बोलियों से अधिक साम्य रखते हैं। इसका कारण यह है कि मुंडा पर द्रविड़ प्रभाव अधिक है जबकि राजी बोली सुदूर दक्षिण-पूर्व की आग्नेय भाषा-बोलियों पर एकाक्षर परिवार की भाषाओं का पुष्कल प्रभाव पड़ा है।[1] राजी बोली के शब्दों की संरचना और अर्थगत साम्य के आधार पर कतिपय राजी बोली के शब्दों की व्युत्पत्ति आग्नेय-परिवार की भाषा-बोलियों के आधार पर दी जाती है। इससे यह अनुमान लगाना अनुचित नहीं कि युगों पूर्व तितर-बितर हो जाने पर भी राजी शब्द अपने मूल रूप में प्रचलित हैं। कुछ राजी-परिवार पिठौरागढ़ जिले के स्यूनाण नामक गाँव में रहते हैं और पिठौरागढ़ के अस्कोट नामक स्थान पर तो इनका बहुत बड़ा कबीला ही विद्यमान है। सन् १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार

१. डा० शोभाराम शर्मा : कुमाऊँ तथा पश्चिमी नेपाल की राजियों (वन-रावतों) की बोली का अनुशीलन पृ० १२७

इन राजियों की संख्या कुल १४३ ही है। यदि यह गणना सही है तो तब से दस प्रतिशत प्रति दशक के हिसाब से इस समय राजियों की संख्यां लगभग १६० मानी जा सकती है।[1] भले ही ये राजी आज स्थान-विशेष में ही सीमित रह गये हैं तथापि ये कभी सम्पूर्ण कुमाऊँ क्षेत्र में व्याप्त होंगे। इस कारण इनकी बोली के शब्द कुमाउँनी में अच्छी संख्या में विद्यमान हैं। यहाँ तक कि शूद्र वर्ग (डोम) की भाषा में एक अच्छी संख्या आग्नेय परिवार की राजी बोली की विद्यमान है। कदाचित् इसीलिए कुमाऊँ के शूद्रों को अनार्य कहा जाता है और इन्हें यहाँ की प्राचीनतम जन-जाति के रूप में स्मरण किया जाता है। शूद्रों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के लोग हिन्दी से प्रभावित परिनिष्ठित कुमाऊँनी का प्रयोग करते हैं तथापि कुछ शब्द सारे कुमाऊँ में सभी वर्गों के लोगों द्वारा समान रूप से व्यवहृत होते हैं। उदाहरणार्थ-इजा (माता), कच्यार (कीचड़), गाड़ (छोटी नदी), चुच (स्तन), गंग या गँङ (नदियों का सामान्य नाम, गँङाट (नदी के बहने की ध्वनि), गध्यार (दो पहाड़ों के बीच का नाला जो गर्मियों में प्रायः सूख जाता है), ग्यूवँ (गेहूँ की आकृति एवं रंग का मीठा फल), गुलि (मीठा), गूड़ (गुड़), गड़ (सीढ़ीनुमा खेत), जाँङण (जंघा), जुगर (जौंक), झुँङर (सवाँ की जाति का एक अनाज), बो-बो (बैलों, को हाँकते समय हलवाहा द्वारा उच्चरित क्लिक ध्वनि), बोकि (बकरा), भेकान (मेंढक), मादिर (सवाँ), राँख (मशाल), लिङुण (लिंगाकार गधेरे में पैदा होने वाला पौधा), लुमर (कोई अनावश्यक लंबायमान मांस का लोथड़ा) लुत (चिपचिपी खुजली जो कुत्तों को प्रायः हुआ करती है), लुतर (ढीला ढाला पर मजबूत), ल्योत (तालाब या पानी के बर्तन के तले में बैठी पतली मिट्टी) आदि-आदि।

उपर्युक्त सामान्य शब्दावली के अतिरिक्त कुमाउँनी के अधिकांश कृषि, वानस्पतिक एवं जीव-जगत के नाम भी राजी बोली के अवशेष प्रतीत होते हैं, यथा—बगड़ (नदी या गाड़ के किनारे की उर्वर भूमि), पिरूव (चीड़ के वृक्ष की पत्तियाँ, काफल, च्यूड़ (च्यूड़ा), भङिर (भंगीर), बिमुल (अंजीर), घिङार (घिंगार), हरड़, किलमड़, हिसाव (हिसालू), निङाव (निंगाल), प्योली, भालू, ग्वीराल, स्यूँण (बिच्छू घास), खिन (एक विषैला वृक्ष जिसकी लकड़ी पत्ती काम में नहीं लाई जाती), टुणि (तूण), गिठि (गीठी), मडु (मडुवा), च्यों (कुकुरमुत्ता), आदि वानस्पतिक नामों के अतिरिक्त घुरड़, जङ्या, किरमई (चींटी), गङ्याल, न्योलो, सिटइ, घुगुत, गींणी, जुँङ (सिर का कृमि) जैसे जीव-जगत के शब्द भी आस्ट्रिक ही हैं। यहाँ पर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि क्या कुमाउँनी से ये शब्द राजी बोली में नहीं गृहीत हो सकते ? इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि राजी लोग मूलतः कोल या मुंड वंशीय थे।[2] आर्यों के आक्रमण से पूर्व यह जाति उत्तर-भारत के गंगा-यमुना के दोआब और हिमालय में निवास करती थी। आर्यों के आतंक से इन्हें बीहड़ जंगलों की शरण लेनी पड़ी। इनके सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह कही जाती है कि इन आस्त्रिक वंशीय राजी लोगों ने आदिम कृषि प्रणाली को विकसित किया था। खोदने की लकड़ी के लिए उन्होंने लग, लङ, लिङ, जैसे शब्द गढ़े। आगे चलकर लग शब्द ही लकड़ी

१. डा० शोभाराम शर्मा : कुमाऊँ तथा पश्चिमी नेपाल की राजियों (वन-रावतों) की बोली का अनुशीलन पृ० १८

२. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता पृ० २३३

के रूप में चल पड़ा । इन लोगों का जीवन तराई-भाबर के जंगलों से लेकर अन्ततः हिमालय के जंगलों में भटकने में बीता है । अतः अधिकांश कृषि सम्बन्धी एवं वानस्पतिक शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ में आस्त्रिकों ने ही किया होगा । इनकी बोली में प्रचलित शब्दों को बाद में आने वाली जातियों ने भी ग्रहण कर लिया है ।

'देशी' वर्ग के अन्तर्गत तिब्बती के शब्द कुमाउँनी में नहीं के बराबर है । केवल थुलमा (विशेष प्रकार का रोयेदार कम्बल), चुटुक (गलीचा), दन (कालीन) ऐसे शब्द हैं जो व्यापारी भोटियों के माध्यम से कुमाउँनी में चले आये हैं और यहाँ उसी अर्थ में व्यवहृत होते हैं ।

चीनी भाषा के दो शब्द चा (कु० चहा), म्याउँ (बिल्ली की बोली) कुमाऊँ में प्रायः चलते हैं ।

आर्येतर द्रविड़ शब्द भी कुमाउँनी में पाये जाते हैं, यथा—कणिक (टूटा हुआ चावल), छान (<तमि० चानी 'झोपड़ी'), उखव (< द्र० उदूखल), ठूँन (चोंच), कुड़ (मकान <तमि० कुरे, मलया० कूड़ी) आदि ।

देशज शब्द-समूह—

जैसा कि पहले कह आए हैं किसी भी भाषा में देशज शब्द वे हैं जो उस भाषा के प्रादुर्भाव के पश्चात् उसी के क्रोड़ से जन्म लेकर समय-समय पर व्यवहृत होने लगते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी भाषा का जन्म लगभग दसवीं शती से माना जाता है । अतः जो शब्द दसवीं शती से आजतक हिन्दी भाषा की अपनी बोलचाल में पनपे या विकसित हो गए हैं वे देशज कहे जाएँगे । 'देशी' शब्द भारतीय भाषाओं से आगत शब्द हैं, जैसे—बंगला से हिन्दी में 'गल्प' शब्द, मराठी से 'चालू', गुजराती से 'हड़ताल' शब्द आ गये हैं । ये शब्द हिन्दी के लिए 'देशी' हैं । परन्तु हिन्दी में 'देशज' शब्द वे हैं जो हिन्दी के ही गर्भ से पैदा हुए हैं, जैसे–गड़बड़, बरगलाना, ठंडाई, मोटापा आदि । हिन्दी के ध्वन्यात्मक शब्द यथा—चमचम, फटफटिया, चरचर, मरमर, घर्घर, साँय-साँय, टनटन, टिकटिक आदि ध्वनिमूलक शब्द भी 'देशज' हैं । इसी प्रकार जो शब्द पन्द्रहवीं शती के बाद कुमाउँनी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं, वे देशज हैं, जैसे—गड़बड़ (गाढ़ा मीठा दूध या चाय), सलबल (दाल भात को पर्याप्त मात्रा में मिलाकर भरपूर ग्रास खाना) आदि । यहाँ प्रायः देशज शब्द विशेषण हैं । ध्वनिमूलक शब्द, यथा—क्वाँ-क्वाँ, च्वाँ-च्वाँ, सुरुसुर, टुयक्क आदि भी देशज के अन्तर्गत हैं ।

स्थानीय शब्द समूह :—

देशज के अंतर्गत स्थानीय शब्द वे हैं जो ग्रामीणों अथवा सामान्य जनता द्वारा नित्य-प्रति की बोलचाल में बनते हैं और अर्थ की दृष्टि से उनका कोई तर्कसंगत आधार नहीं हुआ करता । शब्द समूह का लगभग बीस प्रतिशत भाग कुमाउँनी में ऐसे ही शब्दों का है। इस वर्ग की शब्दावली के प्रयोग की व्यापकता भिन्न-भिन्न स्तर की पायी जाती है । कुछ शब्द सम्पू ॅ कुमाऊँ क्षेत्र में व्यवहृत होते हैं, कुछ एक ही जिले में, कुछ एक ही तहसील में और कुछ एक ही परगने तक सीमित पाए जाते हैं ।

स्थानीय शब्दावली प्रधानतया तीन प्रकार की मिलती है—

(क) सामासिक, (ख) ग्रामोद्योगीय और (ग) विशिष्ट शब्द-प्रयोग (Slang, अपभाषा)।

(क) दो या दो से अधिक शब्दों के संयोग से सामासिक शब्दों का निर्माण करने की प्रवृत्ति भी कुमाउँनी में लक्षित होती है, यथा रौड़ा-खौड़ा (छोटे-बड़े बरसाती नाले)। कुछ सामासिक शब्दों में पुनरावृत्ति भी मिलती है; यथा—लङ लङ (लंबा-पतला), मतमत (बासी स्वाद वाला) आदि।

(ख) ग्रामोद्योग सम्बन्धी स्थानीय शब्दावली अपेक्षाकृत व्यापकता लिए हुए है। इस वर्ग के शब्दों में न्यार (जानवरों के लिए सुरक्षित रखी गयी सूखी घास), बौल (श्रम), बौलि श्रमिक), ठ्योक (काष्ठ का दही जमाने का बर्तन), फिरुक (मथनी), नाण्ठि (अनाज नापने का लकड़ी का बर्तन जो प्रायः डेढ किलोग्राम के बराबर होता है), भकार (<भंडार अनाज रखने का लकड़ी का वृहदाकार संदूक), डोक (निङाल या बाँस का बना लंबा टोकरा), ब्यान बड़ा डोक), डाल् (डलिया), काँठ (ऊँचा चट्टान) आदि।

(ग) प्रत्येक जीवित भाषा में अपेक्षित अर्थ को घोषित करने वाले शब्दों के रहते हुए भी उनके स्थान पर नवीनता अथवा अभिव्यक्ति की स्पष्टता या उच्छृंखलता आदि से प्रेरित होकर सामान्य जनता द्वारा दूसरे शब्द गढ़ लिए जाते हैं। इस प्रकार के शब्द रूपों को अपभाषा कहते हैं। अपभाषा वस्तुतः अंग्रेजी के Slang[1] का भाषानुवाद है। इन शब्दों के निर्माण में उस भाषा के शास्त्रीय सिद्धान्तों अथवा व्याकरण की उपेक्षा मिलती है। अपभाषा समाज के वर्ग विशेष या समवयस्कों में प्रचलित रहती है। गम्भीर स्थलों अथवा पूज्य-जनों के समक्ष अपभाषा का व्यवहार नहीं होता। भाषा का यह विशिष्ट रूप प्रायः जटिल होती हुई संस्कृति, नवीन उपकरणों का आविष्कार, बेकारी के कारण इधर उधर लक्ष्यहीन भटकने वाले युवकों, अनुशासनहीन छात्रों के आवारागर्दी के परिणामस्वरूप पैदा होता है। चमचा, चमचागिरी, मक्खनबाज, मक्खन लगाना आदि अपभाषा के ही शब्द हैं। कक्षा से सामूहिक रूप से अनुपस्थित रहने की योजना को आवारागर्दी पसन्द छात्र 'जनरल फूटिंग' कहते हैं। फूटना हिन्दी का शब्द है। उसमें अंग्रेजी के ing को जोड़कर फूटिंग शब्द गढ़ लिया गया है। भाषा में ऐसा वर्णसंकर उसे अपभाषा की कोटि में ला रखता है। स्लैंग का कार्य शब्दों के नये-नये और विचित्र पर्याय जुटाना है। इन शब्दों से अभिप्रेत अर्थ वाच्यार्थ से प्रायः भिन्न होता है। ये अर्थ के नवीन स्तरों (Shades) के द्योतक न होकर मात्र पर्याय होते हैं।

---

1. A type of language in fairly common use, produced by popular adaptation and extension of the meaning of existing words and by coining new words with disregard for scholastic standards and linguistic principles of the formation of words; generally peculiar to certain classes and social or age groups.

Mario A. Pei : A Dictionary of Linguistics P. 199.

आधुनिक समय में लंदन के कोकॅनी स्लैंग तथा अमेरिकन स्लैंग का विधिवत वैज्ञानिक अध्ययन हुआ है। धन के लिए अमेरिका में सामान्य धनवाची शब्दों के अतिरिक्त डो (Dough) बॉडल (Boddle) शब्द भी प्रचलित हैं।

कुमाउँनी में अपभाषा का व्यवहार बहुत कम पाया जाता है, क्योंकि यहाँ वे परिस्थितियाँ विद्यमान नहीं हैं जिनके फलस्वरूप स्लैंग शब्द निर्मित होते हैं। जो थोड़े बहुत प्रयोग मिलते हैं उनका प्रयोग-क्षेत्र सीमित है। यहाँ के कतिपय अपभाषा के शब्द दृष्टव्य हैं—ग्रामीण लोग घोड़ों में लादकर दूध नगरों में बेचने के लिए लाते हैं और दूध की डेरी में उसका क्रीम निकाल देने पर उसे Seperated कहा जाता है जो ग्रामीणों की बोली में सप्रेटा उच्चरित होने लगता है। इसके अतिरिक्त लौद शब्द मूलतः दुधारू भैंस के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु मजाक में नवप्रसूता स्त्री के लिए भी यह शब्द चल पड़ा है।

———

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न

डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी

भारतीय साहित्य-शास्त्र की परंपरा में अश्लीलता को एक प्रकार का काव्य-दोष माना जाता रहा है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ जुगुप्सा-कारक, व्रीडा-जनक और अमंगल-सूचक अर्थ की अभिव्यक्ति हो रही हो। किन्तु इधर 'अश्लीलता' शब्द काव्य में यौन-संबंधों के संभोग-परक चित्रण के अर्थ में रूढ़ सा होता जा रहा है। हाल में, अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर ज़ोर-दार चर्चाएँ होती रही हैं और उनके माध्यम से यह समाधान करने का प्रयत्न किया जाता रहा है कि 'अश्लीलता' क्या है और वह कौन सी सीमा-रेखा है जिसे श्लील और अश्लील के बीच में खींचा जा सके। किन्तु अधिकतर समाधान विषय को ऊपर-ऊपर से छू कर ही रह गए हैं। प्रस्तुत प्रश्न की तह में जाने के लिए हमें पहले इस प्रश्न का उत्तर जान लेना चाहिए कि साहित्य का उद्देश्य क्या है।

साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में अभी तक जितने मत प्रचलित रहे हैं उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि :

(क) साहित्य का प्रयोजन आनंदोपलब्धि है।

(ख) साहित्य लोक-मंगल के लिए है।

(ग) साहित्य का उद्देश्य जीवन का यथातथ्य चित्रण है।

(घ) साहित्य आत्माभिव्यक्ति का साधन है।

(ङ) साहित्य निरुद्देश्य रचना है।

इनमें में कोई भी मत साहित्य के वास्तविक उद्देश्य को रेखांकित करने में समर्थ नहीं है। यदि साहित्य आनन्द के लिए ही है तो शोक-काव्य और त्रासदी में हम रुचि क्यों लेते हैं, यदि केवल लोक मंगल और उपदेश के लिए है तो क्या 'मेघदूत' और 'बिहारी-सतसई' काव्य नहीं हैं, यदि साहित्य को मात्र जीवन का यथातथ्य चित्रण मान लें तो 'राम-चरितमानस' जैसे आदर्श-प्रधान काव्य का क्या होगा, साहित्य को निरुद्देश्य कह देने से भी बात नहीं बनती क्योंकि विना किसी उद्देश्य के हम किसी बात में प्रवृत्त नहीं होते।

साहित्य का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति है, यह बात अवश्य सही है किंतु अस्पष्ट है। पहली बात तो यह कि आत्म का स्वरूप क्या है, फिर यह कि आखिर 'आत्म' अभिव्यक्ति चाहता क्यों है। दूसरी बात यह कि आत्माभिव्यक्ति तो हमारा सम्पूर्ण जीवन ही है जीवन भर हम अनेक प्रकार से 'आत्म' को ही अभिव्यक्ति देते रहते हैं, फिर साहित्य की आत्माभिव्यक्ति किस प्रकार की है ?

'आत्म' के स्वरूप को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि हम जीवित क्यों रहना चाहते हैं। वस्तुतः समस्त जीवन के मूल में उत्कट जिजीविषा है। प्रकृति की ओर

से कुछ ऐसी व्यवस्था है कि प्रत्येक जीव अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रयास के तीन रूप हैं—भूख, प्यास और काम जैसे शारीरिक संप्रेरकों की तुष्टि, संकट की स्थिति उत्पन्न होने पर पलायन अथवा आक्रमण और जब शारीरिक आवश्यकताओं की तुष्टि हो चुकी हो तो उपयोगिता-निरपेक्ष अनुसंधित्सा और जिज्ञासा एवं क्रीडा-वृत्ति की तुष्टि करना। मानव में, बौद्धिक विकास के साथ-साथ ये वृत्तियाँ जटिल होती गईं और इनके साथ-साथ अन्य वृत्तियों का जन्म भी उपयोगिता-निरपेक्ष तथा उपयोगिता-सापेक्ष दोनों धरातलों पर होता गया। उदाहरण के लिए उसमें सौंदर्य-बोध का विकास हुआ, श्रेष्ठता-पूर्वक जीने की कामना जागी—केवल जीवेम शरदः शतम् ही नहीं अदीनाः स्याम शरदः शतम् भी। साथ ही, सामाजिकता का विकास हुआ, सामाजिक जीवन को सुखी, सुरक्षित और संतुलित बनाने के लिए मानव-मूल्यों का निर्माण हुआ। इस प्रकार मानव का आत्म भूख-प्यास और काम के शारीरिक स्तर से लेकर मूल्य-गत चिंतन-मनन के उच्च कोटि के बौद्धिक व्यापारों तक फैला हुआ है। उसके इन स्तरों के बीच द्वंद्व और संघर्ष भी होता रहता है और वह इनमें सामंजस्य बिठाने का प्रयास करता है।

सामान्यतः समाज-व्यवस्था कुछ इस प्रकार की है कि भूख और प्यास की शारीरिक आवश्यकताओं की तुष्टि सभी की हो जाती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है जब पूरा समाज कुछ थोड़े से लोगों के निहित स्वार्थ के कारण इन शारीरिक आवश्यकताओं की भी सही ढंग से तुष्टि नहीं कर पाता। इसी प्रकार संकट की बात है। यों तो राज्य-व्यवस्था सबके जीवन को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करती है किन्तु बाहरी आक्रमण या आंतरिक विप्लव अथवा अव्यवस्था के कारण सामाजिक संकट और असुरक्षा की अनुभूति तथा सुरक्षा की कामना बढ़ जाती है। इसी प्रकार मूल्यों के संघटन और विघटन की आवश्यकता की अनुभूति भी किसी युग विशेष या व्यक्ति-विशेष में तीव्र हो जाती है। समाज में कुछ व्यक्ति उक्त तीनों प्रकार की स्थितियों और उनकी आवश्यकताओं का अनुभव बड़ी तीव्रता के साथ करते हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे होते हैं जिनमें व्यावहारिक क्षमता होती है। वे समाज को एक नया रूप देने के लिए कर्म क्षेत्र में कूद पड़ते हैं और समाज का नेतृत्व करते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनमें कल्पना की प्रमुखता होती है, वे उत्कट रचना-शक्ति से समन्वित होते हैं, उनकी संवेदन-शीलता असाधारण होती है। वे उक्त स्थितियों की आवश्यकताओं का अनुभव करते हैं, अपनी कल्पना में उन स्थितियों को भोगते हैं और शब्दार्थ के साहित्य के माध्यम से अपनी उस भावित अनुभूति की सृष्टि कर देते हैं। यहाँ मैंने 'अभिव्यक्ति' शब्द के स्थान पर जान-बूझ कर 'सृष्टि' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि शब्दार्थ के औचित्य-पूर्ण साहित्य के माध्यम से कवि अपनी अनुभूति को जो हम तक संप्रेषित करता है वह मात्र अभिव्यक्ति नहीं होती अनेक अंगोपांगों से समन्वित एक निर्मिति होती है।

ऊपर जिन तीन स्थितियों का वर्णन किया गया है वे असामान्य अवस्था में ही होती हैं। सामान्यतः तो जब समाज में भोजन-वस्त्र की समस्या उग्र नहीं रहती, सुरक्षा का संकट नहीं रहता और मूल्यों के संघटन-विघटन का अवसर उपस्थित नहीं रहता तो मानव की

उपयोगिता-निरपेक्ष वृत्तियाँ अपनी तुष्टि का मार्ग खोजती हैं। वह दूसरों की अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है, अपनी जिज्ञासा और अनुसंधित्सा की तुष्टि के लिए वनों और पर्वतों को ही नहीं अंतरिक्ष को भी छान डालना चाहता है, सौंदर्य-बोध की तुष्टि के लिए अपने आस-पास सुन्दर रूप-रंग सजाना चाहता है, क्रीडा और मनोरंजन के लिए नित नूतन सामग्री खोज लेना चाहता है। जिस प्रकार पूर्व-वर्णित उपयोगिता-सापेक्ष स्थितियों की अनुभूति कुछ थोड़े से लोगों में ही प्रखर और उत्कट होती है उसी प्रकार इस स्तर की अनुभूतियाँ होती तो सबमें हैं किन्तु अदम्य और प्रखर कुछ ही लोगों में होती हैं। ऐसे लोग असीम प्यास लेकर उत्पन्न होते हैं। इनमें भी दो प्रकार के लोग होते हैं एक तो वे जो यथार्थ जीवन में भोग कर तुष्ट हो जाते हैं और न भोग सकने पर कुंठित हो जाते हैं और दूसरे वे जो यथार्थ जीवन के भोग से तुष्ट न होकर अपनी रचना के माध्यम से उन्हें कल्पना में भोगते हैं। श्रेष्ठता-सिद्धि की कामना के लिए वे 'जो बूझै तौ जानै' वाले अंदाज़ में उलट-बाँसियों और दृष्टकूटों की रचना करते हैं; अनुसंधित्सा की तुष्टि के लिए 'तिलिस्म होशरुबा' और 'चंद्रकांता संतति' की रचना की जाती है; प्रकृति और नारी के अक्षय सौंदर्य-कोश में से सामग्री चुन-चुन कर कवि जो सृष्टि करता है वह सौंदर्य-कामना की तुष्टि के लिए; क्रीडा और मनोरंजन की वृत्ति को परितुष्ट करने के लिए कभी शब्द-क्रीडा तो कभी हास-परिहास का सहारा लेता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य का उद्देश्य आत्म की उपयोगिता-सापेक्ष अथवा उपयोगिता-निरपेक्ष किसी भी स्तर की आवश्यकताओं को मानसिक रूप से भोगना है। आवश्यकताओं को भोगने से तात्पर्य है उन आवश्यकताओं को उत्पन्न करने वाली स्थितियों की अनुभूति, उन उत्पन्न हुई आवश्यकताओं का गहरा अहसास और उन आवश्यकताओं की तुष्टि—इन तीनो अवस्थाओं में से एक, दो या तीनो का भावन। भावन का अर्थ है चेतना का व्याप्त हो जाना। यह भावन अथवा चेतना-व्याप्ति की स्थिति तभी संभव हो सकती है जब कवि शब्दार्थ के औचित्यपूर्ण साहित्य के द्वारा अपनी काव्य-सृष्टि को सफल बना सका हो।

ऊपर हमने जहाँ शारीरिक आवश्यकताओं की चर्चा की है वहाँ 'काम' के विवेचन को जान बूझ कर छोड़ दिया है क्योंकि उसका सम्बन्ध हमारे प्रकृत विषय से है और अब हम उसी की सविस्तार व्याख्या करना चाहेंगे।

काम, मूलतः, एक शारीरिक आवश्यकता है किन्तु उसके सूत्र हमारी चेतना के लगभग सभी स्तरों से जुड़े हुए हैं। पहली बात तो यह कि वह केवल जिजीविषा से ही नहीं, श्रेष्ठता-पूर्वक जीने की लालसा से भी अनुप्राणित होता है। हम केवल काम-तुष्टि से ही तृप्त नहीं हो जाते जो अलभ्य है, उसे भोगना चाहते हैं। इसके पीछे बहुत कुछ यह भावना भी रहती है कि देखो हम वह भोग रहे हैं जो दूसरों के लिए दुर्लभ है। सौंदर्योपभोग की कामना से तो काम का प्रत्यक्ष संबंध है ही और इस बात का प्रमाण देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है कि क्रीडा और मनोरंजन की वृत्ति से भी उसका गहरा मेल है। केवल इतना ही होता तो काम उतनी जटिल और उत्कट वृत्ति न होती जितनी कि आज है और न उसके आस पास समस्याओं एवं प्रश्नों की इतनी भीड़ लगी होती। और, सबसे

बड़ी बात यह कि काम की सीमा यदि यहीं तक होती तो आज तक दुनिया का जितना साहित्य रचा गया है उसका मुश्किल से एक बटे चार रचा गया होता। तो, इन सबसे आगे बढ़ कर काम का सम्बन्ध सृष्टि-विकास से है। कुछ लोगों का तो कहना यहाँ तक है कि काम का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही है उपयोगिता-निरपेक्ष आनंद नहीं। इतना ही नहीं, आनन्द के लिए यौन-सम्बन्ध स्थापित करने को वे लोग पाप भी मानते हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना अलं होगा कि यथार्थतः यौनाचार के पीछे आनन्दोपभोग की वृत्ति पुत्रैषणा से कम प्रबल नहीं है, कभी-कभी तो उसकी प्रबलता अधिक भी देखी जाती है, इस विषय में मानव-समाज का इतिहास और प्रत्यक्ष-दर्शन स्वयं प्रमाण हैं। वस्तुत: मनुष्य ने अपने सभी संवेदनो को उपयोगिता-निरपेक्ष आनंद की लब्धि के लिए प्रयुक्त करना अनादिकाल से सीख रखा है। नेत्रेन्द्रिय का विकास आरम्भ में तो इसी उद्देश्य से हुआ होगा कि मनुष्य अपना भोजन ढूँढ सके और शत्रुओं को देखकर उनसे अपनी रक्षा कर सके। किन्तु मनुष्य है कि रूप का महोत्सव रचता है और नेत्रों द्वारा उसका पान करके तृप्त होता है। इसी प्रकार अन्य इंद्रियों की भी बात है और इसी प्रकार काम-वृत्ति की भी।

लेकिन, काम-वृत्ति के ये दोनो पक्ष एक दूसरे से टकराते हैं। शायद अन्य किसी वृत्ति के उपयोगिता-सापेक्ष और उपयोगिता-निरपेक्ष पक्षों में इतनी टकराहट नहीं है, इतना विरोध नहीं है जितना काम के संतानोत्पत्ति और आनंदोपभोग के पक्षों में। हमारे दर्शन, धर्म और नीति-शास्त्र का अधिकांश एक ही वृत्ति से उत्पन्न इन दो परस्पर-विरोधी आवश्यकताओं के बीच समंजन स्थापित करने का प्रयास हैं। पतिव्रत और एक-पत्नीव्रत जैसे मूल्य इसी आवश्यकता के फल-स्वरूप जन्मे हैं। यदि यौनाचार से संतानोत्पत्ति न होती और संतान को लेकर उत्तराधिकार जैसे प्रश्न न उठा करते, या कम से कम, संतान के भरण-पोषण की आवश्यकता न हुआ करती तो जैसे भोजन की मेज़ पर एक दूसरे को आमंत्रित करना हमारी सभ्यता का अंग है उसी प्रकार स्त्री-पुरुषों का एक दूसरे को अपने शयन-कक्ष में आमंत्रित करना भी सभ्यता का अंग गिना जाता। भोजन भी तो, मूलतः, हमारी वैसी ही शारीरिक आवश्यकता है जैसी काम किन्तु उसके उपयोगिता-निरपेक्ष और उपयोगिता-सापेक्ष रूपों में उतना वैषम्य नहीं। यद्यपि, संतानोत्पत्ति की बाधा न रहने पर भी भूख की अपेक्षा काम की वृत्ति फिर भी अधिक जटिल ही रहती क्योंकि एक तो उसके उपभोक्ता और उपभोग्य दोनो पक्ष चेतन हैं और दूसरी ओर वह सौंदर्य-बोध की वृत्ति से अधिक जटिलता के साथ संबद्ध है फिर भी, मूल्यों से उसकी टकराहट का प्रश्न कदाचित् न उठता और धर्म, दर्शन तथा नीति को उस पर उसी प्रकार बहुत थोड़ा सा कहना शेष रह जाता जिस प्रकार भोजन पर। किन्तु ऐसा नहीं है अतः धर्म और दर्शन ने भी, नीति की तरह इस प्रश्न से जूझने में पूरी शक्ति लगा दी। ज्ञानी महात्माओं ने दमन के द्वारा, भक्तों ने कृष्णार्पण के द्वारा और वाममार्गियों ने भोग द्वारा योग की साधना का समर्थन करके अपनी-अपनी तरह से उक्त समस्या का समाधान ढूँढा और अपने साहित्य में उसकी सृष्टि की।

ज्ञानमार्गियों का साहित्य उस स्थिति का मानसिक भोग है जब मनुष्य या तो

काम के दमन के लिए जूझता है या फिर उस अवस्था से बाहर निकल कर अखंड आनंदमय ब्रह्म में लीन हो जाता है। वाम मार्गी या सहजिया संप्रदाय का साहित्य एक प्रकार से काम का खुला मानसिक उपभोग है क्योंकि जिस यौनाचार को वे व्यावहारिक जीवन में वैध मानते थे उस पर समाज में प्रतिबंध थे अतः यथार्थ में उन्मुक्त उपभोग की प्राप्ति न कर सकने के कारण उन्होंने साहित्य में उसकी सृष्टि की थी। इसी प्रकार कृष्ण-भक्तों की मधुरा-भक्ति भी काम का विशुद्ध मानसिक उपभोग है। इन भक्तों ने भौतिक जीवन में अपने आप को जितने ही संयम और अनुशासन में कस लिया था मानसिक रूप से उतना ही खुला छोड़ दिया था। विद्यापति के रभस-पूर्ण उद्दाम शृंगार से परिप्लुत पदों को गाते-गाते जो चैतन्य महाप्रभु भक्ति-विह्वलता के कारण बेसुध हो जाया करते थे वही व्यवहार में इतने कठोर थे कि अपने प्रिय शिष्य हरिदास को किसी स्त्री से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लेने के कारण जीवन भर के लिए त्याग सकते थे।

अधिकांश लोग इस दुनिया में ऐसे होते हैं जो उपर्युक्त में से किसी वर्ग के अन्तर्गत नहीं आते। वे न तो काम का दमन करने के लिए मुराठा हाथ में लेकर अपना घर जला सकते हैं, न वाम-मार्गियों की तरह पंचमकार के उच्छृंखल सेवन की वकालत ही उनके संस्कारों के अनुकूल होती है और न भक्तों की तरह व्यावहारिक जीवन में संयम के कड़े बंधनों से बँधे रह कर काम के विशुद्ध मानसिक उपभोग मात्र से उनकी तृप्ति हो सकती है। वे साधारण दुनियादार आदमी होते हैं। कामोपभोग की लालसा उनमें उद्दाम होती है। एक ओर तो व्यवस्था और मूल्य उनका रास्ता रोके खड़े होते हैं और दूसरी ओर उत्कट प्रेम की लालसा उनमें घनीभूत होती है। ऐसे लोगों में से जिनमें सर्जना-शक्ति होती है वे साहित्य के माध्यम से सृष्टि करके अपनी मानसिक आवश्यकताओं की तुष्टि करना चाहते हैं किन्तु उनके पास धर्म और दर्शन की आड़ नहीं होती, आड़ होती है तो अपने शिल्प-कौशल की और सर्जना शक्ति की।

बच्चन ने ठीक ही कहा है, 'मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।' कभी जब प्यूरिटन समीक्षकों का युग आता है तो धर्म और दर्शन की आड़ में कामोपभोग करने वाले तो बच जाते हैं, जिनके पास इस प्रकार की आड़ नहीं होती वे मारे जाते हैं। कालिदास को कोढ़ी बना दिया जाता है, बिहारी और मतिराम को साहित्य की भगीरथी में गंदी नालियाँ प्रवाहित करने वाला। बच्चन को खीझ कर कहना पड़ता है—'वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी'। किन्तु बेचारा रीतिकाल का कवि तो यह भी नहीं कह पाया था उसने तो बड़े संकोच के साथ अपने बचाव के लिए इतना ही कहा था—'आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कबिताई, न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।'

ये प्यूरिटन समीक्षक काम से इतनी परहेज़गारी बरतते हैं कि कहीं उसका तनिक आभास होने पर भी कान-पूँछ फटकार कर सावधान हो जाते हैं और 'शान्तं पापम्' का जाप करने लगते हैं। कहीं एक अत्यंत प्रतिष्ठित और वयोवृद्ध लेखक द्वारा की गई तुलसी की 'बिधु बदनी सब भाँति सँभारी, सोह न बसन बिना बर नारी।' इस अर्धाली पर एक व्याख्या देखी थी। लेखक महोदय को इस बात की चिंता हो ई थी कि तुलसी जैसे संत-महात्मा एक निर्वसना नारी की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं! और फिर क्या था, अपना

सारा ज्ञान लगा कर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि 'वसन' का अर्थ यहाँ 'वस्त्र' न होकर 'पति' है। किन्तु क्या लेखक महोदय इस बात का उत्तर देंगे कि भरत के लिए भरद्वाज के आश्रम में बाबा जी ने जो 'स्रक् चंदन बनितादिक भोगा' उपलब्ध करा दिए हैं वहाँ 'बनिता' का अर्थ क्या है। 'नदी उमगि अंबुधि कहँ धाईं। संगम करैं तलाब तलाईं।' में 'संगम' का अर्थ शायद वे तीर्थ-राज प्रयाग के 'संगम' से लगाएँगे।

साहित्यिक क्षेत्र में काम से जो इस प्रकार की परहेज़गारी बरतने का रिवाज चला, उसके मूल में एक मिथ्या और अधूरा जीवन-दर्शन है। वस्तुतः बौद्ध धर्म का जन्म यद्यपि अनेक सामाजिक और धार्मिक विषमताओं के निराकरण के लिए हुआ था किन्तु उसकी दृष्टि संतुलित नहीं है। उसका पहला आर्य सत्य है : 'दुःख है'। किन्तु यह निष्कर्ष ही अधूरा है। दुःख है तो सुख भी तो है। दोनो बराबर-बराबर सत्य हैं। बौद्ध दर्शन का दूसरा दोष यह है कि वह मानता है कि दुःख का समूल विनाश हो सकता है। यह एक मृग-मरीचिका भर है। दुःख-विनाश के लिए जिस उपाय का आलंबन बौद्ध-दर्शन ने लिया वह भी मिथ्या है। तृष्णा का क्षय अथवा इच्छा का विनाश संभव नहीं। यह नदी के प्रवाह को उलट देने जैसा दुःसाध्य कार्य है। बौद्ध-दर्शन के बाद जो भी दर्शन उठे वे सब उसका विरोध करने के लिए ही, किन्तु बौद्ध-दर्शन की उपर्युक्त ख़ामियाँ उन सभी में उसी प्रकार प्रविष्ट हो गईं जैसे परीक्षित के मुकुट में कलियुग प्रवेश कर गया था। चाहे अद्वैत वेदांत हो चाहे भक्ति, सबमें किसी न किसी रूप में इस भव-सागर को दुःखों की खान माना गया और ऐसे उपाय खोजे गए जिनसे इसका संतरण करके किसी ऐसे ब्रह्मलोक, गोलोक, या शिव-लोक में पहुँचा जाया जहाँ आनंद ही आनंद हो, जरा-मरण के बन्धनो से छुटकारा हो। जब इस लोक से किसी दूसरे लोक में जाना ही जीवन का प्रमुख उद्देश्य है तो यहाँ के आकर्षणों का त्याग भी आवश्यक है। यह अधूरी एवं असंतुलित दृष्टि किसी न किसी रूप में आज के प्रमुख चिंतक गांधी और अरविंद में भी बनी रही। गांधी-दर्शन द्वारा अनुप्राणित स्वातंत्र्योत्तर भारत पंचशील, अहिंसा और निश्शस्त्रीकरण जैसी अधूरी और अयथार्थ कल्पनाओं में भूलता रहा, तब तक जब तक कि उसकी पीठ में छुरा नहीं घोंप दिया गया।

तत्वतः यही जीवन-दृष्टि है जो प्यूरिटन समीक्षकों को काम से परहेज़ बरतने के लिए प्रेरित करती रही। इसी में आधुनिक काल में लोक-मंगल की दृष्टि और आ मिली। यह माना जाने लगा कि काम लोक-मंगल के मार्ग में बाधक है और साहित्य में उसके अत्यधिक चित्रण से जाति मानसिक रूप से रुग्ण हो सकती है। साथ ही, पश्चिम से यह प्रवाद आया कि साहित्य समाज का दर्पण है। बजाय इसके कि इस प्रवाद को परीक्षणो-परांत ग्रहण किया जाता, उसे एक स्वतः सिद्ध सत्य मान कर प्रत्येक युग के साहित्य को समाज का और समाज को साहित्य का दर्पण सिद्ध करने का प्रयास चल पड़ा और इस बात का प्रयत्न किया जाने लगा कि कम से कम हमारे युग में तो साहित्य में काम का उद्दाम रूप न आये क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है, हमारी कलुषित तस्वीर उस दर्पण में आ गई तो क्या होगा।

संक्षेप में, परलोक की उपलब्धि और लोक-मंगल की साधना में कामवृत्ति के बाधक होने के भय ने उसे कुछ लोगों की दृष्टि में जुगुप्सित और अमंगलकारी बना दिया

इसलिए उन्होंने कहा कि साहित्य में भी इसके प्रवेश पर रोक होनी चाहिए। परलोक-सिद्धि के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वह एक मृग-मरीचिका भर है और एक प्रकार से अपनी इहलौकिक इच्छाओं का सूक्ष्म मानसिक भोग ही है। काम उसके मूल में भी है। लोक-मंगल में भी काम उतना बाधक नहीं है जितना समझा जाता है। वे कुछ और ही कारण हैं जो व्यक्ति को लोक-मंगल से विमुख और विलासांध बना देते हैं। मोहम्मदशाह रँगीले या वाजिदअली शाह के हरम में जितनी बेगमें थी, अकबर के हरम में उससे कम नहीं रही होंगीं, फिर भी अकबर लोक-मंगल के लिए सदा सावधान रहने वाला था जब कि उक्त दोनो शासक उससे विमुख थे। काम किसी जाति को हतवीर्य या हत-दर्प भी नहीं बना देता। जिन मुट्ठी भर अंग्रेज़ों ने सात समुंदर पार करके इतने बड़े भारत देश पर डेढ़ सौ वर्षों तक शासन किया वे हमारे पराजित और श्रीहीन राजाओं तथा नवाबों से कम विलासी नहीं थे। वस्तुतः काम का स्वस्थ उपभोग लोक-मंगल और शक्ति-साधना में सहायक ही होता है, बाधक नहीं। वह अपनी ह्लादिनी शक्ति द्वारा मानव में एक नया उल्लास, शक्ति और ऊर्जा भर देता है।

यह धारणा तो बिलकुल मिथ्या है कि साहित्य में यौन-चित्रण नैतिक चरित्र को भ्रष्ट करने वाला और मन को विकृत करने वाला है। कालिदास का 'कुमारसंभव' पढ़ कर कितनों का मन विकृत हुआ है? अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त सर्वांश में मिथ्या नहीं है। साहित्य के माध्यम से हम अपनी अतृप्त वासनाओं को भोग कर मानसिक स्वस्थता भी प्राप्त करते हैं। काम के उपयोगिता-निरपेक्ष और उपयोगिता-सापेक्ष रूपों के बीच भारी विरोध होने से यह संभव नहीं कि हम अपनी कामज अतृप्तियों को भौतिक जीवन में पूरी तरह भोग सकें, मानसिक जीवन में भी उनके भोग पर प्रतिबंध लग जाने से मानव जाति अनेक विकृतियों और कुंठाओं की शिकार हो जायगी।

साहित्य में कामोपभोग के चित्रण पर प्रतिबंध कभी नहीं रहा है और रहा भी है तो वह कारगर नहीं हो सका है। पवित्र ग्रंथ वेदों में भी इस प्रकार के साहित्य की कोई कमी नहीं है। आदि कवि जिस किसी भी समय में रहे हों, उनका समय सामाजिक और नैतिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ रहा होगा, कम से कम उनके समाज का मनोबल तुलसी के समाज की अपेक्षा अधिक ऊँचा रहा होगा किंतु उनके राम तुलसी के राम की अपेक्षा अधिक कामातुर हैं। उन्हें रागारूढ संध्या स्वयं अंबर (आकाश और वस्त्र) त्यागते हुए दिखाई देती है, पावस में, वसंत में, शिशिर में बार-बार मन्मथावेग प्रकृति द्वारा उद्दीप्त होकर उन्हें व्याकुल करता है। कालिदास का समय शायद वही था जिसके लिए इतिहासकारों ने लिखा है कि उन दिनों लोग अपने घरों में ताला नहीं लगाते थे और किसी अतिथि के पानी माँगने पर उसे दूध दिया जाता था। उन कालिदास के मत से गोद में बिठाने योग्य दो ही वस्तुएँ हैं—सुन्दर शब्द करने वाली वीणा और मधुर-भाषिणी मृग-नयनी। उन्हें गभीरा नदी के जघन-स्थल से वस्त्र खिसक गया लगता है और उनका यक्ष बादल को उपदेश करता है कि तुम क्षण भर उस नदी के ऊपर ठहर जाना, क्योंकि भला ऐसा कौन है जो विवृत-जघना को देखकर यों ही छोड़ कर चला जाय। तो, कालिदास यह सब उस युग में लिख रहे थे जब लोगों को अपने घरों में ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी और अतिथि को पानी

माँगने पर दूध मिलता था और इस प्रकार के वर्णनों को अश्लील करार देने वाला समीक्षक उस युग में उत्पन्न हुआ था जब ताला लगाने पर भी चोरियाँ हो जाती थीं और अतिथि को पानी माँगने पर गाली मिलती थी।

आधुनिक युग में जब यौन-चित्रों पर प्रतिबंध लगा दिया गया तब भी उनका प्रवेश काव्य में बंद नहीं हुआ। छायावादी कवि ने रीतिकालीन काव्य को अश्लील करार देते हुए यौन जीवन के मांसल चित्रों से परहेज रखने की क़सम खाई किंतु उसी ने आगे चलकर लिखा—

दो काठों की संधि-बीच उस निभृत गुफ़ा में अपने
अग्नि-शिखा बुझ गई जागने पर जैसे मृदु सपने।

(कामायनी)

यही नहीं, अरविंद-दर्शन की गुफ़ा में पहुँच कर भी कवि काम-वृत्ति से अपनी कविता को अछूता नहीं रख सका। उसे दबाने का प्रयत्न करने पर वह शतशः अन्य रूपों में उभर आई। 'लोकायतन' में धरा-योनि, गर्भ और शिश्न-दंड जैसे शब्दों का विपुल प्रयोग, संभोग वर्णन, पृथ्वी के श्रोणि-देश पर टिका आकाश आदि की कल्पनाएँ 'जादू वह जो सिर चढ़ कर बोले' की कहावत चरितार्थ करती हैं।

नयी कविता ने छायावादी रोमांटिकता के विरुद्ध ज़िहाद बोली किन्तु वहाँ भी चूड़ी के टुकड़े पर उभरे हुए संभोग-चित्रों की कमी नहीं है। अकविता वालों ने देखा कि बात कुछ बनी नहीं तो उन्होंने नयी कविता की रोमांटिकता को नेस्तनाबूद करने का बीड़ा उठाया। बड़ी ज़ोर-ज़बरदस्ती करने का प्रभाव यह हुआ कि उसमें काम-चित्र अपने नंगे विकृत रूप में उभर आये—

(१) एक लड़की दरवाज़े पर खड़ी हुई आँखें लड़ाती है यार से।
(२) मुझे अभी कई लड़कियों से करना है प्रेम।

(श्रीकांत वर्मा)

(३) रात-भर रौंदी हुई मादा शक्लों, जुगालियों और मूत से भरे बिस्तरों के बावजूद।

(धूमिल)

तात्पर्य यह है कि काम-वृत्ति का स्वस्थ उपभोग और साहित्य में उसका चित्रण न तो अनुचित है और न विगर्हणीय। स्वस्थ उपभोग से तात्पर्य है ऐसा उपभोग जो हमारी शक्तियों को कुंठित न करके स्फूर्ति एवं ऊर्जा प्रदान करे और हमें अपने दायित्वों तथा कर्त्तव्यों की ओर से बेसुध न बना दे। आकंठ-मग्नता तो विलास में बुरी है और निरोध तथा संयम में भी। साहित्य में शृंगार के रभस चित्र हमारे नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी नहीं हैं उनसे तो किसी हद तक नैतिकता के उन्नयन में ही सहायता मिलती है।

तब साहित्य के लिए क्या कुछ भी अश्लील नहीं है। कुछ न कुछ तो अश्लील अवश्य है। एक ओर तो अश्लीलता हम वहाँ कहेंगे जहाँ अपरिष्कृत भाषा और शैली में भोंडे ढंग से यौन-जीवन का सर्वथा खुला चित्रण हो और जिसमें कवि-कौशल का अभाव हो। साहित्य का सौंदर्य पिहितापिहित होने में है—आधा खुला और आधा ढका। किंतु हमारी समझ में

बिना कवि-कौशल के भोंडी भाषा-शैली में वर्णित केवल शृंगार-चित्र ही अश्लील नहीं हैं, कोरे नैतिक उपदेश भी अश्लील हैं क्योंकि उनसे भी सहृदय को जो ऊब होती है वह एक प्रकार की जुगुप्सा ही है। दूसरी ओर अश्लीलता वहाँ है जहाँ लेखक या कवि सहृदय को 'एक्स्प्लॉइट' करके उसे खुले आम समाज-विरोधी वृत्तियों को उकसाने के लिए प्रेरित करता है। फ़ुटपाथों पर बिकने वाला साहित्य यही करता है, कालिदास और बिहारी का साहित्य चाहे जितने उद्दीप्त काम-चित्रों से पूर्ण हो यह कभी नहीं कर सकता। साहित्य का उद्देश्य मानसिक आवश्यकताओं की तुष्टि द्वारा अपनी वासनाओं को कल्पना में भोगना है किन्तु वे वासनाएँ सामाजिक विघटन उत्पन्न करने वाली नहीं होनी चाहिए। कामोपभोग अपने स्वस्थ रूप में कोई सामाजिक विघटन उत्पन्न नहीं करता। यहाँ प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक आई० ए० रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धांत का उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा। उनके अनुसार हमारी सर्वाधिक मूल्यवती अनुभूतियाँ वे ही हैं जो दूसरी अनुभूतियों को कम से कम हानि पहुँचाये बिना अपनी तृप्ति का मार्ग ढूँढ लेती हैं। इस सिद्धांत के आधार पर कामोप-भोग के मार्ग में बाधक नैतिकता उतनी ही मूल्यहीन है जितना मूल्य-हीन नैतिकता में बाधक काम है। अतः जिस साहित्य में नैतिकता के अविरोधी काम की अभिव्यक्ति है वह मूल्यवती अनुभूतियों की सृष्टि होने के कारण कभी अश्लील नहीं हो सकता। यहाँ नैतिकता से तात्पर्य स्थूल नैतिकता से नहीं है, ऐसी सूक्ष्म नैतिकता से है जो समाज-संतुलन के आधारभूत तत्त्वों से निर्मित होती है। श्रेष्ठ साहित्य में अभिव्यक्त स्वस्थ कामोपभोग की वासना इसी नैतिकता से पुष्ट रहती है : कृष्ण भक्ति सहित्य, रीतिसाहित्य, कालिदास और अमरूक का साहित्य इसी प्रकार का है।

———

युगबोध

डॉ० लक्ष्मण सिंह विष्ट

'युगबोध' शब्द 'युग' की अपेक्षा अधिक अपूर्व विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। 'युग' और 'बोध' अलग-अलग शब्द आधुनिक काल की देन नहीं हैं, उनकी चर्चा काफी समय से होती आ रही है, किन्तु 'युगबोध' शब्द की संश्लिष्ट ध्वनि आधुनिक साहित्य की देन है। 'युग' तथा 'बोध' शब्दों को सम्मिलित करके जो ध्वनि आती है, 'युगबोध' का आशय उससे नहीं मानना चाहिए। किसी युग के समकालीन व्यक्ति के बोध की मीमांसा अधिक स्पष्ट और व्याख्यात्मक ढंग से की जा सकती है। किन्तु इससे भिन्न युगबोध की व्याख्या अधिक अमूर्त और सूक्ष्म होती है।

इस निबन्ध में हम मूलत: साहित्यिक युगबोध पर विचार करेंगे। इस संदर्भ में आवश्यक है कि सांस्कृतिक प्रगति के उन तत्वों पर भी विचार किया जाय जो उससे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है। सांस्कृतिक प्रगति के साथ एक अविच्छिन्न अंग की भाँति 'प्रतिभा' शब्द जुड़ा है। प्रतिभाशाली के दो रूप हो सकते हैं–विद्रोही तथा असाधारण। दोनों प्रकार के व्यक्तियों में बीज रूप में कोई भेद नहीं दर्शाया जा सकता। दोनों प्रकार के व्यक्ति प्रतिभाशाली होते हैं, तथा अपनी शक्ति और विवेक के आधार पर समाज में परिवर्तन लाना चाहते हैं। (समाज से अभिप्राय समाज में विद्यमान पूर्व-मान्यताओं से है, जिनकी निरर्थकता प्रतिभाशाली को अनुभव होती है।) विद्रोही तथा असाधारण में अंतर इतना होता है कि असाधारण के पास विवेक-सम्पन्नता विद्रोही की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। विद्रोही प्रतिभाशाली तो होता है, किन्तु उसका दृष्टिकोण बहुत कुछ एकांगी होता है।

प्रतिभा के साथ-साथ एक और तत्व की आवश्यकता होती है, जिसे व्यक्तित्व कहा जाता है, बिना व्यक्तित्व के प्रतिभा का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि मात्र प्रतिभा व्यक्ति को बरबाद कर सकती है। जैविक विकास समझौते के सिद्धान्त पर अग्रसर होता है, और प्रतिभाशाली का एक मुख्य तत्व समझौता न करना होता है। वह समझौता भी नहीं करना चाहता और जैविक विकास भी चाहता है—फलस्वरूप प्रतिभाशाली व्यक्ति के अन्दर द्वन्द्व उत्पन्न होता है। वह सांसारिक स्थितियों का अध्ययन करता है, उनमें परिवर्तन की आवश्यकता उसे अनुभव होती है। पर सांसारिक रूप से स्वयं को वह इतना अधिक अलग पाता है कि अपने समय में निर्धारित कई स्थितियों को स्वीकारे बिना कुछ नहीं कर सकता। यहीं पर 'व्यक्तित्व' के प्रमुख तत्व 'विवेक' की आवश्यकता अनुभव होती है और जिस व्यक्ति के पास विवेक नहीं होता वह या तो विद्रोही हो जाता है, दुःखी अथवा कुंठित

हो जाता है या फिर पागल हो जाता है। विद्रोही व्यक्ति क्रांति नहीं ला सकता। "विद्रोही तथा क्रांतिकारी व्यक्ति कुछ भिन्न प्रकृतियों के होते हैं। विद्रोही उस व्यक्ति को कहते हैं जो समाज के अनुरूप नहीं चल सकता। विद्रोही अपनी स्वतंत्रता चाहता है। इसके विपरीत क्रांतिकारी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करके संतुष्ट नहीं हो जाता।"[1] क्रांतिकारी चाहता है कि वह स्वयं समाज को परिवर्तित कर दे और उसे अभिलषित रूप में ढाल दे। क्रांतिकारी एक ज्यादा कर्मठ विद्रोही होता है। विद्रोही की भांति वह अपने भिन्न मार्ग के लिए पश्चाताप नहीं करता। इतना ही नहीं, उसका यह मनोभाव होता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा ज्यादा विवेक है और यह कि उसकी सम्प्रतीति (विजन) दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

विद्रोहियों में भी दो प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं—सामाजिक तथा असामाजिक। असामाजिक व्यक्ति भी कुंठाग्रस्त होता है, किन्तु वह किसी प्रकार से कार्यरत रहता है—ऐसे लोगों में चोर, डाकू और अपराधी व्यक्ति लिए जा सकते हैं। "विद्रोही का लक्ष्य होता है अस्वाभाविक अथवा अन्यायपूर्ण प्रतिबन्धों को हटाना जब कि क्रांति का लक्ष्य होता है विभिन्न मनुष्यों के लिए उपलब्ध अवसरों तथा साधनों का पुर्नवितरण। क्रांति की आवश्यकता तब होती है जब कि नये ज्ञान तथा नये परिवेश के संदर्भ में लोगों को यह महसूस होता है कि उनकी जीवन-स्थितियों में सुधार हो सकता है, और वे लोग जो अब तक आराम तथा सुख के साधनों पर अधिकार किये हुए थे, उस सुधार की राह में विघ्न डालने लगते हैं।"[2]

प्रतिभा का आशय यहां पर 'असाधारण' से है विद्रोही से नहीं, क्योंकि विशिष्ट युगबोध को सामान्य चिंतन से अलग करके हम उसी के माध्यम से जान सकते हैं।

नर विज्ञानियों ने संस्कृति का अर्थ 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार' बतलाया है, अर्थात् वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं।[3]

सांस्कृतिक क्रिया हम किसे कहेंगे? संस्कृति तथा सभ्यता शब्दों में वैसा ही अंतर है जैसा 'युगबोध' तथा 'युग' में है। जिस प्रकार युग की अपेक्षा 'युगबोध' शब्द अधिक अमूर्त है, उसी प्रकार 'सभ्यता' की तुलना में संस्कृति शब्द भी अमूर्त व्याख्या की अपेक्षा रखता है। सभ्यता विकास-क्रम में ठहराव की स्थिति है—जहां से हम स्पष्ट रूप से संज्ञायुक्त ढंग से बात आगे बढ़ा सकते हैं—जैसे 'वैदिक सभ्यता', 'प्रागैतिहासिक सभ्यता' आदि। किन्तु 'भारतीय संस्कृति' अथवा 'हिन्दू संस्कृति' से वह ठोस ध्वनि नहीं उत्पन्न होती। सांस्कृतिक क्रिया एक विशेष समय में व्याप्त विशेष कारणों को ध्यान में रखते हुए क्रियाशील जातीय चिंतन तथा सृजन को कहा जा सकता है। डॉ० देवराज ने सांस्कृतिक क्रिया के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"सच्चे अर्थ में सांस्कृतिक क्रिया वह है जो किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र के लिए नहीं अपितु समस्त मानव जाति के लिए नये क्षेत्रों को विजय करती है।"[4]

---

१. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन (डॉ० देवराज) पृष्ठ १८८
२. वही, पृष्ठ १८९
३. भारतीय संस्कृति (डॉ० देवराज) पृष्ठ २०
४. वही, पृष्ठ १८७

प्रतिभाशाली व्यक्ति के कार्यों द्वारा सांस्कृतिक क्रिया जब अपनी एक विशिष्ट दिशा प्राप्त कर लेती है—वहां से हम एक युग को जानने लगते हैं, और जब वह अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त कर लेती है तब वह सभ्यता के नाम से पुकारी जाती है।

प्रतिभाशालियों के कार्य देश-काल तथा परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं—यह इसलिए होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृति में भिन्नता होती है। "शांति के समय में वे प्रतिभाशाली व्यक्ति जो मौजूदा व्यवस्था को स्वीकार करके चलते हैं मुख्यतः दो काम करते हैं : प्रथमतः वे उन सिद्धांतों तथा प्रक्रियाओं को स्पष्ट करते हैं जो उस व्यवस्था के आधार हैं। दूसरे विचार तथा संवेदनाओं की उपलब्ध सामग्री के आधार पर, वे समृद्ध एवं सुखी जीवन की असंख्य सम्भावनाओं का निरूपण या उद्घाटन करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार की प्रतिभा 'कलासिक्स' को जन्म देती है जिसकी प्रमुख विशेषता संतुलन है।"[१]

प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा जन-साधारण में अंतर होता है। जन-साधारण के जीने के मूल्य स्वीकृत सिद्धान्त, नारे तथा प्रतीक होते हैं, जबकि प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रतीक रूप में बंधी इन बौद्धिक धारणाओं से अधिक प्रभावित नहीं होता। उसकी क्रांतिदर्शनी दृष्टि स्वीकृत मान्यताओं तथा चिंतन प्रकारों को भेदकर समकालीन यथार्थ से सीधे सम्पर्क स्थापित करती है।

इस संक्षिप्त अध्ययन के बाद इस व्याख्यासपेक्ष निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'सांस्कृतिक क्रिया' तथा 'युगबोध' में बहुत अधिक अंतर नहीं है। केवल एक देने की प्रक्रिया है, दूसरी पाने की। युगबोध वे अमूर्त स्थितियां हैं जिसके द्वारा एक युग के चरम निर्णय हमें प्राप्त होते हैं। 'युग', कहा जा सकता है कि 'बोध' की वह स्थिति है जहां पर से विकास नहीं किया जा सकता, मात्र निष्कर्षों की व्याख्याएं दी जा सकती हैं, जबकि 'युगबोध' क्रियाशील तत्व है और उसमें निरंतर प्रगति की सम्भावनाएं विद्यमान रहती हैं। 'युगबोध' 'युग' तक उसी प्रकार पहुँचता है जिस प्रकार अनुभूति अनुभव तक पहुँचती है। हम गणित के तर्कों की भांति यह नहीं कह सकते कि यहां पर पहुँचकर युगबोध युग का रूप ग्रहण कर लेगा, उसी प्रकार जैसे यह आवश्यक नहीं है कि दो व्यक्तियों के असफल प्रेम की अनुभूति एक ही स्तर पर अनुभव का रूप ग्रहण कर ले। सम्भव है कि दोनों ही की अनुभूतियां अनुभव तक न पहुँच सकें, अथवा एक का अनुभव अनुभव हो और दूसरे का मात्र एक प्रवंचना बन जाय। युगबोध का युग के रूप में स्थापन उस समय के प्रतिभाशालियों अथवा असाधारणों पर निर्भर करता है। प्रतिभाशाली अपने युग को वैसे ही प्रभावित करता है जैसे कि युग स्वयं उसको। स्वयं प्रतिभाशाली अपने युग को दो चीजें देता है। 'प्रथमतः वह उन मूल्यों तथा प्रतीतियों को जो उसकी समाज की चेतना में ग्रथित हैं, स्पष्ट अभिव्यक्ति देता है, दूसरे अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उपयोग करते हुए वह अपने युग की अनुभूतियों, समवेदनाओं तथा क्रियाओं के नये, अधिक सन्तोषप्रद संस्थानों का संकेत करता है।"[२] जो प्रतिभाशाली जितना ही अधिक बड़ा होता है, वह अपने युग की अनुभूतियों

१. वही, पृष्ठ १९०
२. वही, पृष्ठ १९७

का उतना ही अधिक विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण कर पाता है, और उसके द्वारा किये हुए समन्वय, पुनर्गठन तथा नवीन संस्थानों के निर्माण उतने ही अधिक विशाल तथा जीवन दिशा को परिवर्तित करने वाले होते हैं।

डॉ० देवराज ने इतिहास में प्रतिभाशाली के पार्ट को शतरंज के खेल के एक दृष्टा की उपमा दी है[1], जो समय-समय पर निपुण सुझाव तो दे सकता है किन्तु जिस खिलाड़ी को वह सुझाव देता है उसके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि उस सुझाव को मानकर चले। खिलाड़ी, दृष्टा के सुझाव को तभी मानेगा जब उसे यह विश्वास होगा कि वह सुझाव उपयोगी है और यह भी कि उस सुझाव को ग्रहण करके वह आगे साहस के साथ उसका निर्वाह करता चला जायगा।

इस प्रकार युगबोध प्रतिभाशाली व्यक्ति के व्यक्तित्व की शक्ति के अनुसार निर्मित सांस्कृतिक चेतना के ही समान है। जिस प्रकार अनुभूति का अनुभव से, संस्कृति का सभ्यता के साथ सम्बन्ध है, प्रायः उसी प्रकार का सम्बन्ध युगबोध का युग के साथ है।

———

१. वही, पृष्ठ १९९

संस्कृतरूपकाणां विकासेऽनार्यो प्रभावः

डॉ० कृष्णकुमार

संस्कृतरूपकाणामुद्भवो विकासश्च कथं समजनि इत्यत्र न विद्वांस ऐकमत्यमुद्वहन्ति। अनेकैः विद्वद्भिरस्मिन् विषये विविधाः मतयः सन्धार्यन्ते। नाट्यशास्त्रस्य प्रणेता भरतो मुनिः नाट्यानामुत्पत्तिं ब्रह्मणः प्रतिपादयति। तत्र स कथामेकामुद्घाटयति—

"सकले देवाः महेन्द्रं पुरस्कृत्य त्रेतायुगस्य प्रारम्भे ब्रह्माणं समुपेयिषुः, वयं दृश्यं श्रव्यं च क्रीडनीयकमिच्छाम इति न्यवेदयंश्च। अकथयंश्चायं वेदव्यवहारः सर्ववर्णसंश्राव्यो वर्तते, अतः सार्ववर्णिकः पञ्चमो वेदो विरचनीयः।[1] ब्रह्मापि चतुर्भ्यो वेदेभ्यः सामग्रीजातं गृहीत्वा नाट्यवेदरूपकं रूपकं रचितवान्।"[2]

परमाधुनिकैः समालोचकैरेतस्मिन् भरतवाक्ये न तथा श्रद्धा विधीयते, यथा प्राचीनैः भारतीयकविभिः। संस्कृतसाहित्यप्रभावप्रभावितैः पाश्चात्यविद्वद्भिः नवीनरूपेण साहित्यालोचनपद्धतिराविष्कृता। भारतीयपरम्परासु तथैव विश्वासं न कृतवन्तस्ते भारतीयसाहित्यालोडनेनान्यानि प्रमाणानि संगृह्य स्वविचारान् प्रतिपादयन्ति। एवं च मैक्समूलरमहोदयेन भरतकथनमनादृत्य संस्कृतरूपकाणामुत्पत्तिः ऋग्वेदस्य संवादसूक्तेभ्यः प्रतिपादिता, सिलवनलेवीमहोदयेन च मैक्समूलरविचाराणां समर्थनं कृतम्।[3] परं भारतीयः समालोचकः एस. एन. दासमहोदयो नैतस्य मन्तव्यस्य समर्थने काञ्चन सहानुभूतिमाधत्ते। तेन प्रतिपादितं यन्न ऋग्वेदस्य संवादसूक्तेषु रूपकाणां किञ्चिदपि मूलं सन्निहितं, न च तत्र रूपकसम्बन्धी कश्चिदपि पारिभाषिकः शब्दो दृश्यते।[4]

पिशेलमहोदयेन संस्कृतरूपकाणां मूलं पुत्तलिकानृत्येषु समुद्धारितम्। तत्कथनानुसारं पुत्तलिकानृत्येषु संचालकरूपेणोपस्थितौ सूत्रधारसंस्थापकावेव रूपकेषु सूत्रधारसंस्थापकरूपेण संचालकौ बभूवतुः। लूडर्समहोदयः छायानाटकेभ्यः संस्कृतनाट्यानामुत्पत्तिं कल्पते महाभारतान्महाभाष्याच्च स्वप्रमाणानि स्थापयति। वेवरमहोदयानुसारं संस्कृतरूपकाणां विकासे ग्रीकप्रभावो विशिष्यते। स प्रतिपादयति यद् भारते रूपकाणां रचना ग्रीकसम्पर्केण प्रभाविता

---

१. महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामः दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥ भरतनाट्यशास्त्रम् १.११-१२॥

२. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ भ० ना० शा० १.१७॥

३. Sanskrit Drama by Keith पृ० ५७

४. History of Sanskrit Literature by S. N. Das Gupta.

प्रोत्साहिता च । संस्कृतरूपकाणामभिनये जवनिका (यवनिका) प्रयोगः यवन (ग्रीक) सम्पर्केणैव विकसित इति तस्य विदुषः मतिः । एवमेवान्ये केचन समालोचकाः संस्कृतरूपकाणां विकासं शकसम्पर्केण समुद्भूतं प्रतिपादयन्ति । परं कीथमहोदयेन सर्वेषामेव समालोचकानां युक्तिपरम्पराणां समालोचना विस्तरशः कृता । सर्वेषामपि तत्त्वानां लेशा अत्र सम्भाव्यन्ते इति मत्वापि स संस्कृतरूपकाणामुद्भवमभिनयात्मकेभ्यो ब्राह्मणानां धार्मिकानुष्ठानेभ्यः प्रतिपादयति ।[1]

संस्कृतरूपकाणामुद्भवे विकासे चानार्यप्रभावो बलीयान् इत्यनेकेषां समालोचकानां प्रतिपादनम् । भारतवर्षेऽस्मिन् प्राचीनकाले आर्याः अनार्याश्चेति द्विविधाः जनाः प्रतिवसन्ति स्म । तत्र अनार्याः (आर्येतरा जनाः) नृत्यगीताभिनयादिषु कलासु परां प्रवीणतामापन्ना आसन् । ऋग्वेदवर्णितभरतगणेन सह सम्बन्धितो भरतमुनिरनार्येषु प्रयुज्यमानायाः नाट्यकलायाः सौन्दर्येण मनोहारित्वेन चातिशयेन प्रभावित आसीत् तस्यां च तस्यानुरागोऽप्यतिशयेन समभूत् । अतएव ब्राह्मणत्वाभिमानिनः ऋषयोऽप्रसन्नाः सञ्जाताः, तैश्च स भरतः शूद्रजातिषु परिगणितः, इति भरतनाट्यशास्त्रे एव प्रतिपादितम्[2], इति जागीरदारमहोदयस्य सम्मतिः । स लिखति—"रूपकाणां विकासः वेदविरोधिनी ब्राह्मणविरोधिनी च प्रवृत्तिरासीत् । आर्यवंशीयैः ऋषिभिः निराकृतेन भरतेनैकोऽनार्यो राजा नहुष आश्रितः । नहुषनाम्ना महीपतिना प्रोत्साहितो भरतस्तस्य राज्ये रूपकाणामभिनयं प्रारब्धवान् इति तेषां मतम् । अपि च, संस्कृतरूपकाणामभिनयेषु सूत्रधाराणामतिशयेन महत्त्वं विद्यते । इमे सूत्रधारा एवाभिनयानां रङ्गस्थलीषु सञ्चालनं कुर्वन्ति स्म । एते सूत्रधाराः सूताः स्थपतयो वापि कथ्यन्ते स्म । सूतानां कुशीलवैः (गायकैः) सह घनिष्ठः सम्बन्धः समजति । सूताः शूद्रजातीया आसन् न च ते आर्यवंशीयाः । इमे सूता एव कुशीलवानां साहाय्येन संस्कृतरूपकाणां विकासं चक्रुः ।[3]

इन्दुशेखरमहोदयः संस्कृतरूपकाणामुद्भवे द्रविडप्रभावं विशेषरूपेण समुद्घाटयति । स लिखति—पाश्चात्यसमालोचकैः यदा संस्कृतनाटकानामुद्भवविषये स्व विचाराः तत्प्रतिपादकानि प्रमाणानि स्थापितानि, तदा सिन्धुघाटीसभ्यता अज्ञानान्धकारगहनावरणावृतासीत् । न कोऽपि जनोऽस्याः सभ्यतायाः विषये किञ्चिदपि ज्ञानं निदधाति स्म । परं मोहेन्जोदड़ो-हड़प्पादिप्रदेशेषु भूमेरुत्खननानन्तरं पञ्चसहस्रवर्षपूर्वविद्यमानायाः सभ्यतायाः परिचयः पुरातत्त्वविद्भिरधिगतः । भूमेरुत्खननमिदं तत्र शास्त्रीयनृत्यानामस्तित्वमपि तत्कालीनं प्रतिपादयति ।[4] पुरातत्वविदां मतेनात्र प्रदेशे पुरा द्रविडजातीयाः जनाः निवसन्ति स्म, तेषां

---

१. Sanskrit Drama by Keith पृ० १३, ७२

२. ऋषीणां ब्राह्मणानाञ्च समवायेऽथ सङ्गमे ।
निर्ब्रह्माचरणा भूत्वा शूद्राचारा भविष्यथ ॥
शूद्रास्ते केवलं भूत्वा तत्कर्म समवाप्स्यथ ।
यश्च यो भवतां वंशः स च शूद्रो भविष्यति ॥ भ० ना० शा० ३६. २५-३६ ॥

३. The Drama in Sanskirt Literature, by Zagirdar, पृ० ४१

४. Sanskrit Drama—It's Origin and Decline, by I. Shekhar, Introduction P. XIV.

चातिविकसितायाः सभ्यतायाः प्रसारः सूदूरदेशेषु समुद्रानप्यतिक्रम्य प्रसरित आसीत् । प्रागैतिहासिकसमये द्रविडसभ्यतायां सर्वोन्नतशिखराधिरूढायां सत्यामार्याः अस्मिन् देशे प्रवेशं चक्रुः । ते च वर्तमानपञ्जाबप्रदेशात् तत्कालीनमूलनिवासिनः कोलकिरातादीनार्येतरान् विद्रावयामासुः, तं च प्रदेशं स्वाधीनं चक्रुः । तदा तेषां सम्पर्कः सभ्यतरैः द्राविडैः सह समजनि । आर्याणामार्येतराणां द्राविडानां च परस्परसम्पर्के सञ्जाते द्राविडैरार्याणामनेकासां परम्पराणां ग्रहणं कृतम् । आर्यैरपि द्राविडानामनेकाः परम्पराः स्वीकृताः । आर्यैः द्राविडानां देवता अपि ग्रहीताः । शिवो मूलरूपेण अनार्याणां द्राविडानां देवतासीत् । तस्य प्रिया भगवती पार्वत्यपि द्राविडानामेव देवता, इति बहवः पाश्चात्यसमालोचकाः तदनुयायिनश्च भारतीय-विद्वांसश्च प्रतिपादयन्ति । आर्यैरेते देवते स्वदैवतपेरूण गृहीते स्वीकृते च ।[1] शिवपार्वत्योः भारतीयनाट्यशास्त्रेषु नृत्यायाभिनयाय च निस्सन्देहेनातिशयेन महत्त्वं विद्यते । अतः संस्कृतनाट्यानामुद्भवे विकासे च द्राविडानामार्येतराणां प्रभावः निश्चयेन विद्यते । सम्भवतः अस्मादेव हेतोः तत्कालीनैः ब्राह्मणैः नाट्यानां वैधता न तथारूपेण हृदयेन स्वीकृता[2] । भरतमुनिं प्रति ब्राह्मणानां तथाक्रोधप्रदर्शनं, भरतस्य च अनार्यराजस्य नहुषस्याश्रयण-स्वीकरणमेतदेव प्रमाणयति । इत्थमिन्दुशेखरमहोदयः संस्कृतनाट्योद्भवविषयकानि विविधानि मन्तव्यान्यालोच्य प्रतिपादयति यत्संस्कृतरूपकाणामुद्भवो विकासश्च न वैदिकसाहित्यमपेक्षते। भारतीयसंस्कृतिविकासक्रमे यथा आर्यैः सह आर्येतराणामपि विशेषो योगः सञ्जातः तथैव संस्कृतरूपकाणां विकासेऽपि आर्याणामार्येतराणामपि च संयुक्तो प्रयासो दरीदृश्यते[3] ।

परं विचारणीयोऽयं विषयः यत्संस्कृतरूपकाणामुत्पत्तिरार्येतराणां द्राविडानां संयोगेन सम्पर्केण चैव सञ्जाता तेषां वास्मिन् विषये किं महान् योगो विद्यते ? एतन्मन्तव्यं प्रति-पादयन्तो विद्वांसो रूपकाणामनार्यराजाश्रयत्वं ब्राह्मणविरोधभावं चातिशयबलीयस्त्वेन पश्यन्ति, नहुषं चार्येतरराजत्वेन मन्यन्ते । जागीरदारमहोदयेन नहुषो विशेषरूपेण आर्येतरराजत्वेन प्रतिपादितः, अस्य शब्दस्य "न हवते यज्ञं करोति इति स नहुषः" इत्यर्थव्युत्पत्तिप्रकटीकरणात् । परं किं नहुषो वस्तुत आर्येतराणां राजासीत् ?

महाभारतकृतवर्णनानुसारं नहुषः आयुषो पुत्रो ययातेश्च पितासीत्[4] । इमौ द्वावेव राजानौ चन्द्रवंशीयावास्ताम् । अतः नहुषोऽपि चन्द्रवंशीय आर्यो राजासीदित्येव निश्चयः।

---

१. Sanskrit Drama—It's Origin and Decline, by I. Shekhar P. 24

२. Born of pre-Aryan parentage, brought by epic traditions, the Sanskrit Drama with it's component parts of music and dancing could not breath free air in a predominantly Brahmanical atmosphere.
Sanskrit Drama by I. Shekhar, Introduction P. XXI

३. Thus Indian Drama appears to have an indipendent origin and growth as an organism that was continually in the process of evolution till the days of it's decline. At best it could, perhaps, be the joint work of the Aryans and Non-Aryans, who in subsequent years jointly subscribed to the evolution of Indian Culture.
Sanskrit Drama by I. Shekhar पृ० ५९-६०

४. महाभारत आदिपर्व ७०.२२-२३

मोनियरविलियममहोदयेन स्वसम्पादिते शब्दकोशे नहुष आयुषो पुत्रः ययातेश्च पिता आर्यवंशीय एको राजा निर्दिशितः[१]। एवमेव आप्टेमहोदयेनापि स्वसम्पादिते शब्दकोशे नहुषश्चन्द्रवंशीयो राजा निर्धारितः[२]। ऋग्वेदेऽपि नहुष आयुषो पुत्रत्वेन वर्णितो वर्तते[३]।

पौराणिकपरम्परानुसारेण नहुष एको पराक्रमशाली महानार्यवंशीयो राजासीत्। देवा अपि तस्य महात्म्यं स्वीकुर्वन्ति स्म। वृत्रहननानन्तरं ब्रह्महत्यापापभयेन देवराजे इन्द्रे तिरोहिते सति देवैः ऋषिभिश्च स नहुषो राजा इन्द्रासनेऽभिषिक्तः। देवान् प्रशासत् स स्वर्गे भरतप्रयुक्तानां रूपकाणामभिनयानां मनोहारितयातिशयेन प्रभावितो बभूव। इन्द्रसभायां प्रयुक्तानां नाट्याभिनयानां रसनिर्भरत्वादानन्दजनकत्वात्, तेषामभिनयानां प्रयोगस्तेन भूमौ स्थितेषु स्वप्रासादेष्वपि भरतमुनिना कारितः। एवमत्र मृत्युलोके रूपकाभिनयानामाविर्भावो बभूव। नास्ति काचिदप्यत्रानुमितेः सम्भावना प्रतीतिर्वा अनार्यत्वस्यावैदिकत्वस्याब्राह्मणत्वस्य वा। कथं वानार्यजातिविरोधिनो मुनयो देवाश्च कञ्चनानार्यराजं देवराजपदेऽभिषेक्तुम् साहसमपि कर्तुं विचारयेयुः ?

ऋग्वेदेऽनेकेषु स्थलेषु नहुषशब्दस्य प्रयोगो दरीदृश्यते। कतिपयैः विद्वद्भिरत्र नहुषशब्दस्य भ्रान्त्युत्पादिका व्युत्पत्तिः कृता, नहुषश्च राजा आर्याणां विरोधित्वेनार्येतरराजत्वेन च गृहीतः। अत एवैषा भ्रान्तिर्जनिता। यदि वस्तुतो नहुषो नृपतिरार्याणां विरोधी आर्येतर आसीत्, तत्कथं स दैवैः ऋषिभिश्चेन्द्रासनेऽभिषिक्त आसीत् ? सायणेन नहुषशब्दस्य ऋग्वेद-व्याख्यायां 'मनुष्याद्' इति अर्थो निहितः[४]। अनेकेषु अन्येष्वपि स्थलेषु प्रयुज्यमानो नहुषशब्दो न कुत्रापि आर्येतरोऽयं राजेति व्याख्यां व्यनक्ति।

शिवोऽनार्यो देवः, स च नृत्याभिनयादीनां विशेषेण प्रयोजकः, अनार्योऽयं देव आर्यैः स्वदेवरूपेण गृहीतस्तस्य च प्रभावेण संस्कृतरूपकेषु नृत्यानां प्रयोगः समजनि, एवं चार्येतराणां नृत्यानां प्रयोगः संस्कृतरूपकेषु वर्तते, इति ये प्रतिपादयन्ति, तेऽपि न युक्तियुक्तमतप्रति-पादयितारः। प्रथमं तावच्छिव आर्येतराणां देवतेत्येव न सिध्यति निस्सन्दिग्धरूपेण। वैदिक-साहित्ये शिवस्य महिमा अतिशयेन वर्णितो वर्तते। पौराणिकसाहित्ये शिवः कैलासनिवासी प्रतिपादितः। त्रिविष्टपप्रदेशवासी स देवः कथं द्राविडानामेव हिमालयादतिदूरनिवासिनामार्ये-तराणां सम्भवति। मोहन्जोदड़ोप्रदेशादिषु प्राप्तासु नृत्यमुद्रामूर्तिषु उत्कीर्णितं स्वरूपं द्राविडदेवतायाः शिवस्यैव, स च आर्याणां देवता समजनि, इति केनापि प्रमाणेन न सिध्यति, तत्र केवलं समालोचकानां केषांचनानुमानजनिता कल्पनैव। अपरं च, संस्कृतरूपकेषु नृत्यानामेव न तथा महत्त्वमवलोक्यते येन तेषु नृत्यानुरागिणामार्येतराणां सम्पर्कप्रभावता साध्येत। भरतप्रणीते नाट्यशास्त्रे नृत्यनृत्तादीनां विशदविवेचने सत्यपि संस्कृतरूपकेषु तेषां प्रयोगोऽतिविरलतयैव लभ्यते, अतः नृत्यसमावेशाधारमवलम्ब्य, संस्कृतरूपकाणामुद्भवो

---

१. मोनियर विलियम कृत संस्कृत-इंग्लिश शब्दकोश (१८९९) पृ० ५३२

२. वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत-इंग्लिश शब्दकोश (द्वितीयोभागः) पृ० ८८३

३. त्वामग्वाये प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम्।
इळामकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत् पुत्रो ममकस्य जायते ॥ ऋग्वेद १.३१.११ ॥

४. स दुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसान आ साविषदर्शसानाय शरुम्।
स नृतमो नहुषोऽस्मत्सुजातः पुरोऽभिनर्दहत् दस्युहत्ये ॥ ऋ० १०.९९.७ ॥

विकासश्चार्यार्येतराणां संयुक्त एव प्रयास, इति कथं साधयितुं शक्यते ? सा च मस्तिष्क-कण्डूकण्डूयितॄणां सुदूराधिरूढा कल्पनैव ।

अन्यच्च, यदि अन्धपरम्परान्यायेन संस्कृतरूपकेषु आर्येतरप्रभावत्वं स्वीक्रियेतापि, तदपि न युज्यते, यतः प्राचीनसंस्कृतरूपकेषु कुत्राप्यार्येतरसंस्कृतिसभ्यतयोः छायापि नानुभव-विषयीभवति, न च तेषां महत्त्वं कुत्रापि प्रतिपादितं कविभिः । सर्वत्रैव आर्यजातीया वैदिकी ब्राह्मणसंस्कृतिरभिव्यज्यमाना प्रतिभाति । भरतनाट्यशास्त्रे नाट्याभिनयानां सार्ववर्णिक-प्रतिपादनात् शूद्रविद्विषां ब्राह्मणानां भरतमुनिविरोधो विलक्ष्यते, तदवलोक्यैव समालोचकैः भरतमुनिनहुषाश्रयत्ववर्णनं दृष्ट्वा च नहुषः अनार्यराज इति कल्पना सम्भवतः कृता । संस्कृतरूपकाणि चार्येतरप्रभावसंयोग-विकसितानि च साधितानि । अतः मिथ्यैव कल्पना-धुनिकानां कतिपयानां समालोचकानां यत्संस्कृतरूपकाणां विकास आर्याणामार्येतराणां च संयुक्तः प्रयासः । वस्तुतः संस्कृतरूपकाणां विकासः आर्यजातीयैरेव कविभिः ऋषिभिश्च स्वतन्त्ररूपेण सम्पादितः ।

Historiography In Ancient India

Gautam N. Dwivedi

Ancient Indians have been often charged with neglect of history and the charge is not wholly unfounded. Not that India had no history in the sense of memorable events. India had a rich past. Her contributions to world history and world culture are fully recognized. But recorded history leaves wide gaps in our knowledge of that past. Neglect in this regard is unfortunate in proportion to the greatness of India's past achievement.

It is hard to explain the general neglect of history and historical writing in pre-Muslim India. More regrettable is the indifference to chronology and to historical detail, particularly biographical. These deficiencies have been widely noted by Indian and foreign scholars and stand in somewhat sharp contrast with the attention paid to history by the Greeks, the Chinese and the Muslims. "India has no history", wrote Sylvain Levi. Another perceptive French scholar has observed : "Thought in this country (India) seems to have a distaste for history. The exact details of human happenings interest it no more than the laws of nature."[1] Karl Marx in a somewhat different context said that India had no history, except a history of conquests. The inconvenience caused by the lack of reliable historical data can be appreciated only by those who research in ancient Indian history or those who have to meet searching questions by foreigners concerning it. Life and work of such outstanding Indians as Buddha, Chandragupta Maurya and Śankara are envelopped in a mass of legends. The poet Kālidāsa is a good example. Next to nothing is known about when he has born and where he lived and worked. His age and authorship are still subjects of endless debate. Under these conditions, history becomes a guessing game, and those poorly trained in the historical discipline are apt to make wild guesses.

Life of the common people in a given century has to be inferred from religious and legal literature, or sometimes from mere stories like the Buddhist Jātakas, less precariously from the gift-deeds made to Brahmans and others. All those well-known categories of history in the West-constitutional, administrative, social, economic, and intellectual—are just absent or can be pieced together in the vaguest fashion from slender evidences. Chronology which is justly regarded as the backbone of history is our weakest point in ancient India. Some rulers used their regnal years, e. g., Asoka. Others gave dates in their records in current eras without specifying the era, while still other completely omitted to give any date.

No adequate explanation has so far been given for this traditional neglect of history. One that is frequently offered is India's predilection to philosophy and her transcendental outlook. The Indian mind was preoccupied with moral values and eternal verities rather than temporal events. Rise and fall of states, individual achievement, and material prosperity or decline were viewed as transient phenomena, not worthy of record. What is a century in a timeless process in which the only

thing that mattered was the soul's quest for perfection? A more plausible explanation is that ancient Indians had a different view of history from ours. History was essentially a story with a moral. Its function was broadly social and moral, and so was the historian's standpoint. But this, on the one hand, blurred the borderline between fact and fiction, ideal and actual; on the other hand, it reduced the utility and independence of history. Strangely, this view resembles another frequently expressed today that good history should promote patriotism, or the view tenaciously held in communist societies that whatever fits in with the Marxist interpretation is history. A final explanation is the climate which may account for the loss of genuine historical works and documents.

Ancient Indian historical materials available to us may be divided into four classes:

1. The Purāṇas and the two epics—the Mahābhārata and the Rāmāyaṇa. The Purāṇas were based on authentic data such as royal genealogies and dynastic lists, historical narratives (Itihāsa, Ākhyāna), legends and old stories (Purāṇa) and heroic ballads and hero-lauds (Gāthā, Nārāśaṃsī). These were also the constituents of the two epics. Itihāsa and Purāṇa are generally grouped together. It is now recognized that "the royal genealogies in the Purāṇas embody many genuine historical traditions of great antiquity."[2]
2. Inscriptions, from the oldest Asokan group to the end of the medieval period. This category includes documents of great historical value: notably the edicts of Asoka, the Girnar inscription of Rudradāman and the Allahabad inscription of Samudragupta. The Asokan epigraphs stand in a class for directness, simplicity and modesty.
   In this category also we may consider the large number of land-grants on copper plates issued by princes, mostly to Brahmans. They supply a good deal of incidental and circumstantial information.
   The legends on coins and seals are historical documents.
3. Historical biographies of medieval India. The examples are: Bāṇa's Harṣacarita and Vikramāṅkadevacarita by Bilhaṇa. Most of these are official biographies by court poets and have the merits and defects of that class of literature.
4. Compositions with an avowed historical purpose.
   Kalhaṇa's 'Rājataraṅgiṇī' is a rare example of this rare group.

Additionally, one may note the anecdotal literature, e. g., Somadeva's Kathāsaritsāgara, the Buddhist Jātakas and Avadānas, and the Jaina Prabandhas.

It must be added that all these four classes are materials of history rather than history proper in the sense of a critical, unified and synchronized view of the events. Whatever facts or evidence they

supply have to be carefully examined and compared before they can be accepted as historical,

Brief comments may now be offered on each category of historical literature noted above.

The Itihāsa-Purāṇa literature had grown in close connection with religious literature and had been handled by the Brahmans, especially the Bhrigu-Āṅgirasa group of priests.[3] Their standpoint was religious and traditional. For some unknown reason, the Purāṇas do not carry forward the historical narrative beyond the rise of the Gupta dynasty. The dynastic accounts dry up. One explanation is that the Purāṇas received their final redaction in the 4th century and were thereafter appropriated for religious purposes. However, from the beginning the Purāṇas were a miscellany including cosmogonic myths, dynastic accounts, and legends connected with gods, sages and sacred places. With all these shortcomings the Purāṇas are the only authentic historical literature of ancient India. From the Gupta period onwards royal inscriptions increasingly replace the Purāṇas as historical accounts, the latter now being utilized for religious instruction mainly.

Royal inscriptions and eulogies (praśastis) form the principal historical records of medieval India. These documents were executed by an officer named as 'dūtaka' and were based on official and dynastic records maintained in the state archives or in the offices of the Keeper of records (akṣapaṭalika) and the Chief of Land Survey (mahā-pramātāra).[3a] This class of documents increasingly moves from simple statement to hyperbole, with the passage of time. There were two limiting factors : the available writing space on stone or copper-plate was small, and the favourite medium was poetry rather than prose. A third important factor was that these eulogies were official : their purpose was the glorification of the ruling monarch. Poets vied with each other in praising their patrons with exaggerated flights of fancy. Tendency to exaggerate was deplorable. Medieval epigraphs abound in hyperbolic claims and fantasy. Often the claims of conquest are ridiculous.

The net effect of all this is that the historical tradition changes into bardic and there is progressive erosion of the historical sense.

There are some interesting features and literary conventions associated with these medieval inscriptions :

1. Both the earth (mahī) and the goddess of royal fortune (lakṣmī, rajya-śrī) are conceived as beautiful goddesses who lovingly choose to embrace the winning prince and then become, so to speak, his wives.

2. The conquest of the four quarters is an essential qualification of a 'chakravartin'. It was probably Yaśodharman of Mālava (c. 525–535 A. D.) who set the fashion of claiming the farthest limits of each quarter of the known earth (i.e. India), viz., from the Hima-

layas to Mahendra (a southern mountain) and from the Lauhitya river (Brahmaputra) to the western ocean. Such claims were not meant to be taken literally.

3. A brave prince usually scatters all his enemies like so much chaff. Not only the enemy but his women too are terrified from a distance !

4. Princes are usually compared to the great kings of antiquity: Prithu, Mandhātā and Bharata.

The trouble with these exaggerations is that fact is often mingled with fiction. An indecisive contest may be claimed as total victory and a minor achievement enlarged to a glorious feat. Mention of actual personalities and geographical landmarks provide a further snare for the unwary reader. Misplaced local patriotism of scholars may accept some claims as true, however improbable, merely because the claims have been asserted.[4] There is thus no way to extricate this substance of truth, if any, from conventional statements and poetic exaggerations.

All these exaggerations were entirely well meant. The object was praise, not history. It would be a poor poet who showed a poor fancy, or stuck to drab historical facts. What a distance Indian history had travelled from Asoka's simple 'dharmalipis' to these grandiloquent 'praśastis' ?

Often, land-grants are the only source of dynastic history. While these supply much circumstantial evidence regarding society and administration, they are sometimes tantalizingly silent on crucial points. Thus, for instance, nearly 150 land-grants of the Maitrakas of Valabhī throw little light on their foreign relations, or the rise and fall of Valabhī.

As for medieval historical biographies like Harshacharita, Professor V. S. Pathak[5] has well brought out the literary conventions followed in this class of literature, as well as the authors' purpose and standpoint. The narrative is unfolded in five set stages culminating in the final and supreme achievement : the winning of Sovereignty (rājyaśrī). Pathak would regard even Harsha's discovery of his sister, Rājyaśrī, as symbolic, and the horoscope of Prithviraja III as fictitiously modelled on that of Rāma. He argues that each age views history differently. The historian of medeival India sought to idealize and rationalize facts, and interpret them in terms of myth and romance, a procedure which was perfectly rational and satisfactory for him, as history.

It is indeed arguable that the truth of poetry and art, of folk-lore and folk memory, is very different from the truth of science and scientific history. Yet each is truth in its own sense. A people may remember its past as a man remembers his boyhood, in many different ways. It can be loyalty and romantic attachment to the tradition as a whole rather than concern for individual facts.

In the last group, Kalhaṇa is surprisingly modern in his outlook. But his materials were imperfect and even he mixes up chronology and sometimes resorts to vague and chauvinistic statements.[6]

From the standpoint of the modern critical historian of the West,

Masson-Oursel has some very perceptive observations to offer, and a few explanations, on the historical dificiency of ancient India. He says : "Ancient India has no Thucydides, nor even a Herodotos, nor a Ssu-ma Chien and that is why our knowledge of it is so uncertain that hardly a single date can be determined without Greek or Chinese evidence. The interest which this civilization takes in its ancestors is not that of dispassionate curiosity but that of loyalty." "Thought in this country seems to have a distaste for history. The exact details of human happenings interest it no more than the laws of nature...Lacking any notion of historical objectivity comparable to our own, the Hindus blend imagination with facts, and their historians are usually poets."[7]

Finally, he gives the usual psychological explanation : "The pursuit of transcendent ends, quite outside the natural order, and often contrary to nature, doubtless helped to divert men's minds from interest in facts,...(from) objective investigation seeking the laws of facts in the facts themselves." But then, he adds, "the positive spirit is quite recent and very limited."[8]

We should remember that even for Western Europe critical history begins with the dawn of the modern era, with Vicco and Machiavelli, and with the critical examination of texts and historical documents which developed during the Renaissance. But, since the Renaissance there have been vast changes in historical thinking, and in the objects, methods and philosophy of history. There has been constant refinement of the historian's tools. Critical history has also developed in the positive atmosphere of the sciences. And yet it is strange to reflect : how young is our search for pure truth ! Earlier generations in India or elsewhere may be excused for mistaking the nature and purpose of history.

To sum up : the neglect of history in ancient India may be traced to three major causes :

1. Absence of a tradition of historiography and historical criticism. Though Itihāsa-Purāṇa was sometimes eulogised as the fifth Veda, to supplement the other four[9], it enjoyed a low priority, and was not included among the six Vedāngas, as a major Vedic study. By contrast, ancient Greece, China and Iran had a long-established and well-sustained tradition of historiography.

   In Greece particularly the heroic, bardic, tradition matured into a genuine historical tradition. In the case of India, either this never happened, or the historical tradition again relapsed into the bardic one, in medieval times.

2. Indian civilization has been always dominated by the Brahmans. Their religious and philosophical outlook was indifferent to chronology and historical details. They were also unfortunately the only literate class and custodians of history, as of all knowledge. They, as a class, must be held primarily responsible for the neglect of history.

3. Preference given to ornate poetry over the simple prose narrative made history a plaything of poetic fancy and rhetorical tricks, at the expense of truth. A prose medium might have served the cause of history better.

Contributory factors to the loss of history were : the climate, fragile writing materials, and political vicissitudes.

Additional Note :

A few suggestions may be useful to the young researcher in history.

1. Even if it is true that each country and age has a different view of history, our standpoint today can only be modern, rational and scientific, at least as far as historical analysis and the criteria of truth are concerned. We can no longer follow a Herodotos, a Firdausi, or a Bāṇa, in their view of history. Scientific knowledge today transcends national boundaries.

2. The older and more contemporary a statement, it is naturally more reliable, though not necessarily.

3. The observation of Professor D. C. Sircar that "there is always a considerable amount of exaggeration in the royal 'praśastis' composed by the court poets of Indian monarchs" should be noted.[10] Professor Sircar offers two more significant guidelines :

A. "Although often the word 'earth' was used to indicate the dominions of even a petty ruler, the expression 'whole earth' was used to signify the kingdom of an imperial, or at least an independent, monarch."[11]

B. "Although the 'cakravarti-kṣetra' comprised the whole of Bhārata-varṣa, the claim of the conquest or rule over it on behalf of a historical monarch must naturally be regarded as conventional. Numerous Indian rulers are actually known to have made the claim; but, in none of the cases, the king in question can be taken as the lord of the whole of the Bhārata-varṣa extending from the Himalayas to the Indian Ocean. These kings were rulers directly of only a part of India, although conventionally they claimed suzerainty over the whole of the country. Sometimes contemporary rulers are found to make similar claims !"[12]

4. Much of the rhetoric may be treated as such, and may be safely left out of consideration, except when,

(a) a number of independent sources, friendly or hostile, support the claim to victory or conquest,[13] or when,

(b) a victory is attributed or conceded by a hostile source.[14]

5. One-sided claims should be judged strictly on the basis of probability. The historian has to accept them provisionally and critically, unless there is evidence to the contrary.[15]

6. In many medieval inscriptions, the expressions like 'the goddess of Fortune herself chose him' or 'he acquired sovereignty with the strength of his own arms' need not be taken to mean either that the prince had no hereditary claim, or that there was a contest for the throne or finally that he achieved any sort of a 'dig-vijaya'. In judging such conventional statements and literary clichés, the assumption of rationality on our part is misplaced. Clichés often have no meaning.

7. Where a prince claims to have overrun or subdued a series of

countries, the list is often vague and suspect.[16] Such claims cannot be accepted without precise and supporting evidence. Such claims are probably an indication of active foreign relations or alliance, on either side, not of conquest, necessarily. Where the enemy is directly named, the claim is likely to be true, unless controverted by the enemy.[17]

Instead of attempting elaborate identifications of countries and places claimed to have been conquered, and then building superstructures of guess work, historians should simply state and take note of such claims.

However, such is the paucity of evidence in most areas of ancient Indian history that no evidence can be rejected out of hand. The problem for the critical historian is to sustain an unrelenting sense of evidence, and to separate the element of truth from conventional rhetoric. But, it is important that both he and his reader are aware of the pitfalls.

Bibliography :

Basham, A. L., Wonder That Was India (Sidgwick and Jackson, London, 1954, 1967)

Masson-Oursel, P., Ancient India (Routledge & Kegan Paul, London, 1934, 1967)

Pathak, V. S., The Ancient Historians of India (Asia, Bombay, 1966)

Sircar, D. C., Geography of Ancient & Medieval India (Motilal Banarasidas, 1960)

Warder, A. K., Indian Historiography (Monograph of the Dept. of Indian Studies, University of Toronto, Indian edition, Popular Prakashan, Bombay, 1972)

Notes and References

1. Masson-Oursel, Ancient India, p. 22.
2. Pusalker, in the Vedic Age, p. 271.
3. Sukthankar, "The Bhrigus and the Bhāratas" (Critical Studies, Memorial edition, p. 280) ; Pathak, Ancient Historians of India, pp. 13-14.

3a. Yuan Chwang refers to Ni-lo-pi-tu (Nīlapiṭas) and writes :

"As to their archives and records, there are separate custodians of these. The official annals and state papers are called collectively 'Ni-lo-pi-tu' ; in these, good and bad are recorded and instances of public calamity and good fortune are set forth in detail." (Watters, p 154) It is clear that state records existed in his time and bore some resemblance to the Chinese gazetteers.

For the elucidation of the terms 'dūtaka' etc., see also, Tripathi, History of Kanauj, 140-42 and The Classical Age, pp. 254-55.

4. For instance, the Khalimpur inscription of the Pāla king Dharmapāla mentions that a number of kings bowed at the feet of the former during his coronation ceremony at Kanauj. But from this vague list the inference has been drawn that Dharmapāla "by a series of victorious campaigns made himself the suzerain of nearly the whole of Northern India." (Age of Imperial Kanauj, p. 46) The Monghyr copper of Devapāla, his successor, claims that "the empire of Devapāla extended from the Himalayas to Rāmeśvara Setubandha in the south." There is no precise evidence to support these large claims.

5. Ancient Historians, pp. 28—29.

6. Cf. the two following verses on the discomfiture of Yaśovarman (Rājat. Bk. IV, 135, 144)

   मतिमान् कान्यकुब्जेन्द्र : प्रत्यभान् कृत्यवेदिनाम् । दीप्तं यत् ललितादित्यं पृष्टं दत्त्वा न्यषेवत ॥
   r. 135

   कविर्वाक्यप्तिराजश्री भवभूत्यादिसेवित: । जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिबन्दिताम् ॥
   r. 144

7. Ancient India, p. 209, p. 22,

8. Ibid. p. 210.

9. इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥

10. Sircar, Studies in Ancient & Medieval Geography, p. 2.

11-12. Ibid. p. 4; p. 7.

13. For instance, the victory of Nāgabhata II in the battle of Munger is supported by four independent, but allied, sources. (Age of Imperial Kanauj, p. 26).

14. For instance, the success of Vatsarāja against the Lord of Gauda is reported by a Rāstrakūta source. (Ibid. p. 22).

15. For probability, cf. note 5
    The Kalachuri king Karṇa claims to have defeated the lord of Kuntala (i.e. Someśvara I) who however claims to have utterly destroyed the power of Karṇa (Majumdar, Ancient India, p. 324)

16. There are numerous examples. Some claims may be genuine, often partly.

17. See note 15.

———

The Sound Of Sense And The Music Of Poetry
A Study Of Frost's "Birches"

M. S. Karki

Frost's first volume of poems *A Boy's Will* (1913) published from England is a collection of lyric poems. The second volume *North of Baston* (1914) is a collection of blank verse dialogues and monologues. But the last poem "Good Hours" of this volume foreshadows the dominantly lyric trend of the subsequent volumes. The present article attempts at a brief appreciation of Frost's lyric poetry by taking up a detailed analysis of "Birches". For the end in view and to start with, the following remark in his letter of 4th July, 1913 has a special relevance :

> "...*I am one of the most notable craftsmen of my time...I am possibly the only person going who works on any but a worn out theory (principle I had better say) of versification. You see the great successes in recent poetry have been made on the assumption that the music of words was a matter of harmonized vowels and consonants. Both Swinburne and Tennyson arrived largely at effects on assonation. But they were on the wrong track or at any rate on a short track...I alone of English writers have consciously set myself to make music out of what I may call the sound of sense.*[1]
>
> [*underlines mine*]

The above remark makes it apparent that Frost's lyric poetry has grown as a reaction to the 'musical notation of verse' popularised by Tennyson and Swinburne in England and Poe and Lanier in America. Frost has, time and again, shown his indifference to the poets of what Yeats called 'tragic generation'. Once in an interview, Frost said, 'Swinburne's line is the humming kind of meter' who writes conventional poetry without real feeling piling on the epithets that appeal to the eye.[2] In another interview, Frost quoted the following lines from Swinburne :

> *When in disgrace with fortune and men's eyes*
> *I llalone besweep my out cast state*
> *And trouble deaf heaven with bootless cries*
> *And look upon myself and curse my fate.*[3]

"What do we hear in such a poem ?" he questioned and himself answered, "we hear meter, rhyme and vowel sounds."[4] Then he gave a kind of advice. "We should avoid Swinburne's over concern with vowels, his 'vowelling', vowels should not receive too much of attention, or we may fall into the error of loading the line with broad vowels."[5] In the same vein, Frost observed that in Lanier's 'musical notation of verse' "all the tones of human voice in natural speech are entirely eliminated, leaving the sound of sense without root in experience."[6]

Unlike the aim and achievement of Swinburne, Lanier and the poets of 'tragic generation', Frost's aim was not to write poems with sing-song quality by the mere arrangement of harmonized vowels and

consonants. He had consciously set himself for making music out of 'the sound of sense'. An appreciation of Frost's lyric poetry necessarily implies an understanding of the fact that poetry is not literally music. It is only the music that spoken words can make—no more no less. In an interview with Carl Wilmore, Frost said, "the music of poetry is not like the music of an instrument. It is something different. Music in poetry is obtained by catching the conversational tones which are the property of vital utterances."[7] This kind of music, in Eliot's words, is "a music latent in the common speech of its time."[8] Strangely enough we find Frost and Eliot to have stated the same thing, of course, in different set of words. Eliot, together with being a great poet, is also a great critic writing voluminous prose, while Frost shunned to write it except occasionally. Eliot's prose having an explanatary character proves occasionally helpful in elucidating Frost. Of the immediate use is Eliot's hypothesis :

> "*We can be deeply stirred by hearing the recitation of a poem in a language of which we understand no word. But if we are then told that the poem is gibberish and has no meaning, we shall consider that we have been deluded—this is no poem, it was merely an imitation of instrumental music.*"[9]

"The sound is the gold in the ore,"[10] wrote Frost in his preface to *Complete Poems* entitled "The Figure a Poem Makes." This analogy of the sound to the gold in the ore suggests the inseparability of sound and meaning in poetry. In terms of Frost's analogy : to have the sound out alone will be tantamount to dispensing with the meaning as if inessential. Pope's famous sentence 'The sound must seem an echo to to sense' reveals in a significant way that pure sound apart from its sense is an abstraction. Meaning in poetry always being a great consideration, the sound of a poem is a vehicle to its meaning, though in a perfect poem sound is as much the meaning as the meaning is the sound. Frost would thus agree with T. S. Eliot's concept of a 'musical poem' being :

> "*a poem which has a musical pattern of sound and a musical pattern of the secondary meanings of the words which compose it, and that these two patterns are indissoluble and one.*[11]

As an elucidation of this theoritical concept of music of poetry, "Birches", a lyrical idyll written in blank verse (of loose iambic pentametre lines) has been chosen for an analysis. This poem's choice is firstly because thus is 'one I [Frost] am very fond of'[12] and secondly because a phonograph record of the poem as it is read by the poet himself is available. Cook remarks on the poem that "as a blank-verse monologue, it is fast-moving; it rollicks. And its effect is just as moving as its pace"[13] on the particular quality of fast-movement, Brower too remarks, "the life of the poem, ever fresh, runs through the unbroken span of the verse, which *will* not be stopped until the end, and which carries the voice through a series of upward and downward swings re-enacting the movement of thought."[14]

The strong pauses and transitions of the voice break the poem into three parts of 19-20 lines each (the last part being of 19 lines) and the refrain effect marks the three phases of the experience :

Part I Lines 1-20. *The poet-narrator describes the ice-loaded birch trees on a sunny winter morning after a rain, when they click upon themselves and turn many-coloured as the stir cracks and crazes their enamel. Soon the sun's warmth makes birches shed crystal shells and heaps of ice falling on the snow crust like avalanches. The ice-loaded birches arching their trunks in the woods with leaves trailing on the ground are likened to girls 'on hands and knees' drying their hair in the sun.*

Part II Lines 21-40. *It narrates a boy ('far from a town to learn baseball') who had himself found his only play of swinging birches, by which he could play alone summer or winter by riding the birch trees one by one and by riding them down repeatedly had taken out their stiffness. The boy by keeping a remarkable poise climbed the tree carefully and on reaching the top 'flung outward, feet first with a swish,/ kicking his way down through the air to the ground.'*

Part III Lines 41-59. *In this part, there is a shift from objective description to subjectivity. The poet-narrator says that he himself was a swinger of birches and dreams of going back to be (a swinger) when weary of considerations on the painful life. He would like to get away from the earth by climbing a birch tree toward heaven far a short while and then come back—repeating this process of going and coming back.*

There are two divisions in the poem if heard on the level of tone characterising the poem. From the beginning to the end of fortieth line, the tone colouring the poem is of an excited, passionate narrative-description and from line fortyfirst to the end, the voice assumes a general tone of reflective melancholy. This movement of tone in "Birches" is commensurate with the emotion being expressed and parallels Wordsworth's "The Daffodils" (the joyous reminescent description of the daffodils in the first three stanzas and the vacant or pensive mood of the last stanza).

"Birches", as a sure standard of achieved form of poetry of talk, opens abruptly in a direct, unpretentious way with a stress on 'what'. Unlike a Swinburne or a Lanier poem where the music is a line by line matter, this poem is marked by the transitions between passages of greater and lesser intensity giving a rhythm of fluctuating emotion essential to the structure of the whole. After opening abruptly, the slow movement of the voice far nearly 4½ lines suggests a walking pace and from the mid of 5th line the increasing speed of the rhythm suggests galloping and as the lines :

> *...they click upon themselves*
> *As the breeze rises, and turn many-colored*
> *As the stir cracks and crazes their enamel.*
> *Soon the sun's warmth makes them shed crystal shells*
> *Shattering and avalanching on the snow-crust—*
> *Such heaps of broken glass to sweep away*
> *You'd think the inner dome of heaven had fallen*

are spoken, the rapidly shifting pace and the rushing voice suggests the running speed. A few rhythmic pauses and oral breath patterns towards the lines 20-25 seem to clog the rapidity of the voice movement but

these rhythmic pauses help to perceive more distinctly the rhythmic swiftness characterising the following lines :

One by one he subdued his father's trees
By riding them down over and over again
Until he took the stiffness out of them,
And not one hut hung limp, not one was left
Far him to conquer.

In the III part (lines 41-59) the change in the tone from the excited narration to reflective melancholy suggests a kind of changed direction with much slowed speed. When the lines :

It's when I'm weary of considerations,
And life is too much like a pathless wood
Where your face burns and tickles with the cobwebs
Broken across it, and one eye is weeping
From a twig's having lashed across it open,

are spoken the voice movement becomes slower and the tone graver. If the first forty lines sound on a note of 'animal joys of my boyhood days' the rest of the lines have a tone of 'still, sad music of humanity.'

A glance on the poem will reveal that not only the words of colloquial English but the order of words such as 'when I see birches bend to left and right', 'I like to think...', 'you may see...', 'I should prefer...', 'As he went out...', 'I'd like to get away', 'I don't like to get away', 'I don't know where...' 'I'd like to go' is also based on idiomatic phrases of common speech. By the time Frost wrote "Birches" he had developed a conviction that words have no intrinsic literary characters since they are not used in laboratory like isolation. They are neither beautiful nor ugly in themselves, intrinsically neither displeasing, nor delightful. Every word has instead a range of possible effects varying with the conditions into which it is received, and its music and meaning arises from its relation first to the words immediately preceding and second to the words immediately following, and indefinitely to the rest of the context. Frost with his formula of 'common in experience' as applied to "Birches" counts upon his reader's having seen birch trees 'loaded with ice a sunny winter morning after a rain'. With this familiarity he gives iridescence to the common words with the help of the imagination. The lines

...they click upon themselves
As the breeze rises, and turn many-colored
As the stir cracks and crazes their enamel,

have almost an onomatopoeic effect. Versed in country things and with his attentive observation, Frost describes a young birch tree cracking its outer sheath of green colour with clicking sound and showing the white beneath. Swinburne's attempting at creating onomatopoeic effect by his line, "Fills the shadows and windy places/with lisp of leaves and ripple of rain" and Tennyson by his "murmuring of innumerable bees and the moan of doves in immemorial elms" suggest vague and indistinct phenomenan. Since their concern is more with word-music than with the sense, they please the ear but only by putting heavy demand on the reader's credulity. In "Birches" the word 'click'

in the context, in its sound and meaning, being followed by 'cracks and crazes' in conjunction with the repetition of 'r' sound creates an effect of onomatopoeia. The words 'clicks' 'cracks' and 'crazes' are soon followed by the even more onomatopoeic "shattering and avalanching". The word "shattering', in ordinary sense, is commonly used and associated with the breaking to pieces of a brittle article but Frost has heightened and made it poetic in this context as he has done the same in "once by the Pacific" (The shattered water made a misty din"). "Avalanching" in the same way, has its richness in association with avalanches rolling down a snowy mountain. The snow, loaded on the leaves and branches of birches, starts melting with the heat of the sun and shatters like a glass-piece. No sooner does it shatter than, together with it, heaps of ice fall down on snow-covered earth like miniature avalanches. The words such as 'clicks', 'crazes', 'enamel', 'snow-crust', 'crystal', 'shattering' and 'avalanching' befit the excited narrative of the speaker and illustrate best what Frost has theorized, "in poetry and under emotion every word used as 'moved' a little or much—moved from its old place, heightened, made, made new."[15]

The repetition of similar or the same words in musical sound-patterns (as 'sumer or winter', 'one by one', 'over and over', 'not one'), the recurrence of verbal blocks of about the same size and shape (as 'by riding them...out of them', 'not one but hung limp, not one was left for him...', 'he learned all...to learn about', 'clear to the ground... air to the ground', 'upto the brim, and even above the brim'), an impression of continuity in a cyclical movement, the surge and ebb of the voice in the run over lines blurring line-endings, display a feat of music but it is the sound of fundamentally expressive human voice.

The foregoing analysis of "Birches" is meant as to how the part represents the whole or at least suggests the whole. Frost's making music out of 'the sound of sense' or 'conversational tones' is linked up with the twentieth century revolution in poetry has emphasized a distinct type of poetry : poetry that is spoken. Eliot has aptly observed that it would be a mistake to assume that all poetry ought to be melodious as "most poetry in modern times is meant to be spoken."[16] What a modern poet in modern times has to do is "not to sing but say. Not poetry but conversation."[17] Frost's describing himself as being "on one of the scales between two things—intoning and talking. I bear a little more toward talking".[18] highlights the qualities of his lyrics that blend dramatic tone and more regular melody—a fusion of speech and song. In the lyrics, as Cook puts it, Frost "has raised the speaking voice to the level of poetry, not by transcribing common speech but by using words at the pitch of their natural intensity."[19] The use of the dramatic method (for capturing the tones of speech), the effortless spontaneity, and the imitations of the tones and transitions of conversation in Frost's lyrics show them much in common with the songs of Donne, Herrick, Ben Jonson, Blake, Wordsworth, Browning and Yeats.

References

1. *Selected Letters of Robert Frost*, Lawrance Thompson ed., Holt, New York (1964), p. 79.
2. *Interviews with Robert Frost*, Edward Connery Lathem ed., Holt, New York. (1966), p. 26.
3. "On Vocal Imagination : The Merger of Farm and Content", p. 520.
4. Ibid., p. 521.
5. Ibid., p. 521.
6. *Interviews*, pp. 25-6.
7. *Interviews*, p.
8. *On Poetry and Poets*, Faber and Faber, London (1960), p. 31.
9. Ibid., p. 30.
10. *Complete Poems of Robert Frost*, Holt, New York (1967), p. v.
11. *On Poetry and Poets*, p. 33.
12. Recorded by Cook in *The Dimensions of Robert Frost*, Rinehart, New York (1958), p. 109.
13. Ibid.
14. *The Poetry* of *Rcbert Frost* : *Constellations of Intention*, O. U. P., New York (1960), p 21.
15. *Sellected Letters*, p. 141.
16. *On Poetry and Poets*, p. 32.
17. Doren, Mark Van, *Introduction to Poetry*, p. 77.
18. Recorded by Cook in *The Dimensions*, p. 65.

———

Demographic Indicators And Fertility Patterns Of U. P. Hills*

Dr. G. C. Pande

I. An Attention to Demographic Studies

It is an undeniable fact that of all problems confronting mankind today, none is more grave than human uncontrolled fertility and refusing an immediate attention to it shall indeed spell unthinkable disaster to mankind specially in Asia. Even since Second World War an explicitly noticed trend of declining mortality coupled with stable high birth rate has rung an alarm in all the developing countries. It has been more so with reference to India. Distinguished thinkers[1] like P. K. Wattal, R. K. Mukerjea, Gyanchand, S. P. Jain, N. V. Sovani, S. Chandrasekhar, D. Ghosh, Kingley Davis etc. focused their attention to assess the problem and to search ways and means to curb this alarming tendency during early forties. Planning Commission[2] in independant India also suggested immediate action for accurate studies on the factors contributing to rapid increase in population. This followed formation of special Committee for advising the Government and move for demographic research took momentum. Efforts from all quarters[3] were concentrated on the studies on fertility behaviour of females in India. Voluminous works have sprung up on these lines so far and a great deal of enthusiasm has been shown by scholars both Indian and foreign. In spite of this it has largely been felt that organisations have mostly adopted regional approach in their entire programme extending in the major areas of demographic, communication and medicinal research. The main regions investigated are Kolhapur, Poona, Nasik, Surat, Kolaba, North-Satara, Mysore, Calcutta, Madras, Kerala, Gorakhpur, Hyderabad, Kanpur, Delhi and Lucknow. There has evidently been a clamouring gap in these programmes with regard to estimation of fertility and assessment of demographic structure in northern parts of U. P. specially hill areas. It would be relevant here to point out that Himalayan region has some special demographic feautures and a scientific study of these regions in this context would go a long way to understand these problems in wider reference. The present paper attempts to assess the demographic pattern and fertility differentials in Kumaon and Garwal divisions of nothern U. P. Before coming to the study of Hill regions, it is necessary to give a background to the typical demographic features of India.

II. Fecundity, Fertility and Birth-frequencies in India

It is commonly agreed that only married women between the age of first consummation and close of menopause are in fertile age group and are responsible for procreation. The reproductive capacity may

---

* The author is grateful to Dr. S. K. Agarwal, state demographer U. P. Lucknow, for discussion on this paper and for his valuable suggestions.

depend on (a) fecund cycles,[4] (b) the length of fecund cycles, (c) level of fertility. Fecundity may be measured if all females throughout their entire child bearing period would indulge in coitus with procreative men and would do nothing to prevent conception or use abortion. Fertility in our sense refers to the actual number of pregnancies conceived except those thrown aside by induced abortion. The total period of reproduction available to ladies in India, if they complete it unobstructed by widowhood, separation or other natural deformities, may extend over 30 years, taking 15 years as age at marriage and 45 years as close of menopause. During this gap, if she completes it, she may give birth to 6 or 7 children on average whereas this number may be 2.6 in U. K., 2.4 in U. S. A. and 5.2 in Japan.[5] The gap between fecundity and fertility is greater in developed countries due to wide prevalence of artificial contraception. The average of 30 years of child-bearing age is not the actual average duration of fertile union in India. Average duration of fertile union is 17.4 as the mean age at nuptials of females in India is 17.0 and mean age at widowhood is 34.4. The effective marriage union excluding separation and divorces is only between 17 years age to 34 years age.[6] Roughly, age at menarche is between 13 to 14 years and at menopause 40 to 43 years in India.[7] Dr. Hannah and Abraham have proved that fertility of women starting from puberty gradually rises to heights in twenties and diminishes slowly towards early thirties and falls steeply in the later part of thirties.[8] Prof. Mamoria has found that out of 40 births per thousand females per year in India, 8 are first births, 16 are second births, 23 are third births and 17 are births of higher order.[9] Social restrictions on widow marriage are highly significant in India in controlling the birth rate by turning the fertile period into sterile ones.

III. Demographic Indicators of Kumaon and Garhwal Divisions

The present study covers four former districts of northern U. P., namely Nainital, Almora, Pauri and Tehri Garhwal. Total population of these districts was reported as 20,37,790 in 1961 which constitutes roughly 3.76 percent of the population of U. P. in the same year. The region occupies 8.09 per cent area of the State. The intra-regional distribution indicates that 31 per cent of its population is in Nainital district, 28 per cent in Almora, 24 per cent in Pauri and 17 per cent in Tehri Garhwal. Increase in population of this total region during 1951-61 has been 26.47 per cent as compared to 16.66 per cent rate of increase in U. P. during the same period. One of the main reasons of this spiral has been refugee rehabilitation[10] in southern tehsils like Kichha, Kashipur, Haldwani and Nainital. The respective percentage increase in population in these tehsils (1951-61) has been 136.88, 73.72, 49.17 and 20.36. Net survival rate of this entire region is 23.65 per thousand population, birth rate[11] being 35.87 and death rate being 12.22. Considerable control on Malaria and invigorating climate may be reliably accepted as factors explaining for lesser death rate. The sparsely populated hills can absorb this net survival rate. The border districts should always be dressed with population. It is significant also from the standpoint of supply of gun-fodder to rational defence. This rate of increase is higher than 16.65 obtaining in U. P.[12] Regarding rural-urban distribution[13] it is relevant to note that urban centres[14] are

newly coming-up in these areas and urban population constitutes only 8 per cent of the entire population. These areas are known for sparse population due to typical nature of the tract.[15] Average density here is 221 (sq. m.) as compared to 648 (sq. m.) in U. P. The sex composition of population in these districts is 999 females per 1000 males as compared to 941 in India and 909 in U. P. according to Census 1961. By rural-urban distribution, figures indicate greater preponderance (1036 females in rural and 670 in urban) of females in rural population. In fact such features are found everywhere with reference to hilly topography.[16] The marriage is universal and the mean age at marriage of females is 14.08 and 19.2 in case of males. This pattern of early marriages is believed to have considerable bearing on fertility pattern of the area. The age structure is relevant to analyse the future trend of population. It is understood that high birth rate tends to affect the population by way of placing percentage of children and, to the contrary, year to year diminishing birth rate brings high percentage of adults and eventually aged persons. This does not, however, rule out major effect of mortality and immigration. Sundberg's[17] age categories afford a rule thumb measure of trend in population. In the region under study these 0-14 years form 45.14 per cent of population. According to available expert estimates[18] 58.5 per cent males and 55.5 per cent females participate in labour force in these divisions. Census figures (1961) indicate 57.02 per cent population in working force. The female participation labour force is typically higher in Kumaon[19] as compared to only 18.1 per cent females participating in work force in U. P. This feature very often forms a basis for hunch in explaining the lower birth rate in this division. But it may be kept in mind that in agrarian economics the women participate freely in economic activities carried in and about the home and this function is easily combined with that of bearing and rearing of children. The fact actually may lie in the true reporting by guileless hilly people in Census enquiries which is generally avoided in wider plains in accordance with prevalent taboos there. The preponderance[20] of females in rural Kumaon (evidenced in Hill regions of Kumaon) may also be explained by the temporarily migrating tendency mostly affecting the males. The distribution of sample population according to economic status has indicated 19.07 per cent population as earners, 34.64 per cent as earning dependants. Investigation on activity status reveals the data to categorise 25.21 per cent population as own account workers, 1.43 per cent as employees, 30.07 as unpaid domestic workers and 43.29 per cent as non-workers. Composition of rural sample households shows that only 2.25 per cent are single-member households, 25 per cent are nuclear or single couple households, 37.50 per cent are only vertically extended while the rest 35.25 per cent are both vertically and laterally extended households.[21] In urban sector, the distribution in these categories is different, 16 per cent are single member-households, 40.4 per cent are nuclear type, 28 per cent are vertically extended while 15.60 per cent are vertically and laterally extended households. These indicators mark the special stronghold of joint family system in rural sector. The average size of households is 5.2 in rural and 4.7 in urban areas.

IV. Hypotheses

The present study covers 400 households consisting 608 ever-married females of rural sector. The occupational background is

agricultural. The fertility of these ever-married females has been estimated by enquiry on field. A note on methodology and sample design is given in Appendix. Main variables applied here are social class groups based on caste traditions of the area, age-group of ever-married females and income group of the households of these ever-married females. The hypotheses to be tested here is the general impression that (a) the lower-caste groups have greater fertility ; (b) the lower caste females marry at lower age than upper caste females ; (c) there is greater incidence of abortion, miscarriage and still births in lower caste females ; (d) the main fertile age ranges between 17 to 35 years of age so if the age at marriage is shifted upward significantly the level of average fertility will tend to fall ; (e) the ever-married females households having lower income have higher fertility and with the rising level of income the average fertility of ever-married females falls; (f) marriages of females in lower income brackets are at lower age than those in upper income brackets.

V. Mean Age at marriage*

Analysis of date has revealed that the age at marriage of females marks significant variation by caste. An interview with 166 ever-married females of upper caste has indicated that mean age at marriage of females in upper caste is 15.80. Table 1 appended herewith shows that the mean age at marriage of middle caste females is (13.54) significantly lower than the upper caste. A similar difference may be traced in the mean age at marriage of the lower caste females (13.00). The difference between lowest and upper caste is evidently remarkable. It may be noted that in upper caste groups the education of girls has a greater emphasis than middle or lower castes. Moreover, the system of dowry is also common among the upper caste traditions which has a bearing on late marriages. If the education of girls is practised with more emphasis in rural sector, the mean age at marriage is bound to be postponed which will in turn reduce the duration of fertile union. Travancore Enquiry[22] on fertility has found that average number of children born per family diminish with increase in age at marriage of female. Fertility of ladies, if married between 10 to 15 years, is 7.0 ; between 15-20 years it is 6.5 ; between 20-25 it is 5.0 and at 30 or over it is 3.6.

The mean age at marriage analysed according to income brackets has revealed that the ever-married females in households having annual income below Rs. 2400/- have a mean age at marriage of 13.90 which is less than 14.1 average obtaining among ever-married females of households having annual income between Rs. 2401 to 6000 forming the middle income group. The ever-married females in upper income group (whose income ranges between Rs. 6001 and above) have 15.70 years as the mean age at marriage. The overall average for the sample female population (608 ever-married females) it comes to 14.08 years as may be studied in table 3 in Appendix. We may conclude that if the real income increases the average age at marriage will have an inclination towards reducing the duration of fertile union. In 1954-56 Prof. D. N. Majumdar of Lucknow University found in Kanpur that child birth index for women marrying before 15 years was 4.5 and for those

* Date of first consummation is taken as the date of marriage.

marrying between 15 to 19 years it was 4.1 while for others marrying after 19 was 2.8. A large number of thought-provoking contributions[23] have come on age at marriage recently yet sample survey at country level is wanting on this score.

VI. Fertility

The present study has taken the number of pregnancies conceived on average by ever-married females during the fertile union as fertility. The study of live children has also been attempted to has correct estimates. Taking caste as variable, it has been observed that the average number of pregnancies is 3.35 per ever-married famale in upper caste group. Fertility is lowest in middle caste group (3.11). The lowest caste group has the average fertility per ever-married female of 3.38. The overall average fertility, thus, may be ascertained as 3.22 childen per ever-married female in the region under reference. Table 1 shows the distribution of pregnancies in each caste group. The inter-social strata differentials in fertility do not mark remarkable proportions particularly between upper and lowest strata. The differences in mean age at marriage, though these are not considerably wide, as shown in Table 1, do not seem to make significant difference in the level of fertility. The variation in the level of fertility between middle and lower caste groups is evident.

VII. Fertility by Age of Ever-married Females

The data relating to ever-conceived pregnancies after marriage by ever-married females under sample have been analysed according to various age groups of ever-married females. Social class-wise distribution of pregnancies of ever-married females in age categories has been presented in Table 2. An observation of these figures indicates that below 15 years of age, average number of pregnancies conceived is 0.50 in upper caste, 0.44 in middle caste and 0.66 in lowest caste. The average in aggregate is 0.50 at this level. Between 15 to 17 years of age of ever-married females average fertility is 1.00 in upper caste, 0.66 in middle caste and 0.80 in lower caste. The total average of this age group is 0.79. Between 17-20, ever married females of upper caste have 1.75 pregnancies on average, while the same average is 1.21 in middle caste and 1.33 in lower caste. The overall average of this age group is 1.38 ever-married females of age group (20-25) have 2.17 pregnancies on an average. The respective averages are 2.12 for upper caste, 2.14 for middle caste and 2.33 for lower caste. The most significant group however, is 25 to 35 years of age where the level of fertility is 3.58 in upper, 3.08 in middle and 3.29 in lower caste. On an average the level of fertility at this age of 35 years for all castes together is 3.25. Towards the last group the ladies of upper caste have 3.71 pregnancies and the respective average for middle and lower caste ladies are 3.86 and 4.39. The average in aggregate here is 3.92. At the close of menopause the average fertility for ladies of upper caste in 4.50, middle caste is 4.29 and lower caste is 4.45. At this level average including all caste groups is 4.39. These figures clearly reveal that average fertility of ladies in Kumaon and Garhwal regions is already lower than the corresponding counterparts in other parts of our country. For illustration, in Bengalore ever-married females of 45 years have 5.7 children in city areas, 6.7 in town and 5.0 in rural areas;

VIII. Fertility and Income

An attempt has been made to ascertain if there is any relationship between income differentials [24] and fertility differentials. Data presented in table 3 in the appendix indicate that among the ever-married females hailing from households having annual income below Rs. 2400/- have the average fertility of 3.21. The average fertility of the relatively better off section, having annual income between Rs. 2400-6000 is 3.13. This is significantly less than 3.21 average fertility of lowest income bracket. But then the strange fact is that the average fertility of considerably well off class (whose annual income ranges between 6000 and above) is 3.75. This is a prognosis suggesting facts contrary to the hypothesis that higher income is associated with lesser fertility. The figures in Table 3 indicate a haphazard pattern. This is, however, a strange contradiction with the conclusions of N. S. S. 2nd and 4th round Couple Fertility Studies 1955 which indicate a progressively falling fertility with increase in per capita household expenditure per mensum. It is reasonable here to say that at least in initial stages of increase in income the level of fertility does not indicate any significant fall. The overall picture of fertility levels in rural Kumaon and Garhwal is that fertility in these areas is very lower than other regions. A Survey[25] of 6 villages conducted during 1958-60 by Delhi School covering 1452 ever-married females shows fertility as 7.0 at 45 years age and urban areas in Chandrawal (1966) indicated average fertility nearing 6.4 for women at 45 years of age, while in our study it is only 4.39 in the region in our reference. In another study of Mysore, where the type of dwelling was taken as index of economic status of the family, analysis found a positive association between completed fertility and upper class status. Rural women living in huts had 4.4 live births and women living in thatched roof mud houses had 4.5 live births and those with better houses had 5.0 live births. Similarly, wives of agricultural labourers had 4.0 live births as compared to 4;7 of better off cultivators and 5.1 of well off large cultivators.[26]

IX. Termination of Pregnancies

Analysis of data on reported pregnancies has been useful to derive relevant information about live births. The reported data on termination of pregnancies reveals that the relative incidence of uninduced abortions, miscarriages and still births, is little in upper caste ever-married females as compared to middle caste ever-married females. The highest incidence, however, is among the ladies of lowest caste-group. Only 0.36 per cent of pregnancies in upper caste ever-married females result in abortion and miscarriage. Incidence of miscarriages and abortions is 0.49 per cent in middle class and 0.52 per cent in lower caste groups. Similarly the incidence of still births is also 0.29 per cent of total pregnancies among middle caste and 0.26 per cent in lower caste ladies. The upper caste has the highest (99.64 per cent) live births as percentage of total pregnancies in this group. Overall average shows 0.46 per cent pregnancies of ever-married females under sample resulting in miscarriage and uninduced abortions. 0.20 per cent of pregnancies result in still births. The data may be seen in Table 4 in the Appedix:

X. Live Children

The Table 5 appended here indicates the highest incidence of

mortality after birth in lower caste group. There seems to be under reporting of died child but the incidence of under reporting is the same in all groups. It may be recalled that the abortions of uninduced nature and miscarriages have been more frequent in the lower caste. The incidence of mortality has been in case of 0.72 per cent live births in upper caste, 1.08 per cent in middle caste and 4.00 per cent in the lowest caste. Overall average of mortality among children after birth has been to the order of 1.03 per cent total live births. Higher incidence of mortality among lower caste people may be ascribed to their miserable standards of living and insanitary conditions of life. These lower caste people are known as *doms* or untouchables. They were aboriginal inhabitants[27] who were later conquered and subjugated by *khasas* and reduced to abject serfdom and slavery. They occupy nearly same status even today.[28] The interlocked system of socio-economic stratification[29] forms a special feature of the region. Dr. Majumdar[30] has also found same predominant characteristics in Chakrata tehsil.

Number of living children per ever-married female in caste groups indicates 3.31 average in upper, 3.05 in middle and 3.30 in the lower caste groups. The overall average number of living children per ever-married female is 3.17 for the entire region under sample. This shows considerably lesser number in hill regions as compared to 5.3. (weighted average for all communities) in Bangalore city, 5.6 for other towns of Mysore and 4.8 children for three rural zones.[31] In Central India the averages vary from 4.4 to 4.5 varying with the types of families according to Mr. Driver.[32]

XI. Conclusions

The analysis in the foregone pages concludes that the fertility does not seem to have any positive correlation with the caste status of ever-married females in the society. Though the average fertility of lower caste ever-married females (3.38) is slightly higher than that of upper caste ever-married females (3.35) yet in the middle caste ever-married females (3.11) fertility has been reported significantly lower than both upper and lower caste groups. This first hypothesis, thus, needs further investigation with greater coverage and with reference to more variables like education of the ever-married females, participation in labour force, living conditions, income and occupational background. The discussion in the body of this paper has proved the second hypothesis. Among the lower caste groups the mean age at marriage of females is lower than the higher castes. This may also be studied further with reference to other variables. The third hypothesis is proved with greater element of confidence. Not only the incidence of uninduced abortions, miscarriages and still deaths is more common in lower caste ever-married females but the mortality after live birth is also significantly high. The number of pregnancies conceived during 17 to 35 age group is the highest so any postponement of age at marriage shall prove as effective tool in bringing the birth rate lower but the such postponement shall be significantly effective when the mean-age at marriage is pushed beyond 20 to 25 years. The fifth hypothesis does not seem to be established with reference to the income brackets studied here. At initial stages of increase in income the fertility seems to have rather a pattern reverse to hypothesis, i. e. the ever-marriedfe males in highest income bracket have highest fertility. Number of live births is also

higher in well off section of the society here. While on the one side, the mean age at marriage of ever-married females of upper income group is higher, on the other the same group of ever-married females have highest fertility. These issues need further investigation in greater detail and wider reference to frame a dependable conclusion. This study is only a tentative thought thought to the appropriate line of approach. A lot of work is needed ahead. A significant fact that is revealed here is that the pattern of fertility in the Himalayan area is different from rest of the country. Fertility index in Kanpur for Hindu ladies was 7.0 and for Muslim women it was 8.0 in 1954–55. Driver[34] in course of his village studies in Central India found this index as 4.6 in 1958 while in Hill regions of U. P. it comes to 3.22.

Of late, family planning programme has been gaining popularity in this region, in the narrow sense of having more vasectomies, sterilizations and loop insertions. The emphasis on such vasectomy and tubectomy operations should concentrate more in the areas infested with higher fertility. Acceptance of loop for spacing is a healthy sign.

References

1. Poineering works were, P. K. Wattal's *Population Problem in India*, 1934: *Papers presented in All India Population Conferences* 1936 and 1938 ; R. K. Mukerjea's *Food Planning for Four Hundred Millions* ; Gyanchand's *India's Teeming Millions*, 1939 ; S. P. Jain's *Relationship between Fertility and Economic Status in Punjab*, 1939 ; N. V. Sovani's *Population Problem in India*, 1942, S. Chandrashekhar's *India's Population Facts and Policy*, 1946; D. Ghosh's *Pressure of Population and Economic Efficiency in India*, 1946 ; Kingley Davis' *Population of India and Pakistan* and so many other illuminating works of Health Survey and Development Committee (1943) under Joseph Bhore and Population Committee under W. M. Yeatts (1944).

2. Planning Commission, *First Five Year Plan*, 1951, p. 528.

3. Studies by Delhi School ; Gokhale Institute, Poona ; All India Institute of Hygiene, Calcutta ; Indian Statistical Institute, Calcutta ; National Sample Survey, 2nd and 4th rounds are of great interest. Creation of Family Planning Board in 1956 and Demographic Training and Research Centre, Bombay accelerated the move for studies at faster rate. Besides the ten famous demographic centres of India, office of Registrar General of Census Operations, India, New Delhi, Institute of Applied Manpower Research, New Delhi, Social and Preventive Medicines Department of King George's Medical College, Lucknow and other prominent institutions are engaged in active research work on varying aspects of manpower, morbidity, fertility, family planning, urbanisation etc.

4. Kuczynski, R., *The Measurement of Population Growth*, pp. 1-2.

5. Mammoria, C. B , *Social Problems and Social Disorganisation in India*, 1960, p. 10.

6. Agarwal, S. N., '*Mean Duration of Fertile Union in India*', Report of 6th International Conference on Planned Parenthood, 1960 p. 40.

7. Peters, H. and Shrikhande, S. M., 'Age at Menarche in Indian Women', *Fertility and Sterility*, 1957, Vol. VIII, No. 355; and also see Patterson, S. J., 'Onset of Menstruation', *Journal of Medical Women's Federation*, 1957, pp. 39-177.
8. Hannah and Abraham Stone, *A Marriage Manual*, 1953, p. 170.
9. Mammoria, C. B., 'Population Growth and Birth Rates in India', *AICC Review*, January 4, 1962.
10. Pande, G. C., 'Economy of Kumaon', Ph. D. Thesis, Lucknow University, Lucknow, 1969, p. 121. Also see 'Upland Economy of Kumaon : Diagnostic Study', *The Thinker*, Vol. I, 1970, pp. 9-34.
11. Punjab has lowest birth rates so also death rates. Hosiarpur 32 BR, 10 DR, Gurdaspur 34 BR, 9 DR, Kapurthala 27 BR, 7 DR, Rupar 27 BR, 8 DR ; Sangrur 23 BR, 6 DR. See Report, Government of Punjab ; E. S. O., *Socio-economic Review of Punjab*, 1967-68, p. 9.
12. Husain, I.Z., 'Report on Divisional Demographic Features and Projections of U. P., 1961-81', Memeographed, Lucknow University, Demographic Research Centre, p. 40.
13. For special features of urban settlements, see J. M. Clay, *Nainital*, and Pande, G. C., 'Employment and Unemployment Trends in Nainital', Agra University Thesis, 1960.
14. Census of India, 1961, Vol. XV, U. P., Part IIA, *General Population Tables*.
15. For how nature of the tract affects density is illustrated in U. N. Report *Determinants and Consequences of Population Trends*, Geneva, 1953, pp. 165-166.
16. NCAER, *Techno-economic Survey of Assam*, 1961, p. 10. Also see, UNESCO, Research Centre, *Rural-Urban Differentials in Southern Asia*, Delhi, 1964, p. 105.
17. According to Sundberg the Population may be treated as progressive when 0-14 agers form 40 per cent of population ; population is stationary when 0-14 agers have 26.5 per cent population and it is regressive when these agers are nearly 20 per cent or below. Sunberg quoted by U.N., *op.cjt*, pp. 141-142.
18. Husain, I.Z., *op.cit.*, Table 6 (a).
19. Painuli, P.N., *A Tourist's View of Valley of God's*, pp. 36, 155-156.
20. Similarities of this kind are noticeable everywhere in the context of hill areas and backward regions. See, NCAER, *Survey of Hilly and Backward Regions of Punjab*, 1966, p. 10.
21. Pande, G. C., Economic of Kumaon, *op.cit.*, p. 122.
22. Census of India, 1941, XXV, Part I, *Vital Statistjcs Enquiry* ; and also see Census of India, 1951, *Paper on Maternity Data*, p. 83.
23. Most important contributions have been made by Demographic Research Centres of Bombay, Delhi, Dharwar, Lucknow, Trivendrum etc. See, Chidambaram, 'Raising the Female Age at Marriage in India'. A Demographer's Dilmma, DTRC Bombay. (Miss) S. Abraham, 'Low Age at Marriage for Females in India', DTRC, Bombay. Badari, V. S. and Nag, 'Attitude Towards Age at Marriage : An Explanatory Study', DTRC,

Bombay. (Mrs) M. Karal, 'Age at Marriage and Age at Consummation of Marriage : Observations Among Women in Bombay, DTRC, Bombay. (Miss) Patanakar, T., 'Age at Marriage for Girls : Opinion of Women of Greater Bombay', DTRC, Bombay. (Miss) Sebastian, A., 'Age at Marriage in Rural Areas of Southern Maharastra', DTRC, Bombay. Papers on the Effect of Raising the Age at Marriage in Indian Fertility', DTRC, Bombay. Namboodiri, E. N. G., 'Attitude towards Ideal Age at Marriage in Kerala, DRC, Trivendrum. 'Study on Age at Marriage at First Delivery, Age at Widowhood', DRC, Trivendrum. Sinha, J. N., *Age at Marriage* in Urban U. P., *Uttar Bharti*, June 1954. Visaria, P. M., 'Marriage and Divorce Statistics', *Indian Economic Journal*, July 1961. Papers and Proceedings of IUSSP Conference held in Sydney, Australia, August 1967. Gupta, P. B., 'Fertility and Economic Growth', *Indian Population Bulletin*, Vol. III; Gangotra, M. M., 'Factors Affecting Indian Fertility in Changing Setup,' *Journal of Family Welfare*, Vol. XVII, 1966. Sinha, J. N., 'Differential Fertility and Population Policy', *Proceedings of International Conference on Planned Parenthood*, 1959. Robinson, W. C., 'Urban-Rural Differences in Indian Fertility', *Population Studies*, Vol. XIV, 1961. Pethe, V. P., 'Levels of Fertility and Reproduction and Differential Fertility in Sholapur', *Indian Economic Journal*, Vol. VIII, July 1960.

24. For detailed analysis of income differentials in these regions, see Pande, G. C., 'Economy of Kumaon : A Field Study', *op.cit.*, 1969.
25. Bist, Nafees, 'Study of Fertility in India', in Husain, I. Z. (ed), *State and Status of Demographic Research in the Country*, Lucknow, 1970, pp. 46–55.
26. *Ibid.*, p. 48.
27. Atkinson, E. T., *Gazeteer of Himalayan Districts of N. W. P.*, Vol. XII, and also see for comparison, Prasad, Kedarnath, *Economics of Backward Region in a Backward Economy*, Vol. I, 1967.
28. Kanungo, Kissen, 'Agricultural Practices in Uttarakhand', 1962, unpublished report, Agricultural University, Pantnagar, U. P. See also, Census of India 1961, *Village Monographs* on Bijepur, Thapli, Darkot, Birpur villages of Hills.
29. Pande, G. C., 'Economy of Kumaon', *op.cit.*, ch. VI, 'Rural Class Structure', pp. 254–258.
30. Majumdar, D. N. *Himalayan Polyandry*, 1962, p. 58.
31. Husain, I. Z. (ed)., *State and Status of Demographic Research in the Country*, 1970, p. 48.
32. *Ibid.*, pp. 49–50.
33. In connection with 'Family Planning Camp' held in Nainital in November 1972, the *Patwaris* who are police officers of rural sector in Kumaon have been asked to bring vasectomy cases for operation. An element of coercion in this context may be suspected by the rural inhabitants.
34. Driver, Erwin D, *Differential Fertility In Central India*; Princeton University Press, Princeton, New Jersey, 1963. Conclusion drawn from study of 1123 villages, Tables 73 & 74, pp. 85–86.

Table 1

Average Rural Fertility According to Social Classes

Social Class	Number of house-holds	Number of ever-married females	Mean age at marriage	Total pregna-ncies concei-ved	Average number of pregnancies per everma-rried female
1. Upper	101	166	15.80	556	3.35
2. Middle	223	330	13.54	1,026	3.11
3. Lower	76	112	13.00	378	3.38
Total	400	608	14.08	1,960	3.22

Table 2

Number of Pregnancies of Ever-married Females in Age Categories and Caste Groups

Age categories	Social Groups						Total		Average number of pregnancies
	Upper		Middle		Lower				
	Ever-married females	Pregnancies	Ever-married females	Pregnancies	Ever-married females	Pregnancies	ever-married females	Pregnancies	
10–15	4	2 (0.50)	9	4 (0.44)	3	2 (0.66)	16	8 (0.50)	0.500
15–17	7	7 (1.00)	12	8 (0.66)	5	4 (0.80)	24	19 (0.79)	0.791
17–20	12	21 (1.75)	28	34 (1.21)	9	12 (1.33)	49	67 (1.38)	1.385
20–25	17	36 (2.12)	34	73 (2.14)	12	28 (2.33)	63	137 (2.17)	2.143
25–35	48	172 (3.58)	98	302 (3.08)	31	102 (3.29)	177	576 (3.25)	3.254
35–45	42	156 (3.71)	82	317 (3.86)	28	123 (4.39)	152	596 (3.92)	3.921
45	36	162 (4.50)	67	288 (4.29)	24	107 (4.45)	127	557 (4.39)	4.385
Total	166	556 (3.35)	330	1026 (3.11)	112	378 (3.38)	608	1960 (3.22)	3.223

Table 3

Fertility and Income

Income groups	Ever-married females	Mean age at marriage	Number of pregnancies	Still births, abortions & miscarriages	Live births	Average	
						Number of pregnancies	Live births
0–2400	369	13.9	1,187	8	1,179	3.21	3.195
2400–6000	198	14.1	619	5	614	3.13	3.101
6000 +	41	15.7	154	0	154	3.75	3.772
Total	608	14.08	1,960	13	1,947	3.22	3.202

Table 4

Termination of Pregnancies in Social Class Groups

Class	Ever-married females	Abortions	Percentage of total pregnancies	Still biths No.	Still biths % of preg-nancies	Live births No.	Live births Average	Total pregnancies
1. Upper	166	2	0.36	–	–	554 (99 64)	3.33	556 (100.0)
2. Middle	330	5	0.49	3	0.29	1018 (99.22)	3.08	1026 (100.0)
3. Lower	112	2	0.52	1	0 26	375 (99.22)	3 34	378 (100.0)
Total	6(8	9	0.46	4	0.20	1947 (99.34)	3.20	1960 (100.0)

Table 5

Average Number of Living Children

Social Class	Ever-married females	Live births	Died Number	Died Percentage	Living Male	Living Female	Total	Average
1. Upper	166	554	4	0.72	263	287	550	3.31
2. Middle	330	1,018	11	1.08	512	495	1,007	3.05
3. Lower	112	375	15	4.00	186	184	370	3.30
Total	608	1,947	20	1.03	961	966	1,927	3.17

A Note On Methodology

A three-stage stratified sampling technique was adopted in rural sample selection. The first age units being C. D. Blocks, second stage units being sample villages and the third stage units being sample households. Twenty per cent of the existing Blocks were selected at random without replacement. One per cent villages were selected from these Blocks at random without replacement. After enumeration in selected villages, 33 per cent households were selected at random without replacement.

Number of Blocks, Villages and Sample Households

Blocks	Number of villages	Number of households enumerated	Sample households
1. Buronkhal	1	69	23
2. Deoprayag	1	128	43
3. Jaunpur	1	59	20
4. Jakholi	2	117	39
5. Pauri	2	223	75
6. Bageswer	2	203	66
7. Garampani	1	51	17
8. Kapkot	2	158	52
9. Okhalkanda	2	152	51
10. Tarikhet	1	43	14
Total	15	1,203	400

The period of reference is 1963-64.

Social stratification form the basic variable in the entire investigation. It is based on existing pattern of socio-cultural relationships as distinguishable by prevalent social permissible compass of marital bonds, common dining, and cherished values of life. Brahmins of all origins have been categorised as Upper class. Khstrias, their sub-groups and vaisyas have been categorised as *Intermediate* and the rest neglected groups have been categorised in *Lower* class. This stratification does not any way imply any antagonistic relationship, conflicting interests or any indication of comparative social significance, status, power or dignity. The sample does not cover any Christians, Muslims, Sikhs, or other demarcable separate communities.

———

"Judiciary is the Corner Stone of Indian Democracy—Its Condition and Steps to Streamline it"

Dr. Radha Mohan

a. The Role of Judiciary in a Democracy

No sweeping conclusion can properly be drawn regarding the precise role of Judiciary in a democractic state; for different people have different notions of democracy. One view is that "democracy means simply a particular form of Government,"[1] and here the definition of democracy as given by Abraham Lincoln is the best. The other view is that democracy is much more than a mere form of government; that it is first and foremost, a philosophy of human society, "a way of life," a set of ideals and attitudes motivating and guiding the behaviour of members of a society towards one another, not only in their political affairs, but in their economic, social and cultural relationship as well.[2] We may not define democracy by its spirit, and may simply treat it as a mere form of government for the purposes of this article, but we must remember that men have struggled towards democracy not for the sake of form but for the way of life that it sustains.[3] It cannot be known precisely what was the part played by judiciary in this struggle for the victory of democracy and of the ideals it stands for. In neither of the revolutions which have emphasised the importance of different aspects of democracy—the Bloodless Revolution of England, the Industrial Revolution, the French Revolution, American Revolution, and the Bolshevik Revolution, the judiciary played a helpful role. The fact is that judiciary, as a rule, is more conservative than other organs of government. It is more traditional than progressive and is guided more by precedents and traditions than by future, and generally sides those who are in power than those who are interested in bringing rapid changes in society. It has generally been a a handy mechanism for support to those who are interested in maintaining the *Status Quo*. And even if democracy be conceived merely as a form of Government, it is too tall a claim to regard judiciary as the only essential, a bulwark of democracy, its fortification or corner stone. The most essential institutions of democracy as listed by Professor Merriam are "the suffrage, the representative council, the apparatus of civil liberties, sound administrative organisation, and system of adjudication."[4] While it would be easy to add other items, it is clear that these are the core of democratic government, and it would be wrong on our part to assume that one is less important than the other. All are equally important, and democracy cannot exist if either of these—the people, the legislature, the executive, the judiciary and the administration —fail to perform their proper role. It is not possible to discuss their role in democracy within the framework of the present article ; hence we confine ourselves to the role of courts.

Democracy stands for certain ideals : the ideals of liberty, equality and fraternity. Some of these ideals have been realised by us and have taken the form of fundamental rights, the Seven Freedoms as embodied

in Part III of the Constitution of India ; and others have yet to be realised, and are enumerated in form of Directive Principles of State Policy as enumerated in Part IV of the Constitution. The most vital duty of the judiciary in our country is preservation of these seven freedoms and legal rights against encroachment, whether by government, by powerful groups, or by individuals. The "law" of democracy is law which applies equally to rich and poor, urban and rural, Hindu and Muslim, Congressite and non-Congressite, Brahmin and non-Brahmin, believer and atheist. It is also the duty of the Judiciary to help the nation in realisation of the freedoms mentioned in Part IV of the Constitution, by suitable interpretation of the Constitution. The Part III rights are meaningful only to those who have adequate material conditions of life. But the rights should also become meaningful to those who lack such means. The greatest of all the freedoms is "freedom from want". Therefore, if economic conditions are not improved, Part III rights remain entirely useless to the masses. Existence is always prior to essence, and accordingly the judiciary should not over-emphasis fundamental rights to the point that economic development is hampered and hindered; this sort of overemphasis would precipitate their erosion.[5] Moreover, as the economic, political and social conditions undergo changes, the law in general and the constitution in particular must bend and yield to the demands of time. If the law or the Constitution fail to respond to the required changes, they would gain nothing but disrespect and disregard. Therefore, it is but apt that the Judiciary should come to the resue of the Constitution and grant it a measure of flexibility as and when required. The Judiciary would do well to remember Abraham Lincoln's word's : "The dogmas of the quiet past are inadequate to the stormy present ;... ..As our case is new, so we must think anew and act anew. We must disenthrall ourselves."[6]

It is also worthwhile to remember that it should avoid coming in conflict either with the executive or with the legislature. It is both indecent and inexpedient. In a power struggle between the Judiciary and other organs, judiciary is bound to lose. "The Judiciary is beyond comparison the weakest of the three departments of power.......(It) has no influence either of the sword or the purse; no direction of the strength or of the wealth of society ; and can take no active resolution whatever. It can truly be said to have neither force nor will, but merely judgments."[7] Its only strength lies in its judgment, and judgments can command respect only if they help the nation in its march towards realisation of the ideals enumerated under Chapter IV of the Constitution and not otherwise. Let the Judiciary, therefore, help the nation in its march to material progress by suitable interpretation, remembering full well that the Constitution is not a rope to tie down the whole nation. To worship the Constitution as an idol would be to make it useless for the future generations. Constitution should be amended by liberal interpretation in the interest of the whole country, but not merely for the sake of amendment. To quote Walter Bagehot : "Progress is only possible in those happy cases where the force of legality has gone far enough to bind the nation together but not far enough to kill out all varieties and destroy natures perpetual tendency to change."[8] Workable democratic government requires a balance between stability and change; the function of the courts is to preserve the best of what is old and yet find room within the law for new rules that are urgently needed. They

have to "pour new wine into old bottles", thus making it more accepti-ble. The aphormism "a government of laws not of men" is misleading. It would be more accurate to speak of "a government of men under law."

Indian democracy is a limited form of government because of its federal form and fundamental rights given to citizens. Under a federal constitution, the judiciary has to serve as the balancing wheel of the federation. But federal governments are not necessarily democratic. Fundamental rights are better tests of a democracy. The Judiciary in a democracy, therefore, should not only act as an umpire to resolve the day to day conflicts between the units of the federation, it should also try to maintain equilibrium between fundamental rights and principles of social justice.[9]

Indian Judiciary on the whole has been a supporter of democracy. It has propounded the high concept of "Rule of Law". It has validated most of land laws. It has generally supported the legislature in its attempt to bring about a new social order. Only in Golaknath case and Bank Nationalisation case, it has come into focus of public criticism, and the inevitable consequence had been 24th and 25th amendments. These amendments seek to make Parliament the guardian of the Con-stitution, and reduce the jurisdiction of the Supreme Court. Attention may here be drawn to the inclusion of Art. 31 (c) which says that a law giving effect to the policy contained in clause (b) or (c) of Art. 39 shall not be deemed to be void on the ground that it is inconsistent with, or takes away, any of the rights conferred by Articles 14, 19 and 31. This amendment thus explicitly takes away the power of judicial review. As the nation appears not to be in a mood to tolerate any hurdle, judicial or otherwise, in its attempt to realise the Directive Principles, the judiciary, both in the interest of democracy, and in its own interest, would do well to avoid conflict with the Government in its progressive democratic measures.

Here a few words may also be said about the judicial process and judicial methods. Some recent studies have indicated that judges tend to decide first and to arrange and cite precedents afterwards. While this is doubtless too broad a generalisation, but it is a fact that sub-conscious influences incline judges to dispose of cases in a particular way, and it is easy to rationalise such inclinations in terms of support-ing precedents. We cannot reject this ultralegalistic explanation of the judicial process; though this may be oversimplification. In the judg-ment, facts of the case play a role, but judges are very much influenced by their economic, social, and ideological background.

This brings us to the question of Commitment of Judiciary. Recently there was a talk of Committed Press and Committed Bureau-cracy. The democratic tendency is to avoid undue interference with judicial conduct. Judiciary can be committed only under Fascism or Communism. It cannot be committed in a democracy in the ordinary sense. It cannot be handmaid of the ruling party. But it has to be committed in a special sense. So long as our present Constitution is guiding the destiny of our nation, we all, whether we are parts of the legislature, or of executive, or of administration, or of judiciary, we are committed to uphold the Constitution and the ideals it upholds; and

these ideals are ideals of liberty, equality, and fraternity as enshrined in the Preamble, and ideals of a welfare state, socialism and democracy as enshrined in Part III and Part IV of the Constitution. The Judiciary is morally committed to uphold these ideals.

b. Present Condition of Judiciary

From the point of view of democracy, the strength of Judiciary lies in its accessibility and acceptibility. Our higher courts are not easily accessible; not because of any procedural flaw but because of the huge costs involved in litigation. In a poor country like ours where majority consists of poor, large number of people fail to get justice from the courts simply because they cannot manage to pay court fees, stamp fees, and fees of the lawyers. Some method has to be devised to make the gates of even the highest judiciary accessible to the poorest. In a democracy, the poorest he or she has as much the right to get justice from the highest court as the richest he or she. What the method should be, is a question for the legislature or government to decide. Delay in rendering justice also makes the courts inaccessible. There is much truth in the saying : "Justice delayed is justice denied." Steps ought to be taken to hasten the disposal of cases pending in the courts as well as to prevent their accumulation in future. How is this to be done ? This again is a question which requires to be solved by policy makers. They may have to transfer power to lower and panchayat courts, establish new courts, increase the size of courts, and take a lot of other measures.

Acceptibility cannot be a feature of the court in the ordinary sense. The judiciary cannot give judgments just to please either the masses or their political bosses. As in every disputes there are always two parties and as one party is always bound to lose, it is easy to see that there will always be some who would be displeased with the decisions of the courts. The question of acceptibility, therefore, has to be understood from another angle. The entire proceedings of the higher courts in our country are conducted in English which is understood only by a small percentage of the people. If the proceedings of the High Courts were to be conducted in either Hindi or the regional language, and that of the Supreme Court in Hindi, they would be more intelligible to the people. The courts would then come nearer to the people and would be more acceptible to them.

Some people talk of corruption in Judiciary. The charge is exaggerated. Of the three organs of government, Judiciary definitely is least corrupt. The politician is the most corrupt person. He is always trying to build power and money through all possible means, fair or fowl, and it is no secret that persons who were paupers before becoming ministers have become millionaires after accepting ministership. Administers are corrupt, generally not because of themselves but because of ministers, who have the power to transfer and suspend them, and make or mar their career. Judiciary is relatively less corrupt, and people still have faith in it. That is why, whenever there is something wrong, a demand is made for judicial inquiry into the matter. People have more trust in the judiciary than either in administration or in government.

c. Steps to Streamline Judiciary

Various measures have been suggested for streamlining judiciary. Some of these are : creation of an all India Judicial Service, improving the method of selection of judges, improving the salaries. Let us examine some of these steps.

Creation of an All India Judicial Service : It is not known how far the demand is made in the interest of democracy and how far in the interest of the class administering justice. It is also not known if there was more of democracy when members of All India Civil Service used to be appointed on higher jobs in the Judiciary. It is good to have better qualified, more meritorious persons in judicial service, but merit alone is no test of honesty, integrity, and impartiality of a person. A good judge must possess these qualities besides legal training and experience. Do we not know that some of the famous judges in world history have been men of very limited legal education or with little or no prior judicial experience ? The out-standing example is of the great Chief Justice Marshall of U. S. A. The reason for this phenomenon is the role which courts play in determining questions of public policy through judicial review of legislation and administration. The discharge of judicial duties today calls for judicial statesmanship rather than technical competence. Moreover, the increasing complexity of legal cases in recent years calls for establishment of larger number of administrative and specialised courts and their multiplication should not be taken as something opposed to the interests of democracy.

Selection and Tenure of Judges : The present method of selecting and appointing judges has been criticised by some. The Law Commission has made the suggestion of offering membership to the junior members of the bar. But to some the remedy is worse than the disease.[10] It has also been suggested that appointment above the district level in judiciary should be made from among candidates who have passed an all India competitive judicial service examination. While this method of selection and appointment will ensure technical competence and avoid politics, it will not be in the interest of Provincial Judicial Service and will tend to provide an overspecialised and ultra-conservative judiciary.

Judges of the Supreme Court retire at 65 and that of the High Courts at 62. Why this distinction ? If the judges at Delhi can work efficiently till the age of 65, judges at Allahabad and Lucknow can also do likewise. Judges should, however, be not allowed to accept appointments after retirement. That is needed in the interests of justice. Judges can maintain their independence only when they know fully well that they have no favours to ask for from Government after retirement.

Indolent and incompetent judges should not be tolerated. Elderly judges are likely to lack not only the energy to dispose of cases, but the mental flexibility required for coping with new problems and ideas. A method must be evolved by which we may judge the usefulness of a judge after 58, the usual age of superanuation.

The Demand for Better Salaries and Conditions of Service : Are the judges underpaid ? If they are, the demand may be reasonable, but the demand is not dignified. India is a poor country, and keeping

in view the general economic level of the masses we cannot say that they are low paid. Moreover it should be also considered that in a country where everyone else is receiving low salaries, why only judges salaries be increased. India cannot afford a high increase and a slight increase will not attract better persons on bench from the bar. Moreover, if an increase is due, it should begin from the lowest level.[11]

To conclude judiciary has an important role to play in a democratic state, and in a country like ours which is weded to ideals of liberty, equality, and fraternity, its role is much more important. So far it has played its role well. It has served as the balancing wheel of the federation. It has kept all the authorities within bounds. It has maintained the high traditions of judiciary. Only in two cases, its decisions invited the attention of the nation. These led to 24th and 25th amendment. These amendments point out that the foremost duty of Judiciary in India is to uphold democracy and all the values democracy stands for. It has to support the legislature in its attempt to bring about a new social order in which there will be justice—political, social and economic in terms of the directive principles of the Constitution.

References

1. Sir Henery Maine : *Popular Government* (New York, 1886), p. 59.

2. *Modern Democracies* (New York, 1921) vol. I, p. 22.

3. R. M. MacIver : *The Web of Government* (New York, 1947) p. 204.

4. Charles E. Merriam: *What is Democracy* (Chicago, 1941), pp. 8-9.

5. 24th and 25th Amendments to the Constitution were due to Golaknath case and Bank Nationalisation case.

6. Abraham Lincoln : *Message to Congress*, 1. 12. 1862.

7. *The Federalist* No. 78.

8. Walter Bagehot : *Physics and Politics*.

9. The Indian Judiciary does it under its power of judicial review derived expressely from articles 32, 226, 136, etc.

10. Mr. Ingle's letter in the Times of India, September 26,1971.

11. *Cf*. Walavalkar's letter in the Times of India (October 3,1971), Sorabjee's letter in Times of India (October 10,1971) and Balraj's letter in Times of India (November 14,1971).

———

Land Utilization In The District Of Pithoragarh

(An Abstract of the Ph. D. Thesis)

Dr. Dhan Singh Jalal

The district of Pithoragarh lies between 29° 26′ 40″ and 30° 49′ N lat. and 79° 54′ 45″ and 21° 1′ E long. To the south, south-west and west lie the districts of Almora and Chamoli while to the north and east the boundary of the district marches with those of Tibet (China) and Nepal respectively.

The district lies entirely within the Himalayan system. Two-third of it lies beyond the great snowy barrier which here exhibits among its more notable summits, the peaks of East-Nanda-Devi, Nanda-Kot and Panch-Chuli-group. The area consists of a succession of ridges emerging from the snowy ranges from which they tend in a general southerly direction. The configuration of the ground is characterised by snow-fields, glaciers, forest clad mountains and precipitous ravines which represent a diversified topography.

The area attains a varying altitude from 430 to 7,436 metres and thus suffers from the vagaries of temperate sub-montane to cold montane climate which directly affects the formation of soils, the growth of vegetation and consequent pattern of land use. Areas lying above 5,000 metres in elevation, remain snow-clad for the whole year. With a range in altitude from about 800 to 4,000 metres very diverse climatic conditions naturally exist. Winters are severe on higher altitudes and snow-fall occures upto 1,500 metres but melts rapidly below about 2,000 metres while above this height it seldom stays long on sunny slopes. In summers till the commencement of monsoon, the lower valleys remain warm upto the height of 1,500 metres and higher ridges remain cool pleasant and invigorating. But with the commencement of monsoon the weather becomes rainy and foggy owing to the low temperature and high moisture content in the atmosphere. All these diverse climatic conditions, combined with light texture and sporadic gritty nature of soils, render cultivation possible in valleys and lower hill slopes only.

As reported in census of India, 1961, the district boasts a population of 2,63,579 and the total population lives in villages. The area has recorded a great increase in population during the last sixty years. In 1901 the district had a population of 1,30,486 which rose to 2,63,579 in 1961. Thus the average decade variation comes to 17 per cent and if this rate is adopted for further growth in population, the estimated figure stands at 3,08,318 for 1971. This high increase is partly due to natural growth and partly due to immigration. It has indeed caused adverse effects in the absence of corresponding increase in cultivated area or yield per hectare.

The district comprises a land area of 7,27,288 hectares out of which 13.6 per cent is under forests, 8.5 per cent under pastures and 66.0 per cent under unproductive land. The cultivable area which

includes ares under orchards, fallows, eroded and waste lands, covers 5.6 per cent of the total area. Thus only 6.3 per cent of the total area is available for cultivation. Since the unproductive land which includes settlement roads, water-bodies and otherwise barren lands, cannot be utilized for cultivation, there still remains 27.7 per cent area which can effectively be utilized for this purpose. But forests and pastures occupy 13.6 and 8.5 per cent area respectively which directly or indirectly form the most important use of land and, therefore, these lands cannot be used for raising crops. The cultivable area may be regarded as marginal land which should be preserved for the horticulture and the common use of the villagers. But the fallow, eroded and part of waste land can be utilised for cultivation of crops. Thus, there is very limited scope for extension of arable land in this district.

Agriculture supplemented by rough grazing and cottage industry, is the primary occupation of the people of Pithoragarh, since it employs as many as 88.2 per cent of the total working force of the district. The life here is a hard struggle for existence against intricate topographical features, depressing climatic conditions and poor soils all combined with the misfortunes caused by the depredations by wild animals, under-developed economy of the people and bad communication which impose many limitations upon the inhabitants and lead them to adopt peculiar agricultural operations. Small harvests, poor condition of livestock wealth, primitive agricultural implements and methods, crop failures, sub-division and fragmentation of field units are some of the other characteristics of agriculture.

As far as the seasonal land use pattern is concerned about 96 per cent of the cultivated area is cropped in kharif season and it is reduced to 65 per cent in rabi season because of irrigation deficiency and climatic extremes. Cultivators are addicted to keep the maximum possible land under plough during both seasons. Current fallows are generally left only either in the case of madua land or when the cultivator due to some personal reason, is unable to till the fields. On account of the subsistence nature of cultivation food grains occupy as much as 87 per cent of the net cropped area in kharif season and 80 per cent in rabi season.

Out of the nine sample villages, Kaneri, Ath and Deorari represent the land use pattern of low-level-valley villages ; Majkot shows the pattern of high-level-valley-villages ; Kirigaon, Sil and Himpani of uphill villages ; and Tijang and Poting have the patterns of deep depressions of Great Himalays. On the basis of this criteria these nine sample villages are categorised into four categories.

The following table summarises the category-wise land use patterns in the nine sample villages.

Major Land Use Types

(Area as per cent to the total area)

Category	Name of the village	Cultivated	Cultivable	Not available for cultivation	Pasture	Forest
I	Kaneri	49.1	32.1	18.8	–	–
	Ath	87.8	1.4	10.8	–	–
	Deorari	66.9	21.6	11.5	–	–
II	Majkot	31.1	18.2	19.4	31.3	–
III	Kirigaon	40.1	55.5	3.1	–	1.3
	Sil	46.5	46.8	6.7	–	–
	Himpani	37.8	34.2	5.6	14.0	8.4
IV	Tijang	8.4	37.5	8.9	34.7	10.5
	Poting	2.4	87.1	10.5	–	–

In the first category villages the average extent of cultivated area is 68 per cent, cultivable area is 18 per cent and not available for cultivation 14 per cent. It is 31, 18, 20 and 31 per cent for cultivated, cultivable, not available for cultivation and pasture area in the second category villages. In the third and fourth category villages the average percentages come to 42, 45, 5, 5 and 3, and 6, 62, 10, 17 and 5 for cultivated, cultivable, not available for cultivation pasture and forest area.

The following table gives the facts and findings pertaining to the cultivated area in the nine selected villages.

Agricultural Land Use Types

(Area as per cent to the total cultivated area)

Category	Name of the Village	Kharif Season			Rabi Season		
		Net Cropped	Cereals	Other Crops	Net Cropped	Cereals	Other Crops
I	Kaneri	96.8	92.9	3.9	72.2	63.1	9.1
	Ath	100.0	97.9	2.1	69.3	49.9	19.4
	Deorari	97.7	91.3	6.4	67.1	55.0	12.1
II	Majkot	100.0	97.1	2.9	80.7	77.2	3.5
III	Kirigaon	97.8	95.6	2.2	70.3	62.8	7.5
	Sil	90.2	80.9	9.3	58.0	54.5	3.5
	Himpani	91.9	79.2	12.7	54.0	45.9	8.1
IV	Tijang	100.0	60.3	39.7	–	–	–
	Poting	100.0	27.3	72.7	–	–	–

The average percentages for kharif net cropped area, cereals and other crops come to 98, 94 and 4 in the first category, 100, 97 and 3 in the second category, 93, 85 and 8 in the third category and 100, 44

and 56 in the fourth category villages, while those for rabi net cropped area come to 70, 81, 61 and nil respectively and the bulk of the area is under cereals.

The following table shows the details of the land with respect to the people living in the selected villages.

Per Capita Share of Land

(Area in Ares)

Category	Name of the Village	Cultivated area	Kharif cropped area	Rabi cropped area	Double cropped area	Gross cropped area	% of agricultural population
I	Kaneri	10	9	7	6	16	55
	Ath	12	12	9	9	21	60
	Deorari	10	10	6	6	16	84
II	Majkot	4	4	3	3	7	54
III	Kirigaon	13	12	9	8	21	56
	Sil	14	12	8	6	20	60
	Himpani	16	15	9	8	24	62
IV	Tijang	9	9	–	–	9	34
	Poting	0.8	0.8	–	–	0.8	7

The category-wise averages of per capita share of gross cropped area come to 18, 7, 22 and 4 ares respectively. These figures are an indicative of high pressure of population on land. The population in majority of the villages is primary agricultural that averages to 52 per cent of the total population in the area under investigation. The category-wise averages of agricultural population are 66, 54, 59 and 20 per cent.

The bulk of population is vegetarian and entirely depends on grain crops, milk or milk products and imported sugar. Fruits, vegetables and other sources of food, figure very insignificantly in their dishes

The following table gives the facts and findings pertaining to the daily per capita nutrition intake and related carrying capacity of the land in the area under investigation.

Daily Per Capita Nutrition Intake And Carrying Capacity

Category	Name of the Village	Calories	Protein (Gm.)	Carrying capacity (persons/hectares)
I	Kaneri	2194	58.3	4
	Ath	2332	73.3	4
	Deorari	2405	65.8	4
II	Majkot	2196	58.2	5
III	Kirigaon	2227	64.8	3
	Sil	1984	58.1	3
	Himpani	2037	62.3	4
IV	Tijang	1960	62.6	4
	Poting	1882	53.5	3

With an average of 2135, the range of daily per capita caloric intake ranges from 1882 to 2405. The averages for the category-wise villages happen to be 2310, 2196, 2083 and 1921 calories per head per day.

Per capita per day protein intake ranges from 54 to 73 grams with an average of 62 grams. The category-wise average intakes are 66, 58 58 and 62 grams per head per day.

The average carrying capacity is 4 persons per hectare in the first category, 5 persons in the second, 3 persons in the third and 3 to 4 persons in fourth category villages.

The standard nutrition unit is 2200 calories per capita per day in this area. The people in only 1/3 of the total number of the selected villages enjoy sufficient nutrition calories while in 2/3 of the villages they live in a state of malnutrition.

Malnutrition and consequent prevalence of deficiency diseases are the immediate effects of the present land use pattern in the area under investigation. The remedy of the problem lies, to a great extent, on enhancement in the quantitative and the qualitative food production through rational scheme of land use planning and conservation of agricultural resources.

The food production in Pithoragarh district can be increased in four ways :

1. Extension of cultivated area,
2. Soil conservation,
3. Intensive use of existing cultivated land,
4. Development and diversification of village economy.

Distribution of vascular supply of the petiole into the fertile spike and the sterile leaf in Ophioglossum reticulatum

B. B. L. Saksena and H. N. Singh

At the Base

A single leaf trace enters the petiole at the base. This tallied with the observation of Vasisht.[1] The xylem of the leaf trace points towards the adaxial side, i.e. towards the groved surface. Very soon it divides at the base into two strands each having collateral xylem and phloem. This observation is in agreement with the earlier ones made by Campbell[2] and Bower[3], wherein they had also observed a division into two strands

The two strands which we suppose as A and B separate from each other. One of these very soon divides into two and so these become three. Let us suppose that B divides into BI and BII.
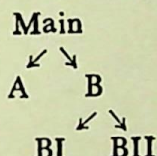
The xylem in each of the leaf traces maintains the same orientation.

Below the middle

Out of these three A, BI and BII leaf traces one does not divide. Only two divide.

A	BI	BII
↙ ↘	⋮	↙ ↘
AI AII	BI	BII(i) BII(ii)
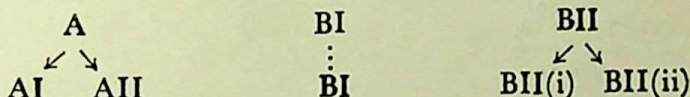
So we get five traces in the petiole below the middle.

Middle

In this region one constituent from each A and BII i. e. AI and BII(i) divide into two each. AII and BII(ii) do not however divide. BI again does not divide. So the total number of strands is 7.

AI	AII	BI	BII (i)	BII (ii)
↙ ↘	⋮	⋮	↙ ↘	⋮
AI(i) AI(ii)	AII	BI	BII(i)a BII(i)b	BII(ii)
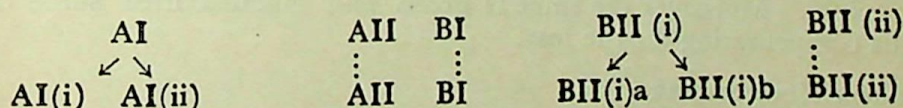
Above the middle

It was observed that only AI(i) bifurcated.

AI(i)	AI(ii)	AII	BI	BII(i)a	BII(i)b	BII(ii)
↙ ↘	⋮	⋮	⋮	⋮	⋮	⋮
AI(i)a AI(i)b	AI(ii)	AII	BI	BII(i)a	BII(i)b	BII(ii)
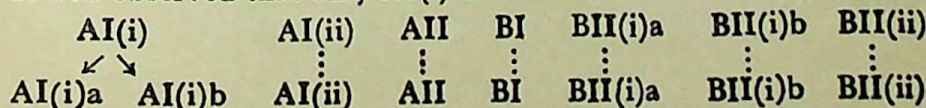
So the total number of strands is 8. At this stage it was observed that the portion which was to become spike was slowly getting differentiated from the portion which was to develop into the leaf. The portion which was to become spike assumed more or less a circular form and would be leaf portion was getting flattened. The strands which bifurcated and which did not, have been shown in the following—

AI(i)a → $AI(i)aL_1$, $AI(i)aL_2$ AI(i)b → $AI(i)bL_1$, $AI(i)bL_2$ AI(ii) → $AI(ii)L_1$, $AI(ii)L_2$ AII ↓

BI ↓ BII(i)a → $BII(i)aL_1$, $BII(i)aL_2$ BII(i)b → $BII(i)bL_1$, $BII(i)bL_2$ BII(ii) ↓
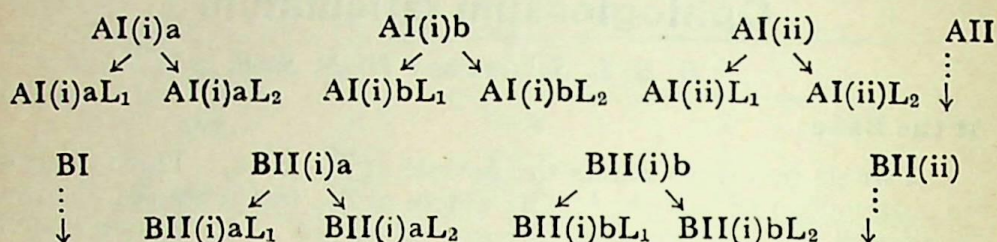
So we get a total of 13 strands. Out of these the following three AII, BI and BII (ii) go to the fertile spike and the rest remain in the sterile leaf.

AII	=25%
BI	=25%
BII(ii)	=12.5%
	62.5%
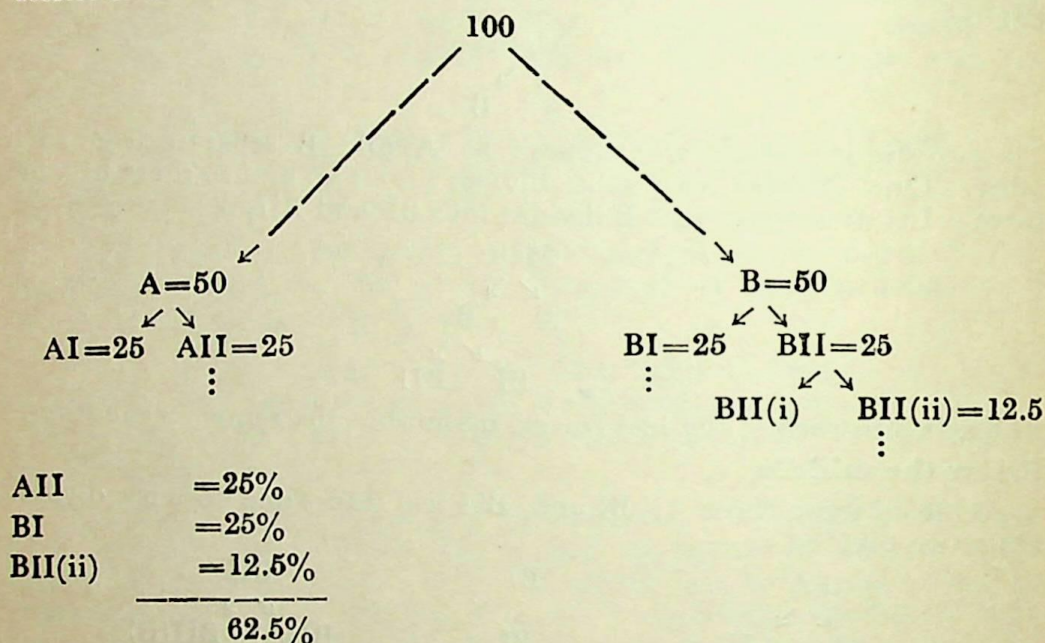
So 62.5% of the original strand supplies the spike while only 37.5% supplies the leaf.

Conclusion

In nature the law is that the reproductive parts be preferred over the vegetative part. Here also we find the application of the same principle. Moreover the spike is green and manufactures some food thus compensating for the loss.

Acknowledgement

We are grateful to Dr. S. C. Gupta Ph. D., D. I. C. (London) for permitting us to carry out the work at K. N. Govt. College Gyanpur (Varanasi).

References

1. Vasisht, B. R. : The comparative anatomy of *Ophioglossum* aitchisonii'd Almeida and *Ophioglossum vulgatum*, L. Jour. India Bot. Soc. 6 : 8–30, 1927.

2. Campbell, D. H. : The Eusporangiat : The comparative morphology of the *Ophiglossanceae* and *Marattiaceae*, Carnegic Inst. Publ. 140, Washington, 1911.

3. Bower, F. O. *Ophioglossum simplex*, Riddley Ann. Bot. 18 : 205–216, 1904.

Effect of Ultraviolet Radiations (except 2537 A°) on The Electrical Properties of Oxalic Acid Under Different Conditions—

I. At different temperatures.
II. Different times of exposure.
III. After effect in the solutions of oxalic acid after withdrawing the source.

by A. K. Sinha and B. D. Kandpal

Summary

The nature of primary photochemical process is governed by the frequency of light absorbed and it is necessary to use monochromatic light. In our preliminary experiment, however, all the radiations obtained in ultraviolet lamp (80 watts) except 2537 A° have been used. After having obtained a clue to the suitable radiation responsible to effect various changes in the molecule, it is contemplated to use a monochromatic source using suitable filters before the source.

This paper deals with the changes in the single electrode potential of the half cell containing oxalic acid in which platinum electrode is dipped. The use of oxalic acid in presence of UO_2^{++}(Uranyl radical), ccording ot the following scheme is well known :—

$$H_2C_2O_4+(UO_2^{++})=CO+CO_2+H_2O$$
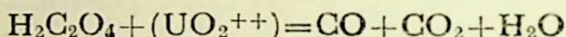
It is also known that quantum yield of this process is 0.5 to 0.6 with light of wave length 2500A°—4300A° and hence has been used as an actinometer.

In order to understand various intermediate steps in the photochemical decomposition of oxalic acid, we have planned to study the changes in the electrical properties of oxalic acid and Oxalates under different conditions of concentration, temperature, P_H, ionic strength and in presence of various inductors like transition metal ions.

Experimental Details

The solutions of oxalic acid (A. R.) of varying concentrations were prepared in redistilled water. The calomel electrode, consisting of mercury in contact with solid mercurous chloride and decinormal solution of potassiumchloride was used as a reference electronde.[1,2], This formed the cathode of the cell. A diagramatic representation of the cell was as shown below :—

—		Saltbridge		+
Platinum electrode	Hg, Hg_2Cl_2 0.1 N KCl	salurated solution of KCl	Oxalic acid solution	Platinum electrode
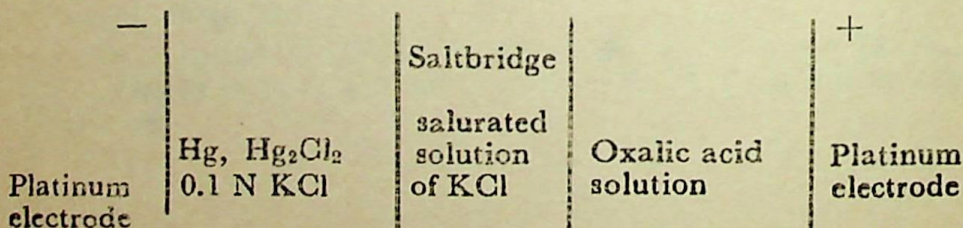
Oxalic acid solution of known strength was taken in a pyrex beaker which had been thoroughly well steamed. A platinum electrode was then dipped in this solution. A saturated solution of potassiumchloride in a beaker, used as saltbridge, was interposed between two half cells. The connecting tube of the calomel electrode used was then dipped in saturated potassium chloride solution from one side while a solidified link consisting of a conducting jelly (prepared by dissolving about 3 gms. of potassium chloride and 0.3 gms. of agar in 10 ml of water; the constituents were heated in a small beaker on a steam bath, and when a clear solution was obtained, it was sucked while hot into U-tubes made from narrow quill tubing, the mixture sets to a gel on cooling) is used to make electrical contact. The complete cell was then joined to a potentiometer bridge which had previously been standardised with the help of Weston standard cell[3] having an e.m.f. of 1.01830 volts. A battery of 2.00 volts was joined to the potentiometer (self reading) and it allowed a constant supply of current in the potentiometric circuit throughout the experiment. The potentiometer was then joined to a moving coil ballastic galvanometer provided with lamp and scale arrangement for noting the deflections caused by e.m.f. from the cell under investigation. The minimum e.m.f. which could be read from our potentiometer was 0.0001 volt.

During these investigations we had taken oxalic acid solutions of different strength. The e.m.f. of the complete cell was determined before the exposure of oxalic acid solution to ultraviolet radiations. The oxalic acid solution was then exposed under ultraviolet radiations for different intervals of time and the corresponding e.m.f. was measured in each case. Having known the e.m.f. of complete cell, the e.m.f. of the half cell containing a platinum electrode dipped in oxalic acid solution could be calculated from the following equation—

$$E_{cell} = E_{calomel} + E_{Pt-oxalic\ acid}$$

Thus we were able to study the changes in the e.m.f. of half cell mentioned above with time under the influence of ultraviolet radiations.

The study of photochemical after effect in oxalic acid solutions was also very interesting. The e.m.f. of complete cell mentioned above was measured before and after exposure of oxalic acid solution to ultraviolet radiations. After withdrawing the solution from U. V. radiations, the changes in e.m.f. of complete cell with time were studied. From these data, it was possible to calculate the e.m.f. of half cell as mentioned earlier.

Graphs have been plotted in each case between e.m.f. and time of exposure (or time after exposure) at different conditions of temperatures and concentrations.

Observations

Table No. 1.

Normality of oxalic acid solution=N/5 ; Temperature=18°C. E_{cell}, without irradiation of oxalic acid in ultraviolet light=0.3270 volt. Changes in e.m.f. of Half Cell ($E_{Pt-oxalic}$) on Exposure of Oxalic Acid to Ultraviolet Light—

S.No.	Time of Irradiation in U. V. Light (Minutes)	E.M.F. of complete cell, E_{cell} (Volts)	E.M.F. of Calomel electrode (0.1N) $E_{calomel}$ (Volts)	E.M.F. of half cell $E_{Pt-oxalic\ acid}$ (Volts)
1	Zero	0.3270	—0.33642	+0.66342
2	5	0.3250	—0 33642	+0.66142
3	10	0.3230	—0.33642	+0.65942
4	15	0.3100	—0.33642	+0.64642
5	22	0.2680	—0.33642	+0.60442
6	25	0.2370	—0.33642	+0.57342
7	30	0.2330	—0.33642	+0.56942
8	35	0.2250	—0.33642	+0.56142
9	40	0.2215	—0.33642	+0.55792
10	46	0.1220	—0.33642	+0.45842
11	51	0.1200	—0.33642	+0.45642
12	55	0.1190	—0.33642	+0.45542
13	60	0.1230	- 0.33642	+0.45942
14	65	0.1240	—0.33642	+0.46042
15	70	0.1270	—0.33642	+0.46342
16	80	0.1310	—0 33642	+0.46742
17	90	0.1300	—0.33642	+0.46642
18	100	0.1030	—0.33642	+0.43942
19	110	0 0880	—0.33642	+0.42442
20	120	0.0780	—0.33642	+0.41442

Note :—1. Changes in e.m.f., ($E_{Pt-oxalic\ acid}$) with time have been plotted in graph No. 2.

2. $E_{calomel}$ has a negative value.

Table No. 2.

Normality of oxalic acid solution=N/10, Temperature=18°C. E_{cell}, without irradiation of oxalic acid in U. V. light=0.3200 volt. Changes in E.M.F. of Half Cell ($E_{Pt\text{-}oxalic}$) on Exposure of Oxalic Acid to Ultraviolet Light—

S.No.	Time of irradiation in U. V. light (Minutes)	E.M.F. of complete cell E_{cell} (Volts)	E.M.F. of calomel electrode (0.1N) $E_{calomel}$ (Volts)	E.M.F. of half cell $E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$ (Volts)
1	Zero	0.3200	—0.33642	+0.65642
2	5	0.2570	—0.33642	+0.59342
3	10	0.2450	—0.33642	+0.58142
4	15	0.2200	—0.33642	+0.55642
5	21	0.2040	—0.33642	+0.54042
6	25	0.1980	—0.33642	+0.53442
7	30	0.1870	—0.33642	+0.52342
8	36	0.1670	—0.33642	+0.50342
9	40	0.1670	—0.33642	+0.50342
10	45	0.1630	—0.33642	+0.49942
11	50	0.1220	—0.33642	+0.45842
12	55	0.0980	—0.33642	+0.43442
13	60	0.1190	—0.33642	+0.45542
14	65	0.1240	—0.33642	+0.46042
15	70	0.1270	—0.33642	+0.46342
16	75	0.1290	—0.33642	+0.46542
17	81	0.1290	—0.33642	+0.46542
18	91	0.1290	—0.33642	+0.46542
19	102	0.1310	—0.33642	+0.46742
20	110	0.1280	—0.33642	+0.46442
21	120	0.1280	—0.33642	+0.46442

Note :—1. Changes in e.m.f. $E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$ with time have been plotted in graph No. 2.

2. $E_{calomel}$ has a negative value.

Table No. 3.

Normality of oxalic acid solution=N/15 ; Temperature=12°C. E_{cell}, without irradiation of oxalic acid in U. V. light=0.1830 volt. Changes in E.M.F of Half Cell ($E_{Pt\text{-}oxalic}$) on Exposure of Oxalic acid to ultraviolet light—

S.No.	Time of irradiation in U. V. light (Minutes)	E.M.F. of complete cell E_{cell} (Volts)	E.M.F. of calomel electrode (0.1N) $E_{calomel}$ (Volts)	E.M.F. of half cell $E_{Pt\text{-}oxlic\ acid}$ (Volts)
1	Zero	0.1830	—0.33678	+0.51978
2	2	0.1800	—0 33678	+0.51678
3	4	0.1700	—0.33678	+0.50678
4	5	0 1700	—0.33678	+0 50678
5	10	0.1630	—0.33678	+0.49978
6	15	0.1700	—0.33678	+0.50678
7	20	0.1780	—0.33678	+0.51478
8	25	0.1680	—0.33678	+0.50478
9	30	0.1680	—0.33678	+0.50478
10	35	0.1660	—0.33678	+0.50278
11	40	0.1600	—0.33678	+0.49678
12	45	0.1615	—0.33678	+0.49828
13	50	0.1610	—0.33678	+0.49778
14	55	0.1600	—0.33678	+0.49678
15	60	0.1625	—0.33678	+0 49928
16	65	0.1625	—0.33678	+0.49928
17	70	0.1650	—0.33678	+0.50178
18	75	0.1700	-- 0.33678	+0.50678
19	80	0.1640	—0.33678	+0.50078
20	85	0.1660	—0.33678	+0.50278
21	90	0.1630	—0.33678	+0.49978
22	95	0.1650	—0 33678	+0.50178
23	100	0.1685	—0.33678	+0.50528
24	105	0.1625	—0.33678	+0.49928
25	110	0.1625	—0.33678	+0.49928
26	115	0.1720	—0.33678	+0.50878
27	120	0.1740	—0.33678	+0.51078

Note :—Changes in e.m.f. $E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$ with time have been plotted in graph No. 1.

GRAPH NO 1
VARIATION OF SINGLE ELECTRODE POTENTIAL, E(Pt. oxalic) WITH TIME ON EXPOSURE OF N/15 OXALIC ACID TO U.V. LIGHT AT 12°C
E(Pt-oxalic) IN VOLTS
TIME IN MINUTES
GRAPH NO 2
CONCENTRATION EFFECT
VARIATION OF SINGLE ELECTRODE POTENTIAL WITH TIME ON EXPOSURE OF N/10 AND N/5 OXALIC ACID TO U.V. LIGHT AT 18°C
E(Pt-oxalic) IN VOLTS
N/5 OXALIC ACID
N/10 OXALIC ACID
TIME IN MINUTES

GRAPH NO. 3
PHOTO CHEMICAL AFTER EEFECT
IN N/15 OXALICACID EXPOSED
FOR FIVE MINUTES IN U.V AT 13°C.
E(Pt-oxalic) IN VOLTS
TIME IN MINUTES

Table No. 4.

Photo Chemical After Effect In Oxalic Acid Solution

Normality of oxalic acid=N/15 ; Temperature=13°C.

1. E_{cell} ; without irradiation of oxalic acid in ultraviolet light=0.1300 volt.
2. E_{cell} ; after an exposure of 5 minutes, of oxalic acid in ultraviolet light=0.1090 volt.

Changes in e.m.f. half cell ($E_{Pt\text{-}oxalic}$) after the withdrawal of oxalic acid solution from ultraviolet light—

S.No.	Time after removal of oxalic acid solution from U. V. Light (Minutes)	E.M.F. of complete cell, E_{cell} (Volts)	E.M.F. of Calomel electrode (0.1N) $E_{calomel}$ (Volts)	E.M.F. of half cell $E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$ (Volts)
1	Zero	0.1090	—0.33672	+0.44572
2	2	0 0900	—0.33672	+0.42672
3	5	0.0700	—0.33672	+0.40672
4	8	0.0550	—0.33672	+0.39172
5	10	0.0400	—0.33672	+0.37672
6	12	0.0350	—0.33672	+0.37172
7	14	0.0280	—0.33672	+0.36472
8	16	0.0140	—0.33672	+0.35072
9	18	0.0075	—0.33672	+0.34422
10	20	0.0050	—0.33672	+0.34172
11	22	0.0035	—0.33672	+0.34022
12	24	0.0020	—0.33672	+0.33872
13	27	0.0000	—0.33672	+0.33672

After 27 minutes, the polarity of calomel electrode changes from negative to positive.

S.No.	Time	E_{cell}	$E_{calomel}$	$E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$
14	29	0.0025	+0.33672	—0.33422
15	30	0.0050	+0.33672	—0.33172
16	35	0.0075	+0.33672	—0.32922
17	41	0.0010	+0.33672	—0.33572

Continued

After 41 minutes, the polarity of calomel electrode changes from positive (+) to negative (—)

S.No.	Time in Minutes	E_{cell} (Volts)	$E_{calomel}$ (Volts)	$E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$ (Volts)
18	45	0.0065	—0.33672	+0.34322
19	50	0.0065	—0.33672	+0.34322
20	57	0.0130	—0.33672	+0.34972
21	60	0.0160	—0.33672	+0.35272
22	65	0.0230	—0.33672	+0.35972
23	70	0.0275	—0.33672	+0.36622
24	76	0.0350	—0.33672	+0.37172
25	81	0.0500	—0.33672	+0.38672
26	87	0.0640	—0.33672	+0.40072
27	90	0.0700	—9.33672	+0.40672
28	96	0.0780	—0.33672	+0.41472
29	100	0.0890	—0.33672	+0.42572
30	105	0.1000	—0.33672	+0.43672
31	110	0.1090	—0.33672	+0.44572
32	116	0.1195	—0.33672	+0.45622
33	120	0.1220	—0.33672	+0.45872
34	125	0.1265	—0.33672	+0.46322
35	130	0.1300	—0.33672	+0.46672
36	140	0.1340	—0.33672	+0.47072
37	150	0.1340	—0.33672	+0.47072

Note :—1. A graphical representation of these changes in e.m.f. i.e. $E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$ with time is shown in graph No. 3.

2. $E_{calomel}$ has a negative value for first 27 minutes, beween 27 to 41 minutes it is positive while $E_{calomel}$ acquires a negative value again after 41 minutes.

3. The formula used in the above calculations is

$$E_{cell} = E_{Pt-oxalic} + E_{calomel}$$

Discussion And Results

1. From an observation of graph no. 1, it is apparent that on exposure of N/15 oxalic acid solution to ultraviolet light the single electrode potential of half cell (platinum electrode dipped in oxalic acid solution) at 12°C. undergoes a variety of changes, which may be stated as follows :

(a) During the first ten minutes of exposure to U. V., the potential of half cell ($E_{Pt\text{-}oxalic}$) falls off very rapidly with time and attains a minimum value corresponding to an e.m.f. +0.49978 volt. It is also clear that there is a decrease in free energy of the process taking place in the cell but the value of this decrease in free energy (which is given by $-\triangle F = nfE$) falls off rapidly with time to attain a minimum value at 10 minutes.

(b) After 10 minutes exposure to U. V., the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ increases rapidly, so also the value of discrease in free energy also increases with it till at 20 minutes both the factors attain a maximum value.

(c) Beyond 20 minutes, the electrode potential falls to a value +0.50478 volt, then steadly decreasing upto 35 minutes and again reaching a minimum value corresponding to +0.49678 volt at 40 minutes.

(d) Between 40 and 55 minutes, the potential of half cell in the half cell in the initial stages rises slowly, records a maximum value and again decreases slowly to attain a value equal to +0.49678 volt at 55 minutes.

(e) Between 60–75 minutes, the rise in the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ is exponential in nature while sudden changes occur in $E_{Pt\text{-}oxalic}$ during the interval between 75 to 105 minutes. It is worthnoting that the rise in potential of half cell from 105 to 120 minutes is asymptotic in nature.

2. The graph No. 2 indicates the changes of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ with time when N/5 and N/10 oxalic acid solutions were exposed to U. V. radiations at 18°C. The fact that the value of electrode potential is dependent on concentration, is apparent from the nature of the graphs I and II.

The following facts may be stated based on a comparative study of graph I and II.

(a) During the first 15 minutes the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ decreases slowly and steadly in case of N/5 oxalic acid while in N/10 oxalic acid, the decrease in $E_{Pt\text{-}oxalic}$ and hence decrease in free energy, is more rapid. This is apparent from the values of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ viz +0.64642 volt (in N/5) and +0.55642 volt (in N/10 oxalic acid) at 15 minutes.

(b) Between 20—40 minutes, the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ decreases in an analogous manner in both the solutions but the values of potential of half cell are always lower in N/10 oxalic acid as compared to those in

N/5 oxalic acid. So we may conclude that the nature of change taking place in both the solutions between 20—40 minutes is nearly the same.

(c) A sudden decrease in $E_{Pt\text{-}oxalic}$ takes place in N/5 oxalic acid between 40—46 minutes (from +0.55792 volt to +0.45842) while this is not the case with N/10 oxalic acid. In the later case, a sudden decrease in $E_{Pt\text{-}oxalic}$ occurs between 45 and 55 minutes (from +0.49942 volt to +0.43442 volt). In both the solutions, $E_{Pt\text{-}oxalic}$ attains a minimum value at 55 minutes (+0.45542 volt in N/5 solution and +0.43442 volt in N/10 oxalic acid).

(d) It is remarkable that in both the solutions, the values of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ between 60—91 minutes are nearly the same. Hence we can easily say that the nature of change taking place in both the solutions under the effect of ultraviolet radiations is exactly the same. It is also very clear that the effect of concentration on the electrode potential of half cell diminishes to a considerable extent.

(e) In case of N/10 oxalic acid solution, the graph between changes in $E_{Pt\text{-}oxalic}$ with time is straight line from 65 to 120 minutes showing that a permanent change occurs at 65 minutes and exposure to ultraviolet radiations (of oxalic acid) has a very little effect on the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ beyond 65 minutes. This argument holds good in N/5 oxalic acid between 70 to 90 minutes (Please refer to table No. 1 and 2). Beyond 90 minutes $E_{Pt\text{-}oxalic\ acid}$ decreases exponentially in N/5 oxalic acid to attain a value +0.41442 volt at 120 minutes.

3. Photochemical after Effect in N/15 Oxalic Acid Solution

The single electrode potential, $E_{Pt\text{-}oxalic}$ was determined before exposure of N/15 oxalic acid solution to ultraviolet radiations. Then the solution was exposed to U. V. light for five minutes and solution was withdrawn and $E_{Pt\text{-}oxalic}$ determined. After withdrawing the solution from U. V. light E_{cell} was noted from time to time and hence $E_{Pt\text{-}oxalic}$ was determined. These changes in the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ with time have been represented in graph No. 3.

The following facts are born in mind from an examination of graph 3.

(a) From the beginning right upto 27 minutes, the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ decreases exponentially to attain a value equal to +0.33672 volt at 27 minutes which is equal to the electrode potential of decinormal calomel electrode at 13°C. i.e. the temperature at which the experiment was carried out. It is remarkable and worthnoting that after 27 minutes from the withdrawal of the solution from ultraviolet light, the value of E_{cell} attain a zero value which means that the decrease in free energy of the change occuring in the cell is equal to zero ($-\Delta F = nFE$).

(b) After 27 minutes, the polarity of calomel electrode had to be changed from negative to positive. The value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ suddenly decreases from +0.33672 volt at 27 minutes to —0.33422 volt at 29 minutes. After 29 minutes $E_{Pt\text{-}oxalic}$ again rises very slowly, attains a

maximum at 35 minutes corresponding to —0.32922 volt and again decreases slowly to reach a value —0.33572 volt at 41 minutes.

(c) After 41 minutes the polarity of calomel electrode had to be changed from positive to negative. The value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ increases rapidly from—0.33572 volt at 41 minutes to +0.34322 volt at 45 minutes. The curve between $E_{Pt\text{-}oxalic}$ with time reveals a periodicity between 27 to 45 minutes, a remarkable fact which had been observed.

(d) After 50 minutes, the increase in the value of $E_{Pt\text{-}oxalic}$ is asymptotic in nature and hence decrease in free energy of the process taking place in the solution is also asymptotic in behaviour.

Conclusion

The results obtained by us during our investigation of the effect of ultraviolet radiations (having wavelengths except 2527 A°) on oxalic acid solutions under different conditions clearly hint towards the fact that a definite and interesting mechanism has been involved behind these changes of single electrode potential of half cell (platinum electrode dipped in oxalic acid solution) viz $E_{Pt\text{-}oxalic}$ with time. It is presumed that a calculation of decrease in free energy of the process taking place in the cell $(-\triangle F)$ and change in heat content i. e. $\triangle H$, would be possible, with the help of a study of these changes in e.m.f. under the influence of ultraviolet light. It is also hoped that the study of the influence of ultraviolet light in solutions and thereby determining the single electrode potentials by constructing suitable half cells, will unveil many hidden facts about the reaction mechanism, which are complex in nature and yet to be discovered. However, a suitable mechanism responsible for the above changes shall be dealt with, in our subsequent publications of this problem.

Acknowledgement

The authors are grateful to Dr. C. B. L. Gupta, Principal, Th. D. S. B. Government College, Naini Tal., for providing research facilities during the course of this investigation.

References

1. Hitchcock and Taylor, J. Amer. Chem. Soc. 1937, 59, 1812.
2. Mac Innes, Belcher and Shedlovsky, Ibid, 1938, 60, 1094.
3. Vigorcaux and Webb, Principles of electrical and magnetic measurements.
4. Allen, A. O., Hochanadel, C. J., Ghormley, J. A., and Davis, T. W., J. Phys. Chem., **56,** 575 (1952).
5. Ganguly, A. K., and Magee, J. L., J Chem. Phys. 25, 129 (1956).
6. Hochanadel, C. J., Comparative effects of radiations, 151 (Burton, M., et. al., Eds., John Wiley and Sons, Inc., New York, N. Y. 1960).
7. Laidler, K. J., Chem. Phys., 22, 1740 (1954).

8. Lea, D. E., Actions of Radiations on living cells (Cambridge Univ. Press, Cambridge, England, 1957).
9. Schwarz, H. H. A., Caffre, J. M., Jr., and Scholes, G., J. Am. Chem. Soc., **81**, 1801 (1959).
10. Weiss, J., Nature, **165**, 728 (1950).
11. Discussion Faraday Soc., **27** (1959).

———

Survey of Fungal-Disease in the locality of Nainital

by R. D. Khulbe

Introduction

Nainital town is located in temperate region of Kumaon, with its altitude about 7000′ from sea level. It is about 40 k. m. from Haldwani. It is surrounded by dense forest and various dominant gymnospermous plants and various herbs. Mainly there is no agricultural crops in the locality of this town due to physiographic factors. But some important villages are situated near this town which are famous for various crops. Potato, Peas, Apple, Peach, Crucifers, Rice, Wheat, and many vegetables are cultivated in Khurpatal, Bhimtal, Ramgarh, Buggarh, Garampani, Jyolikot etc.

I observed various diseases in crops and wild plants in Nainital locality. Some important diseases are as follows—

Diseases of Crop Plants

(1) **Wart-Disease of Potato** :—

Potato (solanum tuberosum) is a member of Solanaceae and a chief commerical crop in this area. It is cultivated in Khurpatal, Bhowali, Garampani, Buggarh etc. during rainy season. It is annual herb.

Wart disease is caused by the fungus Synchytrium endobioticum. It is an obligate parasite. Many warts develop in buds, stem, stolon, tubers. Warts are green or greenish white early and dark black in advanced stage.

(2) **Late-Blight of Potato** :—

This disease is caused by the fungus Phytophthora infestens. Brown dead spots to black lessiom appear at the tip or margin of the leaves. In advanced stage black masses of aerial sporangiophone seen on the underside of leaves. This disease appeared after the blossoming period of Potato, mainly during late rainy season.

(3) **White-Rust of Crucifers** :—

Various species of crucifers are cultivated in the area of Khurpatal Bhowali, Bhimtal etc. and house gardens of Nainital town as—

Raddish (Raphanus sativus)
Brassica (Brassica campestris)
Cabbage (Brassica oleracea)

In Nainital locality crucifers mainly cultivated during winter and summer season. Crucifers are common vegetables rich in vitamins and minerals.
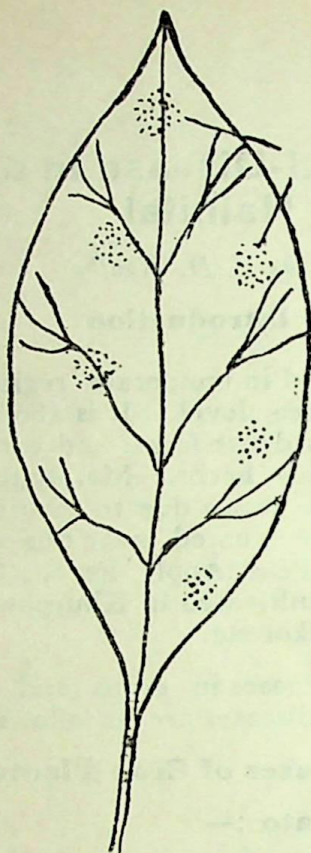
White-Rust Of Crucifers
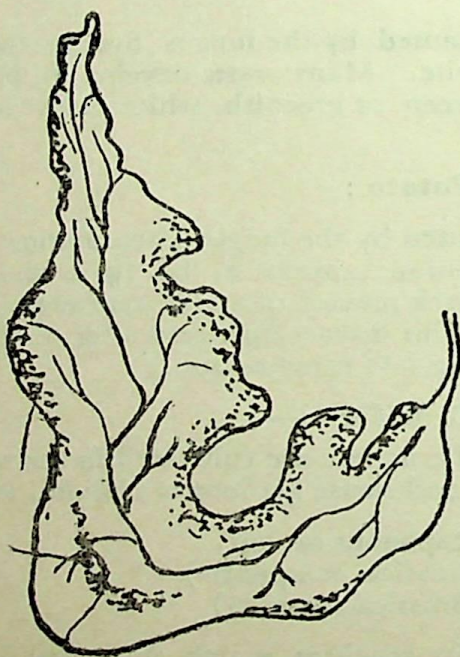
Leaf-Curl Of Peach

White-Rust is caused by the fungus Albugo-candida, is an obligate parasite. Every part of the host except roots shows symptoms. White pustules appear on the leaves and stem. Pustules are variable in shape. In floral parts hypertrophy is seen. These are variously modified and distorted.

(4) **Downy-Mildew of Pea :—**

The Pea (Pisum sativum) is common in Buggarh area. It is cultivated during rainy season. The downy mildew is caused by the fungus Peronospora pisi.

During early stage of infection yellow to brown patches appear on the ventral surface of leaves. But in later stage greyish, violet downy layers of conidiospores formed. Symptoms also seen in some pods and the growth of infected plants reduced.

(5) **Leaf-curl of Peach :—**

The Peach (Prunus persica) is common cash fruit crops in Bhowali, Bhimtal, Ramgarh, Jyolikot etc. The Peach is perennial fruit cultivated in various temperate region of Kumaon.

This disease is caused by the fungus Taphrina deformans. Disease appears during spring season. Leaves become thickened, puckered, curled down words and distorted. In advanced stage leaves become fleshy and whitish due to formation of asci.

(6) **Powdery-Mildews of Cucurbits :—**

Several species of cucurbits as Pumpkin (Cucurbita maxima) etc are cultivated in private gardens of Nainital locality.

This disease is caused by Erysiphoe-cichoracearum. Disease appeared during August. White powdery masses formed on leaves and stems.

(7) **Black-Rust of Wheat :—**

Wheat (Triticum vulgre) is cultivated in Bhimtal area. This disease is caused by the fungus Puccinia graminis tritici.

In early stage brown to black pustules on stalk, leaf sheath and leaves. In advanced stage these pustules (uredia) burst and black uredospones dispersed out, in later stage uredospones are replaced by teleutospones.

(8) **Rust of Pea :—**

The rust of Pea (Pisum sativum) observed in Buggarh area where it is cultivated in large scale. This disease is caused by the fungus Uromycer fabae. During late rainy season dark brown or black pustules of uredospones or teleutospones appeared on leaves, stem, petioles, tendril and in some pods also.

(9) **Loose-Smut of Wheat :—**

Loose-smut is a destructive disease caused by Ustilago tritici. It reduces crops yield.

The inflorescence of host is converted into black man of spones (Smut-spones) and no seed formed. Smut spones are brown to black, light, spherical and are dispersed by wind.

Disease caused by Fungi-Imperfecti

(1) Early-Blight of Potato :—

This disease in caused by Alternaria solani. It appear during early rainy season. It is destructive disease.

There are many irregularly scattered pole, brown spots appear on the leaves. In advanced stage spots become concentric and cause death of leaver. Petiole and stem are also affected in severe cases.

(2) Bacterial-Disease of Potato :—

Brown-Rot of Potato :—

This disease is caused by the bacterium Pseudomonas solanacearum. It is destructive disease. The pathogen cause chlaresis of foliage margin, vascular bundles become brown.

(3) Virus-Disease of Potato :—

This disease is observed in Garampani area. It is caused by. Potato-virus—X. Leave become yellow, brown, white coloured. Growth of plants is also reduced. In some plants leaves become matteled, wrinkled, puckered, reduced and plant becomes dwarfed.

Diseases of Wild-Plants

(1) Wart-Disease of Urtica(Bichchhu buti) :—

Urtica species is a common perennial herb or undershrub with stout stingings spines. It belongs to family—Utricaceae. It is important for its stem fibres. It is distributed throughout the Nainital forest. I observed many warts in the stem and petiole in September. This disease is caused by Synchyrium Species.

(2) Powdery-Mildew of Rose :—

Rose is a common perennial garden ornamental shrub. It belongs to family Rosaceae. This disease is caused by the fungus Sphaerotheca pannosa. Many white powdery masses of cleistothecia appeared around the spiner of stem. Symptoms appear during rainy season.

(3) Rust-Disease of Rubus :—

Rubus biflorus is a perennial shrub of Rosaceae is common in Nainital forest. Rust disease is caused by the pathogen Phragmedium species. Many brown, black spots are formed on the underside of leaves. These black spots are masses of teleutospones. I observed their disease in the month of March in some bushes near D. S. B. Government College road.

(4) Rust of Indigofera pulchella :—

Indigofera pulchella is a perennial shrub of Papilionaceae. It is mainly found in Anyarpata forest.

Rust of this plant is caused by the fungus Revenalia species. Many black spots take place due to the formation of black teleutosporer. Disease appears during October.

(5) **Rust of Desmodium Laxiflorum :—**

Desmodium plant is commonly found in Anyarpata forest. It belongs to family Papileonaceae. Rust of this plant is caused by the fungus Uromycer species. Many black patches appear on the dorsal surface of leaves. Disease is severe in October.

(6) **Rust of Colquhounia Coccinea :—**

This plant is distributed throughout the Nainital forests. It is perennial shrub having red flower. It belongs to family Labitae.

Rust of this plant is caused by the fungus Uropyxis species member of family Pucciniaceae. Disease is common in October and November. Many black spots of teleutospones appear on both the side of leaves. Teleutaspones are two celled, oval short stalked.

(5) **Hypertrophy of Rhododendron :—**

Rhododendron is a dominant angiospermic plant in Nainital forest found at an attitude of above 6000′. This disease is caused by the fungus Exobasidium species.

Swelling of leaves cells take place due to hypertrophy of the host cells. I observed this disease in September 1971 from the forest of Kilbury.

Beside these above diseases, many other diseases are in wild and crop plants which are still unsurveyed. I shall try to survey more in this field.

Acknowledgement

Grateful thanks to Prinicipal and Head of the Department for arrangement of local excursion tour and suggestion.

References

Mundkur., B. B.—Fungi and Plant Disease.
Singh, R. S.—Plant Disease.
Rangaswami, G.—Bacterial Plant Disease in India.
Sudhir Chowdhury—Plant Disease. Their cause and Control.
Bankroft Keith—A Handbook of the fungus Disease of West Indian Plants.
Alexopoulos, C. J.—Introductory Mycology.

Studies on the Structure of the Eyes of a Hill Stream Teleost, *Schizothorax richardsonii* (Gray & Hard)

Jitendra S. Bisht

The study of visual organs in fishes started receiving attention as early as 1885 and since then, notable contributions have been made on the morphology and physiology of the eye by numerous workers. Among the important contributors mention may be made of the following : Young (1933b), Krause (1934), Walls (1942), Langham (1952) and Karandikar and Thakur (1954).

Materials And Methods

Fishes of small size i. e., 3 to 3.5 cms. were caught afresh, killed and fixed in aqueous Bouin's fluid for 24 to 26 hours and then kept in decalcifying fluid till their bones became soft. Thereafter, the portion of the fish containing the eye was embedded, sectioned at 9 to 12 micron and stained in haematoxylin-eosin, iron haematoxylin and Mallory's triple stain. The sections were examined serially.

Observations

The eyes are large, globular ball-like structures, bulging on either side of the head, and occupying almost the whole of the eye socket. The eye-ball is externally covered over by a thin, transparent, circular cornea (Fig. 1), which remains attached to the skin folds. The eye lids are entirely absent in this species. The eyes are kept in position by three pairs of muscles, which also help in synchronized rotation of the eyes within the orbit.

Histology

The eye wall (Fig. 1) is composed of three main layers viz., an outer most sclerotic layer, the middle choroid layer and the inner most retinal layer.

The sclerotic layer (Fig. 1)—The transparent cornea is continuous on the inner side with a tough, flexible and opaque envelope, the sclera. The sclera or the sclerotic layer consists of connective tissue of fibrous nature and an inner band of cartilage. The sclera help in maintaining the original shape of the eye by resisting distention, caused by internal ocular pressure.

The chorid (Fig. 1)—The highly vascularised and pigmented choroid is made up of three layers, an outer argentea, a middle vascular and the innermost pigmented layer. Towards the outer side of the eye-ball the choroid coat bends inwards to form a circular curtain, the iris. The iris is highly vascularised and pigmented, having a central opening, the pupil which is incapable of expansion and contraction in this species. There is present a reddish glandular mass of capillary
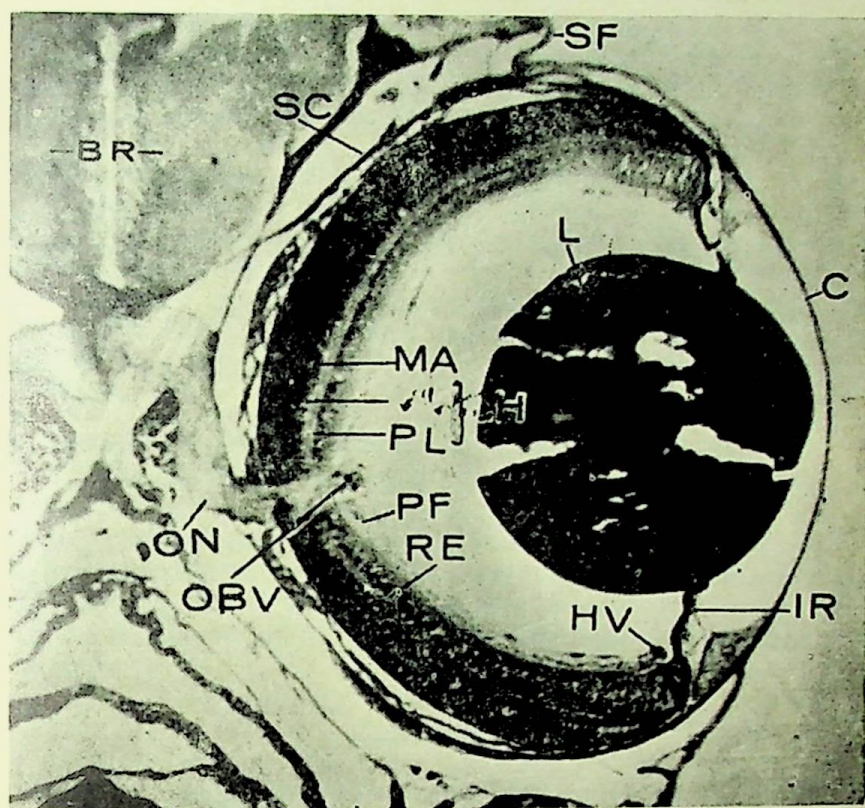
Fig. 1. Photomicrograph of the transverse section passing through the head of *S. richardsonii*, showing structure of the eye.x70.

BR, brain ; C, cornea ; CH, choroid layer ; HV, hyaloid vessel ; IR, iris ; L, lens ; MA, membrana argentia ; OBV, opthalmic blood vessel ; ON, optic nerve ; PF, processus falciformis ; PL, pigment layer ; RE, retina ; SC, sclera ; SF, skin fold ; VL, vascular layer.

network called the choroid gland near the point of entrance of the optic nerve into the choroid.

Owing to the presence of a circular curtain—the iris, the cavity of the eye-ball is divided into two unequal chambers. The smaller anterior chamber in between the cornea and the iris, enveloping one third of the lens, is filled with a saline solution, the aqueous humor. The posterior chamber is larger than the anterior chamber and is filled with vitreous humor—an almost gelatinous matrix. These two fluids are of greater importance in the fish eye, because here the focussing is done by advancing or retracting the lens.

The lens (Fig. 1) is spherical, consisting of concentric layers and is a mass of transparent cells, which are devoid of nerves and blood vessels. There is a system of hyaloid blood vessels (Fig. 1) which are distributed along the inner surface of the retina, most probably the hyaloid vessels are nutritive in function for the falciform process. The latter is a membranous structure spreading along the retinal lining. The tapetum and the retractor lentis or companula Halleri are absent in this species.

The retina (Fig. 1)—The retina is the seat of photoreception. The open margin of the thick cup-shaped retina reaches as far as to the base of the iris. Retina is also composed of three layers, an inner layer having large ganglionic cells and terminal fibres of the optic nerves, a middle dense granular layer and the outermost layer consisting of rods and cones resting on the pigment layer of the choroid. Fibres of the optic nerve pierce the middle layer of the innervate the rods and cones of the retina.

Discussion

The paired eyes are quite large in *S. richardsonii* and consist of almost all the structures, found in a typical teleostean eye and like most of the fishes they are lidless. The eyes of this fish to some extent resemble with the eyes of *S. brunneus* (Karandikar and Thakur, 1954).

Krause (1934) has described that the cornea is a vascular tissue, receiving its nourishment from the intra ocular fluid. According to Duane (1949) and Langham (1952) the cornea of aquatic and hibernating mammals is resistant to low oxygen and the appearance of vitreous humor in the form of gelatinous matrix, is due to the putrin secreted by the retina during development.

Walls (1942) suggests that the secretory nature of the pupil is probably the source of the aqueous humor. He further states that the choroid gland probably helps in smoothening out the blood pressure pulses from the heart, thus eliminating mechanical disturbances of the retina. Lindeman (1943) states that the retina is the seat of photoreception and is highly sensitive to oxygen. In the absence of muscles from the iris, and as such in the immobility of the pupil, the fish under study shows resemblance to *Lepisosteus* while it differs from the flat fishes and eels, studied by Young (1933b), wherein the pupil of the fishes has been reported to be capable of contraction. Further more, in the absence of retractor lentis and in the presence of a system of

hyaloid blood vessels, the eye of *S. richardsonii* shows marked resemblance to the eye of eels and anglers.

Summary

1. The paired eyes are large, globular, ball-like structures. The outer exposed surface of the eye is covered over by a thin transparent cornea. The eyelids are totally absent. The wall of the eye is made of three layers, an outer most sclera, a middle choroid and the innermost retina. The choroid on bending inwards forms a circular curtain, the iris. The cavity of the eye is distinguished into a short anterior and a large posterior chamber, the former being filled with aqueous humor and latter with gelatinous vitreous humor. The spherical lens is composed of concentric layers and is without nerves and blood vessels. The tapetum and the retractor lentis are absent. The retina is made of three layers and is the seat of photoreception.

Acknowledgements

The author is grateful to Dr. R. K. Dixit, Head of the Zoology Department for encouragement, guidance and help.

Literature Cited

Duane, T. D. 1949. Arch. Ophthalmol. 41 : 736–749.
Karandikar, K. R. and Thakur, S. S. 1954. Univ. Bombay, Zoological Memoirs, 3 : 83–84.
Krause, A. C. 1934. 'The biochemistry of the eye'. Johns Hopkins Press, Baltimore. : 264.
Langham, M. 1952. J. Physiol (London), 117 : 461–470.
Lindeman, V. P. 1943. Am. J. Physiol. 139 : 9–16.
Walls, G. L. 1942. 'The vertebrate eye'. Cranbrook Institute of Science, Michigan, : 785.
Young, J. Z. 1933b. Proc. Roy. Soc. B112 : 242–249.

Preliminary studies in heat induced changes in aqueous solution of cysteine

H. D. Pathak & K. N. Mathpal

The action of heat on sterilized aqueous cysteine solutions studied for various periods upto 30 hr, gave eleven (I–XI ; Fig 1C, 94°C) chromatographically distinguishable and ninhydrin positive products irrespective of the presence or absence of sensitizers. Of these six were identified as aspartic acid (III), glycine (IV), glutamic acid (V), alanine (VIII), n–amino–butyric acid (IX) and valine (X). The rate of heat initiated degradation of cysteine and quantitative yield of the resulting products retarded on prolonging the duration of the effect of heat on cysteine solution. The results show that under thermal conditions cysteine gets degraded giving mainly other amino acids.

The effect of heat and radiations on amino acids have recently been investigated by a few workers from several view points. Fox and coworkers have shown the synthesis of peptides by heating amino acids at elevated temperatures [1,2]. Perti, Bahadur and Pathak [3,4,5,6] were able to identify other amino acids and peptides by UV or sunlight irradiation of amino acid solutions both in the presence or absence of sensitizers. Ponnamperuma[7] et al. have also shown the formation of peptides both under thermal as well as UV irradiation of amino acids. Synthesis of amino acids by applying heat or radiation to simulated primary substances of early reducing atmosphere of the prebiotic Earth have also been reported[8,9]. However data concerning thermolysis of amino acids under a variety of conditions are lacking. The present investigation was carried out with a view to note the kind of reactions that occur and the nature of the products formed at various temperatures.

Material and Method :—

The pyrex glass reaction vessels (pre-heated at 250°C for 5 hr, 150 ml capacity fitted with water condenser) containing aqueous cysteine solutions (0.1 g/100 ml ; BDH, EM) were immersed in a constant temperature water bath at different temperatures (30°, 60° and 90°C ; altitude 6500′) for various periods upto 30 hr both in the presence and absence of sensitizers. Portions of the reaction mixtures, taken out periodically and freed of organic or inorganic sensitizers as described earlier [10,11,12,13], were concentrated in vacuum evaporator and analysed chromatographically on whatman no. 1 paper (descending and two dimensional, and circular, 10.5 diameter) and also by thin-layer chromatography (silica gel 0.5 mm) using butanol-acetic acid-water (4 : 1 : 1, vol/vol ; 9 : 1 : 1, vol/vol ; 4 : 1 : 5, vol/vol, upper phase), n-butanol-acetic acid-pyridine-water (15 : 3 : 10 : 12, vol/vol) and phenol-water (80 : 20, wt/vol) as solvent systems and ninhydrine[14] (0.1 g/100 ml acetone), isatin[15] (0.2 g/100 ml. butanol mixed with 4% acetic acid), alloxan[16] (0.2 g/100 ml acetone), Folin's reagent[17] (0.02% 1–2 naphthaquinone–4–sulphonate in 5% aqueous sodium carbonate and o–phthaldehyde[18] (0.2 g/100 ml acetone) as reagents for detection. The provisionally identified products were further characterized by compa-

ring with authentic amino acid reference standards, coincidence chromatography and also by chemical and spectral methods. UV-absorption of product III, IV, VIII, IX, and X was taken in spectrophotometer and the progressive destruction of the solute and the quantitative yield of the resulting products were determined in universal colorimeter (model VI) at 570 mμ. Dinitrophenylation of products III, IV, V, VIII, IX and X was carried out as described earlier [10,11,12,13] and the resulting DNP–derivatives of these were characterized by their comparison with authentic DNP–amino acids, Rf values, mp, coincidence chromatography and also by noting their characteristic fluorescence under UV-light (3650 A°, black light lamp).

Results and discussion :—

The products of the effect of heat on cysteine were investigated by chromatography (fig 1A, 1B, 1C) and also by taking absorption spectra of the irradiation products. The results shown in table 1 (94°C) and illustrated in figs 1A, 1B and 1C also show that the effect of heat on cysteine results in its degradation to other amino acids irrespective of the duration of heat applied and sensitizers used. Cysteine gets degraded considerably even at relatively low temperature (30°C, fig 1A, a_1 ; Cf 94°C, fig 1C, a_1–f_1), While the presence of fluorescein (fig. 1C, f and f_1,) colloidal MoO_3 (Fig 1C, d and d_1), methylene blue (1C, c and c_1) and ammonia (fig 1C, b and b_1) accelerated the heat induced degradation of cysteine, colloidal iron oxide inhibited it (fig 1C, e and e_1). Products II, III, IV, V, VI, VIII, IX and X were formed in relatively higher amounts even in aqueous cysteine solution (fig 1C, a and a_1) as compared with colloidal Fe_2O_3. Out of the eleven products detected, ten products (except 1) were invariably formed in the presence of methylene blue, fluorescein, colloidal MoO_3 and ammonium hydroxide (fig 1C) but in the presence of ammonium hydroxide, their percent yield decreased considerably on prolonging the duration of the effect of heat (1 hr, fig 1C, b ; 30 hr, fig 1C, b_1).

Time-lapse degradation of cysteine in thermal waters (94°C) was effected upto 30 hr and the percent destruction of the solute and yield of the products (table 3) were followed colorimetrically. Cysteine was degraded to the extent of 96%, 88.8%, 87.5%, 94% and 72.2% respectively is the presence of ammonium hydroxide, fluorescein, methylene blue, colloidal MoO_3 and colloidal Fe_2O_3. In aqueous solution its percentage destruction was 89.5%.

Of these eleven new products, products III, IV, V, VIII, IX, and X formed relatively in good amounts, were investigated by the UV spectra and some specific chemical tests. All these products gave single sharpe absorption between 1900 and 3000 A° having a λmax. between 2000—2200A°. The absorption spectra of these compounds III (λmax. 2120A°), IV (λmax. 2130A°), V (λmax. 2100A°), VIII (λmax. 2140A°) IX (λmax. 2120A°) and X (λmax. 2160A°) which were provisionally characterised (table 2) as aspartic acid, glutamic acid, glycine, alanine, n-amino butyric acid and valine respectively due to the resemblance of their colour reactions, mobility factor and co-chromatography with these of the authentic amino acids, showed perfect coincidence between the authentic standard and products of heat induced degradation. These products were further characterised by their dinitrophenylation
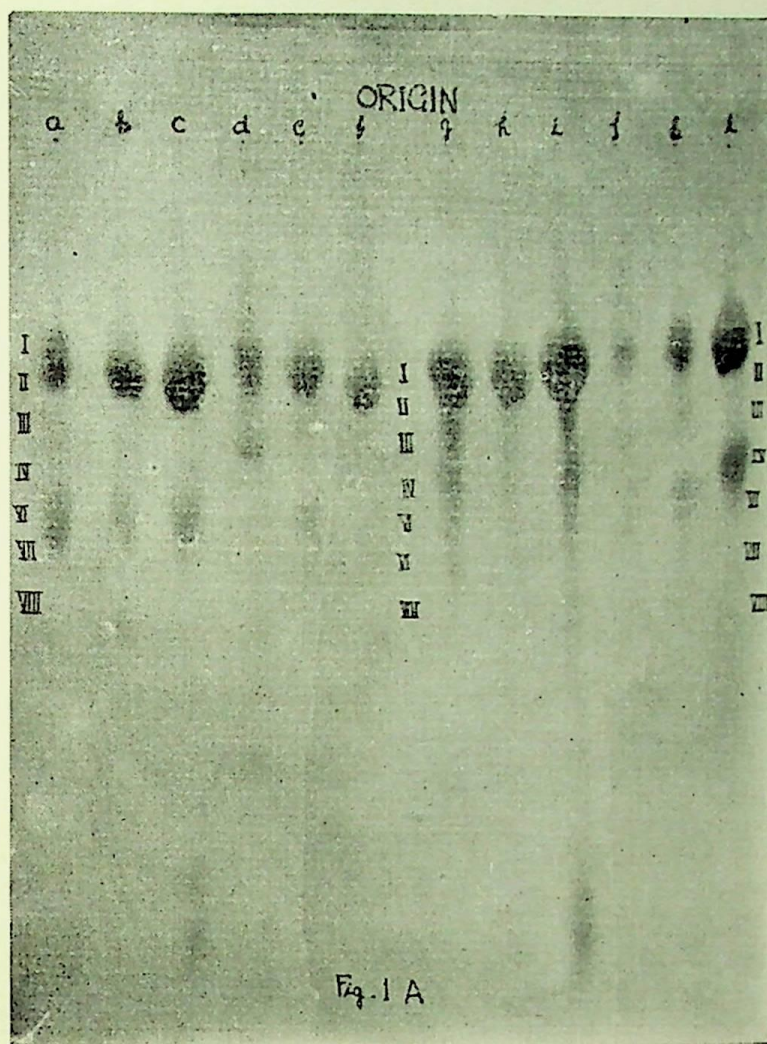
Fig. 1A—Chromatogram of the products formed by the action of heat (30°C) of cysteine solution (a and g, products thermal degradation in the presence of air ; b and h ammoninm hydroxide solution ; c and i, methylene blue ; d and j, colloidal MoO_3 ; e and k, colloidal Fe_2O_3 ; f and l, fluorescein.

Fig. 1B—Chromatogram of the products formed by the action of heat (60°C) (a and g, products of the thermal degradation in the presence of air ; b and h, ammonium hydroxide solution ; c and i, methylene blue ; d and j, colloidal MoO_3 ; e and k, colloidal Fe_2O_3 ; f and l, fluorescein). The ten spots of this fig. corresponded with those of fig. 1A.
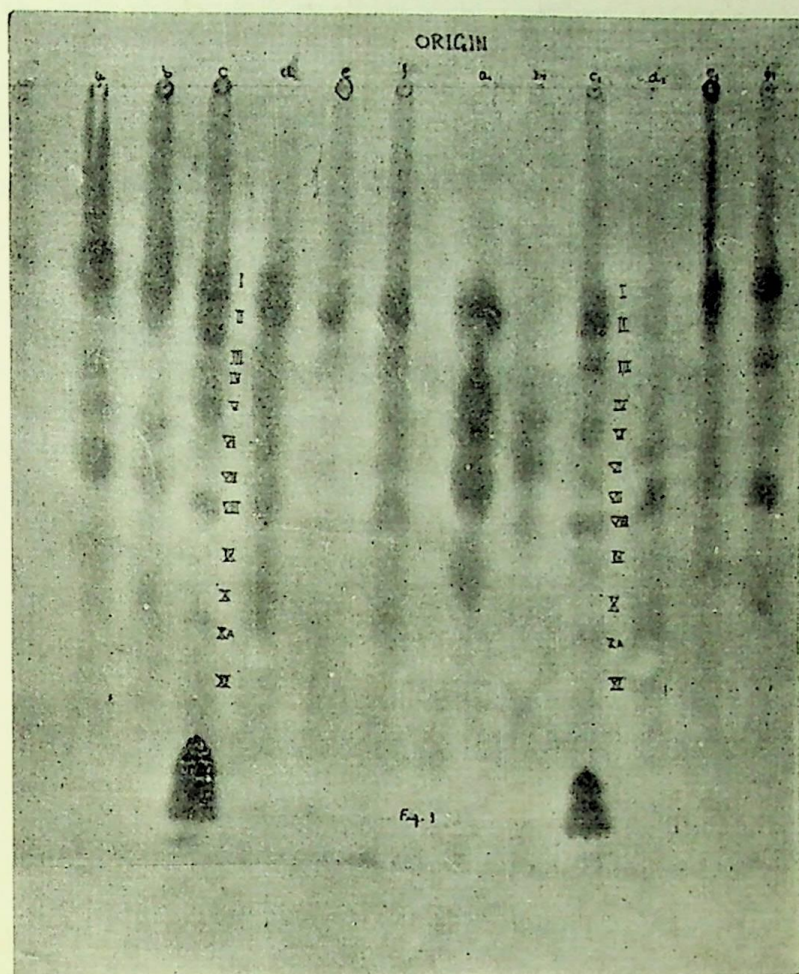
Fig. 1C—Chromatogram of the products formed by the action of heat (94°C) (a and a_1 products of thermal degradation in the presence of air ; b and b_1 ammonium hydroxide solution ; c and c_1 methylene blue ; d and d_1 colloidal MoO_3 ; e and e_1 colloidal Fe_2O_3 ; f and f_1, fluorescein). The ten spots of this fig. corresponded with those of fig. 1A and fig. 1B.

and comparison of their DNP derivatives with authentic reference DNP standards as described in our earlier communications.[10,11,12,13] The results shown in this communication thus show that in thermal water cysteine gets degrated progressively forming mainly other amino acids.

The authors are grateful to Dr. C. B. L. Gupta, D. Phil, D. Litt., Principal and Dr. A. K. Sinha, D. Phil, Professor of Chemistry for providing necessary research facilities. One of us (HDPP) is thankful to the U. G. C. for providing financial support in carrying out these investigations.

References

1. Fox, S. W. and Harada, K., 82, J. Am. Chem. Soc. (1960), 3745.
2. Harada, K. and Fox, S. W., The Origin of prebiological system (Academic Press, New York and London) 1965, 187–193.
3. Perti, O. N., Bahadur, K. and Pathak, H. D., Indian J. Appl. Chem., 25, (1962), 90.
4. Perti, O. N., Bahadur, K. and Pathak, H. D., Biochimia, 27(4) (1962), 708.
5. Perti, O. N., Bahadur, K. and Pathak, H. D., Proc. Natn. Acad. Sci. India, 30A, (1961), 206.
6. Perti, O.N., Bahadur, K. and Pathak, H. D., Agra Univ. J. Res. 10(2) (1961), 265.
7. Ponnamperuma, C., Science, N. Y., 147 (1965) 1512.
8. Calvin, M., "Chemical Evolution" (Univ. of Oregon Press, Engene, Oregon), 1961.
9. Orc, J., Nature, 197, (1963a), 862.
10. Pathak, H. D., Pant, H. C. and Mahendra Pal, Indian J. Biochem. 5, (1968), 65.
11. Pathak, H. D. and Khetwal, K. S., Indian J. Biochem., 7 (1970), 211.
12. Pathak, H. D. and Joshi, P. C., Indian J. Biochem., 7 (1970) 196.
13. Pathak, H. D. and Mathpal, K. N., Indian J. Biochem. December issue (1970).
14. Smith, I, Chromatographic and electrophoric technique, vol. I (Halemann and Interscience Publishers Inc. New York), 1960, 183.
15. Newcrytyo, J. and Sarnacka—Killer, N. Acta Biochem., Pct. 2 (1965), 91.
16. Saifer, A. and Oreskes, I., Analyst Chem., 28, (1956), 501.
17. Giri, K. V. and Nagabhusanum, A., Naturwissenschaften, 39 (1952), 548.
18. Hais, I.M. and Macek, K., Paper Chromatography (Academic Press, Inc., London), 1963, 810.

Table—1

Effect of heat on aqueous solution of cysteine under heterogenous conditions (94°C)

Reaction Mixture	Time	Products of thermal degradation													Fig reference
		IA	I	II	III	IV	V	VI	VII	VIII	IX	X	XI	XII	
Cyst+W		—	+++	++	+	++	++	++	+++	—	+	+	T	T	Fig 1C,a
Cyst+W+AmOH		—	+++	++	T	+	++	++	++	—	T	++	+	T	Fig 1C,b
Cyst+W+MB	1	—	+++	++	+	++	++	+	—	++	—	—	+	+	Fig 1C,c
Cyst+W+MO		—	++	++	+	+	++	+	++	++	+	++	+	+	Fig 1C,d
Cyst+W+FO		—	++	++	+	T	—	—	—	T	—	—	T	T	Fig 1C,e
Cyst+W+FL		—	++	+++	++	+	++	++	+	+++	+	+	++	T	Fig 1C,f
Cyst+W		—	++	+++	+	+++	+++	+++	+++	+	++	+	T	T	Fig 1C,a_1
Cyst+W+AmOH		—	T	T	+	+	++	++	+	+	T	T	—	—	Fig 1C,b_1
Cyst+W+MB	30	—	++	+++	++	+	++	+	—	++	+	T	+	T	Fig 1C,c_1
Cyst+W+MO		—	+	++	++	+	—	++	++	—	T	++	+	+	Fig 1C,d_1
Cyst+W+FO		—	++	+	+	+	+	+	T	+	+	T	T	+	Fig 1C,e_1
Cyst+W+FL		—	+++	++	++	+	+	—	+++	+	T	+	—	—	Fig 1C,f_1

Cyst, Cysteine ; AmOH, ammonium hydroxide ; W, water ; MB, methylene blue ; MO, colloidal MoO_2 ; FO, Colloidal Fe_2O_3 ; FL, fluorescein ; —, not detected ; T, trace amount ; +, low yield ; ++, moderate yield ; +++, good yield.

Table—2

Properties of the heat induced degradation of aqueous cysteine solution

Reagents	Products of thermal degradation												
	IA	I	II	III	IV	V	VI	VII	VIII	IX	X	XA	XI
Rf*	0.091	0.1	0.12	0.153	0.18	0.23	0.25	0.26	0.28	0.36	0.45	0.5	0.53
Colour with ninhydrin	LV	VR	LV	DV	BV	BV	BV	BV	LV	LV	LV	BV	BV
Alloxan	—	Pr	Pr	LPr	LPr	LPr	—	Pr	LR	LR	LR	LR	—
Isatin	—	LPr	LV	LR	PrV	LR	—	—	LV	LR	—	LR	LR
Folin's reagent	Gr	BIR	Gr	Rh	G	BIG	BIG	G	BIG	G	BIG	Gr	—
Fluorescence	W	W	W	VW	VW	VW	W	W	VW	VW	W	VW	VW
Solubility in ether	ins.	ins.	ins.	ins.	ins.	ins.	—	—	ins.	ins.	ins.	ins.	—
Rf† DNP derivatives	—	+	—	0.04 M.P. 180°C.	0.42 M.P. 200°C	+	—	—	+	0.3 M.P. 130°C	0.68 M.P. 1[illegible]3°C	—	—
Vanillin	—	—	—	YO	YR	—	—	—	Y	Y	—	—	—
Amino acids Identified	—	cysteine	--	aspartic acid	glycine	glutamic acid	—	—	alanine	n-amino butyric acid	valine	—	—

*Solvant system, butanol-acetic acid-water-pyridine (15 : 3 : 12 : 10, vol/vol) at 6°+3°C.
†Solvent system, pyridine-isoamyl alcohol-1.6 N ammonia (6 : 14 : 10, vol/vol) at 18°$\pm$2°C.

L, light ; V, violet ; R, red ; Rh, reddish ; Pr, purple ; B, blue ; Bl, Bluish ; Y, yellow ; G, green ; Gr, greenish ; W, white ; D, dark, O, orange; ins., insoluble ; +, positive test ; —, not detected.

Table—3

Quantitative yield of the main products formed by the action of heat on aqueous cysteine solution (94°C)

Percentage degradation (30 hr)		Percentage yield (30 hr)						
Reaction Mixture	percent degradation	II	IV	V	VI	VIII	IX	X
Cyst+W	89.5	14.50	17.3	14.5	14.0	17.30	6.0	–
Cyst+W+AmOH	96.0	3.50	5.0	5.5	8.0	6.3	–	–
Cyst+W+MB	88.5	15.10	7.40	9.3	7.0	8.0	4.0	6.0
Cyst+W+MO	92.0	4.30	7.0	5.5	10.5	9.0	6.2	5.1
Cyst+W+FO	72.2	5.00	5.80	4.6	2.0	–	2.5	–
Cyst+W+FL	88.8	8.30	8.40	9.1	6.2	16.0	3.0	5.50

Cyst., cysteine ; W, water ; AmOH, ammonium hydroxide ; MB, methylene blue ; MO, colloidal MoO_3 ; FO, colloidal Fe_2O_3 ; FL, fluorescein ; —, not detected.

संरक्षक

डा० छैलबिहारी लाल गुप्त

प्रधान सम्पादक

डा० कृष्णकुमार

फार्म ४

१.	प्रकाशन का स्थान	ठा० देबसिंह बिष्ट राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल
२.	प्रकाशन की अवधि	वार्षिक
३.	मुद्रक का नाम	नरेन्द्र कुमार
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	मूना मुद्रण केन्द्र, साहूकारा, बरेलो
४.	प्रकाशक का नाम	डा० छैल बिहारीलाल गुप्त
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	ठा० देवसिंह बिष्ट राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल
५.	प्रधान सम्पादक का नाम	डा० कृष्णकुमार
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	ठा० देवसिह बिष्ट, राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल
६.	उन व्यक्तियों के नाम व पते, जो कि पत्रिका के स्वामी हैं, अथवा कुल पूँजी के एक प्रतिशत से अधिक के भागीदार हैं।	कोई नहीं

मैं छैलबिहारी लाल गुप्त, घोषणा करता हूँ कि ऊपर के सब तथ्य, जहाँ तक मेरी जानकारी है, सत्य हैं।

छैलबिहारी लाल गुप्त
प्रधानाचार्य
ठा० देबसिंह बिष्ट राजकीय महाविद्यालय
नैनीताल